धन्यवाद ॥

सज्जन सुहृद्वरो ! निज मंडली सहित स्वाध्याय करतेहुए जिन महानुभाव का चित्र आप देख रहे हैं, उन सुप्रसिद्ध दानवीर सेठ **हुकमचन्दजी** का जन्म आषाढ़ शुक्ला १ संवत् १९३१ को हुआ था. आप श्रीमान सेठ **सरूपचन्दजी** के भाग्यशाली इकलौते-पुत्र हैं. आपकी जाति खंडेलवाल, और गोत्र काशलीवाल है.

आपने तीन, चार वर्ष में ही व्यापार-योग्य हिन्दी वा कुछ २ इंग्रेजी का अभ्यास करके बारह वर्ष की अल्पवय में ही अच्छी व्यापारिक-योग्यता प्राप्त करलीथी और पंद्रह वर्ष की उम्र में तो आपने गृहसम्बन्धी सब कामकाज सँभाल लियाथा। व्यापारिक-कुशलता एवं सौभाग्य से आप करोड़पति हैं. इतना सौभाग्य वा परिकर प्राप्त होने पर भी आपकी प्रकृति सौम्य और मिलनसार है. समाचारपत्रों और हिन्दी-साहित्य के अवलोकन से आपका अनुभव बहुत बढ़ा चढ़ा है. आप सदा प्रसन्नचित्त और सावधान रहते हैं.

आपको बाल्यावस्था से ही जैनधर्म में सच्ची रुचि और श्रद्धा है. आप सदा धर्मात्माओं की सत्संगति तथा शास्त्र-स्वाध्याय, नित्य-पूजनादि में प्रवर्तते हैं और बाल्यावस्था से ही परस्त्री के त्यागी हैं. गवर्नमेन्टने आप के सत्कृत्यों का समादर कर आपको "रायबहादुर" की उपाधि प्रदान किई है. इसके सिवाय आप इन्दौर-राज्य की ओर से "आनरेरी-मैजिस्ट्रेट" और जैनसमाज की ओर से दिगम्बर जैन-महासभा तथा मालवा-प्रान्तिकसभा आदि कई संस्थाओं के "सभापति" भी हैं.

आपने अपने सौभाग्य वा पुरुपार्थ से जिसप्रकार विपुल द्रव्य उपार्जन किया है उसीप्रकार आप उसे सत्कूलों में व्यय भी करते हैं. आपने पाँच लाख रु० के अनुमान कई परोपकारी वा धार्मिक संस्थाओं में दान करने के सिवाय पचास हजार रु० व्ययकर "जैन-धर्मशाला", तीन लाख के व्ययसे "दि० जैनमहाविद्यालय" और एक लाख रुपये के व्यय से अपनी सहधर्मिणी सौ० कंचनबाईजी के नाम से "दि० जैनश्राविकाश्रम" खोलकर सर्वसाधारण वा जैन-जाति का महत् उपकार किया है. आप के दानधर्म की इस प्रकार बहुलता से प्रसन्न होकर श्रीमती भारतवर्षीय दि० जैनधर्मसंरक्षिणी महा-सभा ने आपको "दानवीर" की पदवी से विभूपित किया हैं.

आपके सत्समागम में रहकर हमारे पूज्य-पिताजीने यह "श्रावक-धर्म संग्रह" नामक ग्रंथ अपने परिज्ञानार्थ संग्रह किया है. यह देशभाषा (हिन्दी) में है, इस कारण अल्पज्ञ मुमुक्षु भी इस से बहुत लाभ उठा सकेंगे, यह जानकर मैं ने इसे प्रकाशित करने का साहस किया है.

उक्त सेठ साहिब ने परमार्थवितरण करने के लिये इस ग्रंथ की ४००) रु. की प्रतियाँ इकदम लेकर जो बहुमूल्य सहायता इसके प्रकाशित करने में दी है, उसके लिये तथा आप की धर्मबुद्धि वा सद्गुणों के लिये मैं सहर्ष और विनीतभावपूर्वक धन्यवाद देता हूं और श्री सर्वज्ञ-वीतरागदेव से प्रार्थना करता हूँ, कि आप चिरजीवी होकर सदा स्वपरोपकार में प्रवर्तें.

इस ग्रंथ के प्रकाशित करने एवं प्रूफ़ संशोधनादि में श्रीयुत भाई नाथूरामजी प्रेमी ने जो अमूल्य सहायता प्रदान की है उस के लिये मैं उनका आभारी हूं.

कृतज्ञ–

खूबचन्द सोधिया.

बी. ए. एल. टी.

श्रीमान् दानवीर रायबहादुर सेठ-हुकमचन्दजी निज-मण्डली सहित स्वाध्याय कररहे हैं।

भूमिका ॥

इस बात को बहुधा सभी मतावलम्बी निर्विवाद स्वीकार करते हैं कि सम्पूर्ण संसारी जीवोंकी जन्म-मरण परिपाटी का कारण उनकी पंचेन्द्रियों के विषयों में लोलुपता और क्रोध-मान-माया-लोभ कषाय एवं मोहरूप प्रवृत्ति है। इसीलिये ये दोष हीनाधिक रूपसे सभी संसारी जीवों में पाये जाते हैं तथा इन्हीं के वश वे नाना-प्रकार की शुभाशुभ क्रियायें करतेहुए उन क्रियाओं के परिपाक से जन्म-मरण का चक्कर लगातेहुए, अति दुखी और दीन-हीन हो रहे हैं। यथा:—जिन जीवों के विषय-कषायों की प्रवृत्ति मन्द होती, वे शुभ (पुण्य) कर्म करतेहुए भविष्य में देवगति या मनुष्यगति पाते हैं। इसी प्रकार जिनके विषय-कषायों की तीव्र प्रवृत्ति होती है, वे अशुभ (पाप) कर्म करतेहुए भविष्य में नरकगति या तिर्यंच (पशु-पक्षी-कीड़ी-मकोड़ी) गति को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार सभी संसारी जीव अपने कियेहुए पुण्य-पाप कर्मों का फल स्वयं ही भोगते है। इन चतुर्गति में भ्रमण करतेहुए जीवों में से जब किसी को उस के पूर्वसंचित पुण्योदय से औरों की अपेक्षा दुख की कुछ मात्रा कम होती है तब लोग उसे सुखी समझते हैं। भावार्थ:—संसारी अज्ञानी जीवोंने दुख की कमी को ही सुख मानरक्खा है। यथार्थ में वह सुख नहीं है। सच्चा सुख तो वही है जो विषय-कषायों के सर्वथा

अभाव होनेपर शान्त-दशारूप चिरस्थाई हो, और जिस से संसार-परिभ्रमण अर्थात् जन्म-मरण की परिपाटी का सर्वथा अभाव हो-जाय, इसी का दूसरा नाम निष्कर्म अवस्था अर्थात् मोक्षसुख है, जीवात्मा इस अवस्था को पाकर ही परमात्मा होसकता है। यद्यपि सभी संसारी जीव दुख से बचने के लिये अनिष्ट सामग्रियों के दूर करने और सुख की प्राप्ति के लिये इष्ट-सामग्रियों का समागम मिलाने में निरन्तर अस्तव्यस्त रहते हैं, तौ भी जबतक वे सच्चे दुख-सुख के स्वरूप को भलीभांति जानकर दुख के मूल कारण विषय-कषायों का अभाव नहीं करते, तबतक निराकुलित-स्वाधीन, अविनाशी, आत्मिक सुख को कदापि नहीं पासक्ते ॥

ज्ञात रहे कि इन संसारी प्राणियों में एकेन्द्री से लेकर अमनस्क (असैनी) पंचेन्द्रिय तक तो मन के विना आत्महित के विचार से सर्वथा ही शून्य हैं। अब रहे शेष सैनी पंचेन्द्रिय, सो इन में से जिनके मोहादि कर्मों का तीव्र उदय है वे सदा विषय-कषायों ही में अति मूर्च्छित रह धर्म से सर्वथा विमुख रहते हैं, उनको आत्महित की रुचि ही उत्पन्न नहीं होती हां! जिन के मोहादि कर्मों का कुछ मन्द उदय है, उन्हें धर्मबुद्धि होती, उन्हें धर्म की वार्ता सुहाती और वे धर्म धारण करने की इच्छा भी करते हैं ॥

इस में कोई सन्देह नहीं, कि दुःखके अभाव और सुख की प्राप्ति रूप मूल उद्देश की सिद्धि के लिये ही प्रायः सभी मतोंने गृहस्थाश्रम और सन्यासाश्रम इन दो कक्षाओं का आचरण किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है, अथवा कोई २ उसे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास इन चार आश्रमों में भी विभक्त करते हैं, परन्तु खेदके साथ कहना पड़ता है कि वर्तमान में शान्तिसुख की प्राप्ति के निमित्तभूत, इन चारों आश्रमों अथवा दोनों कक्षाओं की बड़ी अव्यवस्था होरही है, इन का रूप अत्यंत विपरीतसा होरहा है।

सदुपदेशकों के अभाव से बहुधा गृहस्थाश्रमी अपने कर्तव्यकर्म से सर्वथा च्युत हो रहे हैं वे सच्चे दिल से न तो अपना कर्तव्य ही पालन करते और न साधुधर्म के ही सहायक होते हैं, वरन् मनमाने दुराचरणों में प्रवृत्त देखेजाते हैं। इसीप्रकार बहुधा गृहत्यागी-साधुवर्ग द्वारा गृहस्थों को सुमार्ग (मोक्षमार्ग) का उपदेश मिलना तो दूर रहा, वे स्वयं स्वधर्म से पतित होतेहुए गृहस्थों को उल्टे विषय-कषायों में फँसाकर अनन्त-संसारी बनाते हैं। इस प्रकार उल्टी गंगा वहरही है ॥

इस उल्टी गंगा वहनेका कारण क्या है? जब इस पर सूक्ष्म दृष्टि दीजाती है तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि कितनेक मत तो केवल ज्ञानमात्र से ही सुख की प्राप्ति एवं मोक्ष होना मानते हैं, इसलिये वे विरागता को दूर ही से नमस्कार करतेहुए केवल ज्ञान वढ़ाने में ही तत्पर रहते और अपने को ज्ञानी एवं मोक्षमार्गी समझते हैं। इसी प्रकार उनसे विरुद्ध कितनेक मत केवल एक विरागता से ही सुख की प्राप्ति एवं मोक्ष होना मानते हैं, इसलिये वे संसार और मोक्षसम्बन्धी तत्त्वज्ञान के विना ही, मनमाना भेष धर, मनमानी क्रियायें करतेहुए अपने को विरागी, सुखी और मोक्षमार्गी मानते हैं। इस प्रकार अंधे-लँगड़े की नाई ज्ञान-वैराग्य की एकता न होने से गृहस्थ और सन्यास दोनों आश्रमों का धर्म यथार्थरूप से पालन नहीं होता। सोही प्रत्यक्ष देखो! कि कितनेक लोग तो राजविद्या अथवा धर्मज्ञान-शून्य न्याय, व्याकरणादि विद्या या अनुभवहीन धर्मविद्या में निपुण होकर ज्ञानी, मोक्षमार्गीपने की ठसक धराते हुए, सदाचरण को ताक में रख, विषय-कषायों में लवलीन रहते हुए, संसार-सम्पदा वढ़ाने और विलासप्रिय बनने में ही तत्पर रहकर अपने तईं सुखी मान रहे हैं। परन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि उन्हें सच्चे आत्मज्ञान एवं विरागता के विना शान्ति-

सुख के दर्शन भी नहीं होते। इसी प्रकार कितनेक लोग केवल विरागता के उपासक बनकर आत्मज्ञान की प्राप्ति हुए बिना ही पेटपालने अथवा ख्याति-लाभ-पूजादि प्रयोजनों के वश मनमाना भेषधर अपने तईं विरागी-मोक्षमार्गी प्रसिद्ध करते हैं। ऐसे लोग भी ज्ञान-वैराग्य की एकता के विना महासंतप्त (दुखी) और असन्तुष्ट देखे जाते हैं। वे बहुधा ब्रह्मचारी, त्यागी, नामों से प्रसिद्ध होते हुए भी विषय-कषायों में लिप्त रहते हैं, उनके हृदय में शान्तिरस के बदले संकल्पों-विकल्पों की ज्वालायें धधकती रहती हैं। यह सब दुष्परिणाम ज्ञान-वैराग्य की पृथक्ता का है। अतएव मुमुक्षु सज्जनों को उचित है कि पहिले तो वीतरागता-विज्ञानता के मार्ग में प्रवर्तनेवाले विद्वानों एवं वीतरागता-विज्ञानता के प्ररूपक सच्छास्त्रों द्वारा मोक्षमार्ग सम्बन्धी तत्त्वों का भलीभांति ज्ञान प्राप्त करें। संसार-संसार के कारणों तथा मोक्ष-मोक्ष के कारणों को जानें, उनकी भलीभांति जांच-परताल कर उन पर दृढ़-विश्वास लावें। पीछे संसार के कारणों को छोड़ने और मोक्ष के कारणों को ग्रहण करने के लिये गृहस्थ एवं मुनि-धर्म रूप विरागता को यथाशक्य अंगीकार करें। इस प्रकार ज्ञान-वैराग्य की गाढ़ी मित्रता एवं एकीभाव ही सच्चे, आत्मिक, अविनाशी सुख की प्राप्ति का यथार्थ उपाय है॥

इस स्थल पर यह कहदेना कुछ अनुचित न होगा कि जिस प्रकार गृहस्थधर्म अथवा साधुधर्म धारण करने के पहिले आत्मज्ञान होने की आवश्यकता है, उसी प्रकार मुनिधर्म धारण करने के पहिले यह बात जानना भी अति आवश्यक है कि गृहस्थाश्रम में गृहस्थधर्म साधन करतेहुए मनुष्य किस २ प्रकार, कितने दर्जेतक विषय-कषायों को घटा सकता है और कितने दर्जे तक विषय-कषाय घटने पर आत्मस्वरूप साधने योग्य साधुधर्म अंगीकार कर सकता है? अतएव साधुधर्म अंगीकार करने के पहिले गृहस्थधर्म को भली भांति जानकर उसका अभ्यास करना प्रत्येक मनुष्य

का प्रथम-कर्तव्य है । इसी अभिप्राय को मन में धारण कर मेरी इच्छा दीर्घकाल से गृहस्थधर्म के भलीभांति जानने की थी । अतएव इसी का सतत प्रयत्न किया, जिससे श्रावकाचार के ज्ञाता वृद्ध-विद्वानों एवं संस्कृतपाठी पंडित महाशयों की सहायता द्वारा गृहस्थधर्म के प्रकाशक अनेक संस्कृत-भाषा के ग्रंथों के आधार से इस विषय को एकत्र करते करते यह "श्रावकधर्मसंग्रह" नामक ग्रंथ संग्रह होगया। इसमें मुख्यपने गृहस्थधर्म का और गौणपने साधुधर्म का वर्णन है। आशा है कि इससे अन्य मुमुक्षुओं को भी अपना २ कर्तव्य भलीभांति ज्ञात होगा और वे उसके अनुसार आचरण कर क्रमशः शान्तिसुख का अनुभव करतेहुए परमशान्ति-युक्त परमात्म अवस्था को प्राप्त होंगे ॥

मैंने इस श्रावकधर्म संग्रह करने का कार्य अपनी मान-बड़ाई, लोभ अथवा और किसी दुरभिनिवेश के वश होकर नहीं किया, केवल अपने ज्ञानवर्धन एवं कल्याण निमित्त किया है। इस में जो कुछ विषय प्रतिपादन कियागया है वह श्री सर्वज्ञ, वीतराग, तीर्थंकर भगवान के हितोपदेश की परिपाटी के अनुसार निर्ग्रंथाचार्य महर्षियों द्वारा रचित ग्रंथों के आधारसे तथा उस पवित्र मार्ग के अनुयायी एवं प्रवर्तक अनेक मुमुक्षु-विद्वानों की सम्मति से किया गया है। इतना अवश्य है कि कहीं कहीं पूर्वाचार्यों के संक्षिप्त-वाक्यों की ध्वनि वृद्ध विद्वानों की सम्मति एवं तर्कवाद से स्पष्ट कर दी गई है। पुनः इस ग्रंथ का संशोधन भी अनेक धर्म-मर्मज्ञ अनुभवी सज्जनों द्वारा कराया है।

इस ग्रंथ के संग्रह करने में नीचे लिखे ग्रंथों का आश्रय लिया गया है ॥

(१) रत्नकरंडश्रावकाचार—मूलकर्त्ता श्रीसमंतभद्रस्वामी। भाषाटीकाकार पं. सदासुखजी ॥

(२) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा—मूलकर्त्ता श्रीकार्तिकेय स्वामी । भाषाटीकाकार पं. जयचन्दजी ॥

(३) भगवती आराधना सार—मूलकर्त्ता श्रीशिवकोटिमुनि । भाषाटीकाकार पं. सदासुखजी ॥

(४) वसुनन्दि श्रावकाचार—वसुनन्दि आचार्यकृत ॥

(५) धर्मपरीक्षा—अमितगत्याचार्यकृत ॥

(६) त्रिवर्णाचार—सोमसेन भट्टारक संग्रहीत ॥

(७) चारित्रासार—मंत्रिवर चामुंडरायकृत ॥

(८) अमितगति श्रावकाचार—अमितगतिस्वामीकृत ॥

(९) सागार धर्मामृत—पं. आशाधरजीकृत ॥

(१०) गुरुउपदेश श्रावकाचार—पं. डाल्हूरामजीकृत ॥

(११) प्रश्नोत्तरश्रावकाचार—मूलकर्त्ता सकलकीर्ति भट्टारक । भाषाटीकाकार पं. वुलाकीदासजी ॥

(१२) पीयूषवर्ष श्रावकाचार—नेमिदत्त भट्टारककृत ॥

(१३) पार्श्वनाथपुराण—भाषाटीकाकार पं. भूधरदासजी ॥

(१४) तत्वार्थबोध—पं. बुधजनजीकृत ॥

(१५) क्रियाकोष—पं. दौलतरामजीकृत ॥

(१६) क्रियाकोष—पं. किशनसिंहजीकृत ॥

(१७) ज्ञानानन्द श्रावकाचार—पं. रायमल्लजीसंग्रहीत ॥

(१८) अष्टपाहुड़—(सूत्रपाहुड़-भावपाहुड़) मूलकर्त्ता श्रीकुन्दकुन्दाचार्य । भाषाटीकाकार पं. जयचंदजी ॥

(१९) यशस्तिलकचम्पू—श्रीसोमदेवसूरिकृत ॥

(२०) सुभाषितरत्नसन्दोह—श्रीअमितगत्याचार्यकृत ॥

(२१) समाधितंत्र—पं. पर्वतरामजीकृत ॥

(२२) सुदृष्टि तरंगिणी—पं. टेकचन्दजीसंग्रहीत ॥

(२३) धर्मसार—मूलकर्त्ता सकलकीर्तिभट्टारक। भाषाटीकाकार पं. शिरोमणिजी ॥

(२४) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय—श्रीअमृतचंद्राचार्यकृत । भाषा-टीकाकार पं. तोडरमल्लजी ॥

(२५) आदिपुराण—श्रीजिनसेनाचार्यकृत । भाषाटीकाकार पं. दौलतरामजी ॥

(२६) भद्रबाहुसंहिता—भद्रबाहु भट्टारककृत ॥

(२७) धर्मसंग्रहश्रावकाचार—पं. मेधावीकृत ॥

(२८) तत्वार्थसूत्र (सर्वार्थसिद्धि टीका)—भाषाटीकार पं. जयचन्द्जी ॥

(२९) श्रीमूलाचारजी—श्रीवट्टकेर आचार्यकृत । भाषाटीका-कार पं. पारसदासजी ॥

(३०) सार चतुर्विंशतिका—सकलकीर्ति भट्टारककृत । भाषा टीकाकार पं. पारसदासजी ॥

यहां कोई शंका करेगा कि जब जैनधर्म में भट्टारकों का कोई पदस्थ ही नहीं, किन्तु यह भेष कल्पित और शिथिलाचाररूप है और बहुधा सभी जैनीमात्र इन के वाक्योंको संदेह की दृष्टि से देखते तथा भविष्य में देखेंगे तो फिर उनके रचित या संग्रहीत ग्रंथों का आधार इस ग्रंथ में लेने की क्या आवश्यकता थी? । तिसका समाधान यह है कि जिन बातों का उल्लेख वीतरागता, विज्ञानता के मार्ग पर चलनेवाले दिगम्बर जैनाचार्यों ने किया है, उन्हीं की पुष्टि इन भट्टारकोंने भी अपने ग्रंथों में की है, इस से सिद्ध हुआ कि दिगम्बर-पूर्वाचार्यों के वाक्य संशयरहित, सर्वमान्य हैं। बस यही विशेपता बताने के लिये भट्टारकोंकृत ग्रंथों के आधार भी इस ग्रंथ में संग्रह कियेगये हैं॥

यद्यपि इस ग्रंथ के संग्रह करने में बहुत सावधानी रक्खीगई है तथापि बुद्धि की मन्दता एवं प्रमादवश कोई त्रुटि रहगई हो या हीनाधिक होगया हो, तो उदारबुद्धि विद्वज्जन कृपया क्षमा करें और जो त्रुटियां ज्ञात हों, वे कारण सहित मुझे सूचित करें, जिस से भविष्य में यह ग्रंथ सर्वथा निर्दोष होजाय।

इन्दौर
ज्येष्ठशुक्ला ५
विक्रम संवत् १९७०
वीर निर्वाण संवत् २४३९.

विनीत,
दरयावसिंह सोधिया.

विषयानुक्रमणिका ।

विषय. सफा.

शुद्धाशुद्धि पत्र.

पृष्ठ.	पंक्ति.	अशुद्ध.	शुद्ध.
१५	१४	कुल कोड़ि	कोड़ि कुल
१८	२	अनंतानंत	अनंतानन्तगुणी
२०	१५	मथानी को	मथानी की
२९	२०	बंध कहलाता है.	इससे आगे इतना और चाहिये "तहां पूर्व बद्ध द्रव्यकर्म के उदय से आत्मा के चैतन्य परिणामों का राग—द्वेष रूप परणत होना सो भावबंध और आत्मा के रागद्वेषरूप होने से नूतन कार्माण वर्गणाओं का आत्मा से एक क्षेत्रावगाहरूप होना सो द्रव्य बंध है। सो द्रव्यबंध चार प्रकार है"
३२	१	नीम—कांजीरूप	कांजी—नीमरूप
५७	९	तो उन्हें	तो अपने को या उन्हें
६२	१४	गुरु, पर	गुरुपर,
६७	६	श्रुत मन इन्द्रियस्य	श्रुतमनिन्द्रियस्य
७४	१	सम्यग्चरित्र	सम्यग्चारित्र
७६	२४	अष्टमूलगुण	अष्टमूलगुणधारण
७७	१०	तेवस्स	तेवण्ण

b

८५	४	स्वच्छ	स्वच्छ-सफेद
९८	१४	नहीं खाना चाहिये	नहीं खाना-पीना चाहिये
१०४	७	पूरा	पूजा
११०	५	आत्मा का वियोग	आत्मा का बलात् वियोग
१३०	२२	है होता	होता है
१३१	५	पूर्वरतानुसरण	पूर्वरतानुसरणत्याग
१५९	३	ऐल्लक	ऐलक
१६८	२०	क	के
२०७	१६	ने	न
२२४	२४	क्षुल्लका	क्षुल्लक
२४१	११	जन्म ले २ कर	जन्म ले २ कर तथा इसी प्रकार क्रमपूर्वक मरण कर २ के

॥ श्रीः ॥

श्रावक-धर्म-संग्रह ।

मङ्गलाचरण ।

दोहा ।

शिवसुखदा शिवसुखमई, मंगल परम प्रधान ।
वीतराग-विज्ञानता, नमों ताहि हित मान ॥ १ ॥
वृषकर्त्ता युग आदि में, ऋषिपति श्रीऋषभेश ।
वृषभचिह्न चरणन लसैं, वंदूं आदि जिनेश ॥ २ ॥
सन्मतिपद सन्मति करन, सन्मति-सुख-दातार ।
सुखवांछक सब जगत जन, तातें सन्मति धार ॥ ३ ॥
मुक्तिमार्गसाधक द्विपद, विकल सकल हितकार ।
तामें श्रावक पद प्रथम, वरणों प्रतिमासार ॥ ४ ॥
प्रतिमा चढ़ि यति पद धरैं, साधैं आतमस्वरूप ।
सिद्ध स्वातमरसरसिक हैं, सद्गुणनिधि सुखभूप ॥ ५ ॥

मैं ग्रंथ की आदि में मंगल निमित्त वीतरागता-विज्ञानतारूप परम शक्ति को हृदय में धारण करने की इच्छा करके इसे नमस्कार करता हूं, तथा इस शक्ति के धारक अर्हंत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधुसमूह को नमस्कार करता हूं, जिनके चरण प्रसाद से गृहस्थधर्म को दर्पणवत् स्पष्ट दर्शानेवाला यह "श्रावकधर्मसंग्रह" नामक ग्रंथ निर्विघ्नतापूर्वक समाप्त हो ।

धर्म की आवश्यकता ।

इस अनंतानंत आकाश के बीचोंबीच अनादि-निधन ३४३ राजू प्रमाण घनाकार लोक स्थित है। उस में भरे हुए अक्षयानन्त जीव अनादिकालसे ही देखने-जानने मात्र अपने शुद्ध ज्ञान-दर्शन गुण को भूल कर, शरीर सम्बन्ध के कारण केवल इन्द्रियजनित सुखों को प्राप्त करने के लिये आकुल-व्याकुल होते हुए नाना प्रकार की अशुभ प्रवृत्तियां कर रहे हैं जिस से वे उन के फल स्वरूप नानाप्रकार के दुःखों को प्राप्त होते हैं। इनको अपने आत्मीक-पारमार्थिक शान्ति-सुख की खबर भी नहीं है। अज्ञानतावश, दुःखों की मन्दता अथवा किसी एक दुःख की किंचित्काल उपशांति को ही ये भोले जीव सुख माना करते हैं और इसी निमित्त इन्द्रियजनित विषयों के जुटाने का सदा प्रयत्न करते रहते हैं। इन दुःखों के मूल कारण जो उनके पूर्वकृत दुष्कर्म हैं उनको तो पहिचानते नहीं; केवल बाह्य निमित्त कारणों को दुःखदायक जान, संकल्प विकल्प करते हुए उनके दूर करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार झूठे उपायों से जब दुःख दूर न होकर उल्टा बढ़ता है तब निरुपाय होकर कहने लगते हैं-"हमारे भाग्य में ऐसा ही लिखा था" "भगवान को ऐसा ही करना था" अथवा "अमुक देवी देवता का हम पर कोप है" इत्यादि। इसतरह और भी अनेक बिना सिरपैर की कल्पनायें करते हैं और लाचार होकर सहायता की इच्छा से लोकरूढ़ि के अनुसार अनेक विषयी-कषायी देवों की पूजा-मानता करते, भेषी संसारासक्त कुगुरुओंकी सेवा करते और संसारवर्द्धक (जन्ममरण की पद्धति बढ़ानेवाले) उपदेश युक्त शास्त्रों की आज्ञाओं का पालन कर हिंसादि पाप करने में जरा भी नहीं डरते हैं। तिसपर भी

चाहते क्या हैं ? यह कि तृष्णारूपी दाहज्वर को बढ़ानेवाली और आकुल-व्याकुल करनेवाली इन्द्रियजनित सांसारिक सुख-सम्पदा प्राप्त हो। इस प्रकार उपर्युक्त विपरीत कर्तव्यों का परिणाम यह होता है कि ये जीव उल्टे सांसारिक चौरासी लक्ष योनियों में जन्म मरण करनेके चक्कर में पड़कर सदा दुखी रहते हैं।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इन्द्रिय-जनित विषय-सुख, सच्चे सुख नहीं किन्तु सुखाभास हैं। क्यों कि ये अस्थिर, अन्त में विरस, पराधीन, वर्तमान में दुःखमय और भविष्यत् में दुःखों के उत्पादक हैं। अतएव सच्चे सुख के वांछक पुरुषों को चिरस्थायी आत्मीक स्वाधीन सुख की खोज करना चाहिये और उस के स्वरूप को समझकर उसी की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिये।

वास्तव में देखा जाय तो आकुलता-व्याकुलता रहित आत्मा का शान्तिभाव ही सच्चा सुख है; जिस शान्तिभाव की प्राप्ति के लिये बड़े बड़े योगी-यती संसार के झगड़ों से जुदा होकर और कामिनी-कंचन को छोड़कर बनवास करते हैं। वही शान्तिभाव आत्मा का स्वाधीन सुख है, जिसे आत्मा का धर्म कहते हैं। उस आत्मधर्म के मर्म को जाने बिना "कांखमें लड़का गांवमें टेर" की कहावत के अनुसार यहां वहां धर्म की ढूंढ-खोज करना अथवा आत्म-धर्म के साधक निमित्त मात्र कारणों को ही धर्म मान बैठना और उस के लिये कपोल-कल्पित नानाप्रकारकी असत् क्रियायें करना व्यर्थ है। क्यों कि मूल बिना शाखा कहां ? इस का खुलासा यह है कि आत्मा का स्वभाव (धर्म) रागद्वेषरहित चेतना मात्र है जिस को देखना-जानना भी कहते हैं। इस के विशेष भेद उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग,

आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये दश धर्म हैं अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र (रत्नत्रय धर्म) या जीवदया (अहिंसाधर्म) हैं । यह आत्मधर्म अनादिकर्मसम्बन्ध के कारण विपरीत हो रहा है, इस लिये कर्मजनित विभावों और आत्मीक स्वभावों के यथार्थ स्वरूप जाने विना ये जीव संसार रोग की उल्टी औषधि करते और सुख के बदले दुःख पाते हैं।

यदि एक बार भी इस जीव को अपने स्वाभाविकस्वरूप शुद्ध ज्ञान-दर्शन की तथा अपने किये हुए शुभाशुभकर्मजनित इन नानाप्रकार के स्वांगों की परख होजाती, तो जन्म मरणके दारुण दुःख इसे कदापि न भोगने पड़ते और यह सदा के लिये इन से छुटकारा पाजाता । परन्तु करे क्या ? संसार में अनेक मार्ग ऐसे बन रहे हैं जो धर्म के नाम से जीवों की आँखों में धूल डाल उल्टे विषय कषायों के गड्ढे में पटक उन्हें अंधे और अपाहिज (पुरुषार्थ हीन) कर देते हैं जिस से उनका फिर सुमार्ग के निकट आना कठिन हो जाता है । भावार्थः—जिन पंचेन्द्रिय-जनित विषय-सुखों में जीव अज्ञानता वश भूल रहे हैं उन्हीं का वे बार बार उपदेश देकर मोहनिद्रा में अचेत कर देते हैं जिस से उन को यह बोध नहीं होने पाता कि हम कौन हैं ? कहां से आये हैं और हमें कहां जाना पड़ेगा ? वर्तमान में जो ये सुख दुःख की सामग्री हमें प्राप्त हो रही है इस का कारण क्या है ? आत्मा तथा शरीर अलग अलग पदार्थ हैं या एक ही हैं ? आत्मा का स्वभाव क्या है ? और कर्मजनित रागद्वेषरूप विकार भाव क्या हैं ? तथा हमारा सच्चा सुख क्या और कैसे प्राप्त हो सकता है ? इत्यादि इत्यादि ।

इस प्रकार संसारी जीवों की अचेत एवं दुःखमय दशा देख-कर परमोपकारी परमपूज्य तीर्थंकर भगवान ने असारसंसार से

विरक्त हो शुभाशुभ कर्मों को जीत ('कर्मारातीन् जयतीति जिनः' अर्थात् जो कर्मों को जीत शुद्धात्मस्वरूप को प्राप्त हो सो जिन है) अपनी पूर्वकृत दर्शनविशुद्धि* भावना के द्वारा बांधी हुई तीर्थंकर प्रकृति नामकर्म के उदयवश श्री अर्हत्स्वरूप को प्राप्त होकर संसारी जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश दिया जिसमें मोक्ष और मोक्ष के कारणों तथा संसार और संसार के कारणों का स्वरूप भलीभांति दरसाया । मोक्ष प्राप्ति के लिये आत्मा के स्वभाव सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान को भलीभांति सिद्ध करने के पीछे, कर्म-जनित विभावों को छोड़ स्वभाव में प्राप्त होने के लिये सम्यक्चारित्र धारण करने का उपाय बताया तथा इस अनादि रोग को एकदम दूर करने की शक्ति सर्व-साधारण जीवों में नहीं है, इसलिये जैसे बड़े भारी व्यसनी का एकदम व्यसन छूटना अशक्य जान क्रम क्रम से छोड़ने की परिपाटी बताई जाती है उसी प्रकार उन जिनेश्वरदेव ने निज दिव्यध्वनि द्वारा विषयकषायग्रसित (दुर्व्यसनी) संसारी जीवों को इस संसार रोग से छूटने के लिये श्रावक और मुनि-धर्म रूप दो श्रेणियों का उपदेश दिया ।

१ श्रावकधर्म—जिस में गृहस्थ अवस्था में रहकर कषायों के मन्द करने और इन्द्रियों के विषय जीतने को अणुव्रतादि साधन बताये गये हैं ।

२ मुनिधर्म—जिस में गृहस्थपना त्याग, सर्वथा आरंभ-परिग्रह तथा विषय-कषाय रहित हो, निज शुद्धात्मस्वरूपकी सिद्धि के अर्थ महाव्रत, तप, ध्यानादि साधन बताये गये हैं, जिस से आत्मा अपने स्वाभाविक वीतराग-विज्ञानभाव (शुद्ध चैतन्यभाव) को प्राप्त होकर कृतकृत्य हो जाय ।

---

* सब जीवों को मोक्ष मार्ग में प्रवर्तावने की उत्कट वांछा ।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र आत्मा का स्वाभाविक धर्म है। यह कर्मजनित उपाधि के कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्ररूप विपरीत या उल्टा हो रहा है। इस लिये आगे इस ग्रंथ में क्रमशः इन तीनों का स्वरूप वर्णन किया जायगा।

सम्यग्दर्शन प्रकरण।

दोहा।

आतम अनुभव नियत नय, व्यवहारे तत्त्वार्थ।
देव-धर्म-गुरु-मान्यता, सम्यग्दर्शन सार्थ ॥ १ ॥

सब से प्रथम आत्मा के स्वभाव (धर्म) का सम्यक्श्रद्धान होना अवश्य है। क्यों कि इस सम्यग्दर्शन[1] को सत्पुरुषों ने ज्ञान तथा चारित्र का मूल माना है। सम्यक्त्व यम (महाव्रत) प्रशम (विशुद्ध भाव) का जीवन है और तप, स्वाध्याय का आश्रय है। इस के विना ज्ञान तथा चारित्र मिथ्यात्वरूपी विष से दूषित रहते हैं। इसी कारण प्रथम ही सम्यक्त्व होने का उपाय संक्षिप्त रूप से वर्णन किया जाता है:—

लोकस्वरूप।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छहों द्रव्यों का समूह लोक कहलाता है। यह लोक (सृष्टि) अनादि काल (सदा) से है और अनंतकाल तक बना रहेगा अर्थात् इन द्रव्यों को किसीने बनाया नहीं और न कभी ये नाश होंगे। क्योंकि द्रव्य उसे कहते है जो अपने गुणों कर सदा ध्रौव्य और पर्यायों करके उत्पाद-व्यय रूप रहता है। सूत्रकारने भी कहा है- "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इसी कारण इन द्रव्यों का समूहरूप लोक अनादि-निधन है।

---

१ सम्यग्दर्शन को सम्यक्त्व या श्रद्धान भी कहते हैं।

ये छहों द्रव्य यद्यपि अपने अपने गुणों से युक्त सदा सत्-रूप (मौजूद) रहते हैं। तथापि पर्याय परिणामने की शक्तिरूप उपादान कारण तथा पर्याय परणमनेरूप निमित्त कारण होने-से इन की पर्याय पलटती रहती है। इन में से जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों में सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार की पर्यायें होती हैं और शेष धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन चार द्रव्यों में केवल सूक्ष्म पर्याय ही होती है।

तहां जीवों की तो अनादिसम्बन्धरूप पौद्गलिक कर्मसंतति संयोग के निमित्त से और पुद्गल की जीव अथवा पुद्गल के निमित्त से पर्यायें पलटती हैं। इस प्रकार जीव के परसंयोगजनित और पुद्गल के स्वपरजनित स्थूल विकार (परिणमन) स्थूलबुद्धि जीवों को रातदिन दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु इन पलटनों के कारण सूक्ष्म अर्थात् विशेष ज्ञानके विषय होने से अल्पज्ञों को ज्ञात नहीं होते और चमत्कार सा भासता है। भावार्थः– पुद्गलों में स्वाभाविक रीति से और जीवों में उन के शुभाशुभ परिणाम द्वारा बंध किये हुए सूक्ष्म कर्मपरमाणुओं के उदय-वश जो परिणमन होते हैं उन सब के कारण सूक्ष्म और अदृष्ट होने से लोकरूढ़ि के अनुसार ईश्वर को ही हरकोई इन का कर्त्ता

---

१ स्थूल पर्याय–जैसे जीव का मनुष्य से पशुपर्यायरूप आकार हो जाना, पुद्गल का घट से कपालपर्यायरूप आकार हो जाना। सूक्ष्म पर्याय–जीव में ज्ञानादि गुणों के, पुद्गल में स्पर्शादि गुणों के, धर्म द्रव्य में गति सहकारित्व गुण के, अधर्म द्रव्य में स्थिति सहकारित्व गुण के, काल द्रव्य में वर्तना गुण के और आकाश में अवकाशदानगुणके अविभागप्रतिच्छेदों में अनंतभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि, अनंतगुणवृद्धिरूप षट्-स्थानपतितवृद्धि वा हानिरूप परिणमन होना। इस का विशेष खुलासा श्रीगोम्मट-सारजी से जानना।

२ धर्म, अधर्म का अभिप्राय यहां पुन्य पाप न समझना किन्तु ये द्रव्य हैं इन का वर्णन आगे विस्तारपूर्वक किया जायगा।

ठहराता है यहां तक कि लोग जीवों के सुख दुःख का कर्त्ता "इस हाथ दे उस हाथ ले" की कहावत प्रसिद्ध होते हुए भी ईश्वर ही को मानते हैं। यही कारण है कि जीव आप तो अनेक प्रकार के पाप करते हैं और उन के फलस्वरूप दुःखों से बचने के लिये उन दुष्कर्मों को न छोड़कर अज्ञानतावश देव-देवियों या ईश्वर को कर्त्ता समझ उनकी नाना प्रकार से पूजा-मानता करते हैं जिस से और भी अधिक पाप कर्मों से लिप्त होकर दुःखोंके स्थान बनते हैं।

संसारी जीव यद्यपि लोकरूढ़ि के अनुसार सद्गुरु के उपदेश के अभाव से ईश्वर को सृष्टि का या सुख-दुःख का कर्त्ता तो मान लेते हैं, परंतु यह नहीं विचारते कि ईश्वर का कर्त्तापना संभव है या असंभव ? सदोष है या निर्दोष ?

यदि इस विषय में सद्गुरु के उपदेशपूर्वक विचार किया जाय तो स्पष्ट ज्ञात हो जाय कि सृष्टिका तथा प्रत्येक जीव के सुख-दुःख का कर्त्ता ईश्वर को मानना भ्रमपूर्ण है। हां, इतना अवश्य है कि ईश्वरने मोक्ष होने के पहले जीवन्मुक्त (सशरीर-परमात्म) अवस्था में करुणाबुद्धि के उदयवश जीवों के उद्धारार्थ सुख-दुःख, संसार-मोक्ष का स्वरूप तथा मोक्ष का मार्ग निरूपण कर दिया है और उपदेश दिया है कि जीव ही संसार का कर्त्ता और जीव ही मुक्ति का कर्त्ता है; विष-अमृत दोनों के लड्डू इस के हाथ में हैं चाहे जिस को ग्रहण करे। भावार्थ—जीवको सुख-दुःख की प्राप्ति होना उसी के किये हुए सत्कर्म एवं कुकर्म के अधीन है। जीव ही संसार (अपने जन्म-मरण) का कर्त्ता ब्रह्मा, पोषक विष्णु, और नाशक महेश है। खुदा या ईश्वर आदि किसी को संसार का उत्पादक, पोषक और नाशक मानना युक्ति-विरुद्ध है, तथा ऐसा मानने से कई दोष भी उत्पन्न होते हैं। यहां पर उसी का संक्षिप्तरूप से वर्णन किया जाता है:—

सृष्टिका अनादिनिधनत्व ।

यदि ऐसा माना जाय कि विना कर्त्ता के कोई कार्य होता नहीं दिखता, इसी हेतु से सृष्टि को ईश्वर या खुदा आदि किसीने बनाया है । तो यहाँ यह शंका उत्पन्न होती है कि सृष्टि बनने के पूर्व कुछ था या नहीं? इसका उत्तर यही होगा कि ईश्वर के सिवाय और कुछ भी नहीं था, क्योंकि जो ईश्वर के सिवाय पृथ्वी, जल आदि होना माना जाय तो फिर ईश्वर ने बनाया ही क्या? अतएव अकेला ईश्वर ही था। यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब विना कर्त्ता के कोई भी कार्य न होने का नियम है तो ईश्वर भी तो एक कार्य (वस्तु) है, इसका कर्त्ता होना भी जरूरी है। यहां कोई कहे कि ईश्वर अनादि है इस लिये उसका कर्त्ता कोई नहीं। भला जब अनादि ईश्वर के लिये कर्त्ता की आवश्यकता नहीं तो उपर्युक्त षट् द्रव्य युक्त अनादि सृष्टिका कर्त्ता मानने की भी क्या जरूरत है? और यदि ऐसा माना भी जावे कि पहले ईश्वर अकेला था और पीछे उसने सृष्टि रची तो सृष्टि रचने के लिये उपादान सामग्री क्या थी और वह कहां से आई? अथवा जो ऐसा ही मान लिया जाय कि ईश्वर तथा सृष्टि बनने की उपादान सामग्री दोनों अनादि से थीं, तो प्रश्न होता है कि निरीह (इच्छारहित, कृतकृत्य) ईश्वर को सृष्टि रचने की आवश्यकता क्यों हुई? क्योंकि विना किसी प्रयोजन के कोई भी जीव कोई भी कार्य नहीं करता । यहां कोई कहै कि ईश्वरने अपनी प्रसन्नता के लिये सृष्टि रचने का कौतूहल किया, तो ज्ञात होता है कि सृष्टि के विना अकेले ईश्वर को बुरा (दुःख) लगता होगा? इसी लिये जबतक उसने सृष्टि की रचना नहीं करपाई तबतक वह दुखी रहा होगा। सो ईश्वर को दुखी और अकृतकृत्य मानना सर्वथा ईश्वर की

निन्दा करना है। फिर भी जो कोई कुछ भी कार्य करता है वह इष्ट रूप सुहावना ही करता है, सो सृष्टि में सुखी तो बहुत थोड़े और दुखी बहुत जीव दिखाई देते हैं, इसी प्रकार सुहावनी वस्तुएँ तो थोड़ी और कुरूप, भयावनी, घिनावनी बहुत देखने में आती हैं जो कर्त्ता की अज्ञानता की सूचक हैं। इस प्रकार ईश्वर को सृष्टि कर्त्ता मानने में और भी अनेक दोष आते हैं। पुनः सभी कर्त्तावादी बहुधा ईश्वर को न्यायी और दयालु कहते हैं। सो जब ईश्वर ऐसा है तो क्या कारण है कि उसने सब जीवोंको एकसा रूप, सुख, दुखादि न दिया, किसी को मनुष्य, किसी को कीड़ा, किसी को कुरूप, किसी को सुरूप, किसी को धनवान्, किसी को निर्धन आदि अलग अलग प्रकार का बनाया? उसको किसी से राग द्वेष तो था ही नहीं। यहां कोई कहे कि ईश्वर सब जीवों को उन के शुभाशुभ कर्मों के अनुसार फल देता है। भला जब ऐसा है कि फल की प्राप्ति के कर्त्ता जीव ही हैं तो ईश्वर को सृष्टि का या जीवों के सुख-दुख का कर्त्ता मानना निर्मूल ठहरा। अथवा यदि यह कहो कि जैसे जज न्याय करके जीवोंको उनके अपराध के अनुसार दंड देता है, उसी प्रकार ईश्वर भी जीवों के पूर्व शुभाशुभ कर्मों के अनुसार उन्हें सुख-दुख देता है, बिना दिये सुख दुख कैसे मिल सकता है? इसका समाधान यह है कि यदि ईश्वर अल्पज्ञ और निर्बल होता तो उसे दंड देकर दूसरों को यह बात दिखलाने की आवश्यकता पड़ती कि जो अमुक अपराध करेगा उसको अमुक दंड दिया जायगा। परन्तु उसे तो बहुधा सभी मतावलम्बी सर्वज्ञ, सर्व शक्तिशाली और परम दयालु मानते हैं। यदि ऐसे ईश्वर को सुख-दुख देने के झगड़े में पड़ना पड़ता या पाप मेटने और पुन्य प्रचार करनेका विकल्प करना पड़ता, तो वह सर्वज्ञ और शक्तिमान् ईश्वर अपनी

इच्छा मात्र से ही सब जीवों को अपराध करने से रोक सकता था । परंतु ऐसा न करके वह सांसारिक न्यायाधीशोंकी पदवी को धारण करना चाहता है और वह जानते हुए, दयालु होते हुए और शक्ति रखते हुए भी जीवोंसे अपराध कराता और फिर उन्हें दंड देता हैं सो इससे तो उसके उत्तम गुणोंमें दोष लगता है, अतएव ईश्वर को फलदाता कहना व्यर्थ है । सब जीव जैसे परिणाम करते हैं वैसी ही सूक्ष्म कार्माण वर्गणा उनकी आत्मा से एक क्षेत्रावगाह रूप बंध को प्राप्त होकर उदय अवस्था में जीवों को सुख-दुख का कारण होती है यथा—"कर्म प्रधान विश्व करि राखा । जो जस करै सो तस फल चाखा ॥"

यहां कोई सन्देह करे कि जैनमत ईश्वरको सृष्टिका कर्ता न माननेसे नास्तिक ठहरता है, तो इस का समाधान इतना ही बस होगा कि ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानने से आस्तिक और न मानने से नास्तिक की सिद्धि नहीं है । किन्तु आत्मा परमात्माका अस्तित्व माननेवाले आस्तिक और अस्तित्व न माननेवाले नास्तिक कहाते हैं, सो जैनमत आत्मा को अनादि, स्वयंसिद्ध, तथा परमात्मा को सर्वज्ञ, वीतराग, परम-शांतरूप पूर्ण-सुखी मानता है, इसलिये जैनमत को नास्तिक कहना अति भ्रमयुक्त है ।

इत्यादि बातोंपर (जिन का उल्लेख श्री मोक्षमार्ग प्रकाश ग्रंथ में विस्तारपूर्वक और अति सरलता से किया गया है) जब प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण द्वारा सूक्ष्म विचार किया जाता है, तो यही सिद्ध होता है कि ईश्वर (परमात्मा, खुदा या गॉड) तो कृत कृत्य और निष्कर्म अवस्था को प्राप्त होकर आत्मानंद में मग्न रहते हैं उन को सृष्टि के करने, धरने,

बिगाड़ने से क्या प्रयोजन? लोक में जो जीव–पुद्गल का परिणमन हो रहा है वह उन द्रव्यों के शक्तिरूप उपादान तथा अन्य बाह्य निमित्त कारणों से ही होता है।

अब यहां पर सृष्टिसम्बन्धी द्रव्यों का संक्षिप्त स्वरूप कहा जाता है:—

षड्द्रव्य स्वरूप वर्णन।

इस लोक में चैतन्य और जड़ दो प्रकार के पदार्थ हैं। इन में चैतन्य एक जीव-द्रव्य ही है, शेष पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पांचों द्रव्य जड़ हैं। इन में जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल ये ५ द्रव्य अनन्त-आकाश के मध्य ३४३ घन *राजू मात्र क्षेत्र में भरे हुए हैं। भावार्थ—यह लोक आकाश सहित षट् द्रव्यमय है अर्थात् जितने आकाश में जीव द्रव्य, पुद्गल द्रव्य, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, काल द्रव्य, (और छठा आकाश द्रव्य आधाररूप है ही) हैं वह लोकाकाश कहाता है, शेष लोक से परे अनन्त अलोकाकाश है। यहां प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि आकाश के ठीक बीचोंबीच लोक है यह कैसे

* राजू का प्रमाण–इस मध्य लोक में (जिसे लोग पृथ्वी कहते हैं) पचीस कोडाकोडी उद्धारपल्य के जितने समय होते हैं उतने द्वीप समुद्र एक दूसरे को वलयाकार घेरे हुए है। सब के बीच में जंबूद्वीप १ लाख योजन व्यास लिये गोलाकार है। इस को घेरे हुए लवण समुद्र २ लाख योजन चौड़ा है। इस प्रकार दूनी २ चौड़ाई लिये सब द्वीप समुद्र हैं जितना लम्बा क्षेत्र सब द्वीप समुद्रोंका दोनों तरफ का हो सो ही राजू का प्रमाण है, क्योंकि मध्य लोक १ राजू (पूर्व–पश्चिम) है। इसी को दूसरी तरह से ऐसा भी कह सकते हैं कि कोई देव पहिले समय १ लाख योजन दूसरे समय २ लाख योजन गमन करे इस प्रकार प्रति समय दुगुना २ गमन करता हुआ अढाई सागर अर्थात् २५ कोडाकोडी उद्धार पल्य के जितने समय हों उतने समय तक बराबर चला जाय तब आधा राजू हो, इसे दूना करनेसे जो क्षेत्र हो वही १ राजू का प्रमाण है॥

निश्चय हो? इस का समाधान यह है कि जब लोक से परे सब तरफ अनन्त आकाश है अर्थात् सब तरफ अनंत की गणना लिये एक बराबर आकाश है तो सिद्ध हुआ कि आकाश के अति मध्य भाग में ही लोक है ।

इन छहों द्रव्यों में जीव द्रव्य की संख्या (गणना) अक्षयानन्त है । पुद्गल द्रव्य की परमाणु संख्या जीवोंसे अनन्तानंत-गुणी है । धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य एक एक ही हैं । काल के कालाणु असंख्यात हैं । यह तो इन की संख्या कही, अब इनका संक्षिप्त स्वरूप कहा जाता है:—

जीवद्रव्य वर्णन ।

प्रत्येक जीव चैतन्य अर्थात् ज्ञान-दर्शन लक्षणयुक्त असंख्यात प्रदेशी है । यद्यपि इसका स्वभाव शुद्ध चैतन्य (देखने जानने) मात्र है, तथापि अनादि पुद्गल (द्रव्यकर्म) संयोग से रागद्वेषरूप परिणमन करता हुआ विभावरूप हो रहा है। जिस से इस में स्वभाव विभावरूप ९ प्रकार परणतियां पाई जाती हैं ।

इन नवों प्रकारोंका वर्णन इस प्रकार है:—

(१) जीवत्व—जीव में अपने तथा परपदार्थों के जाननेकी शक्ति है । इसलिये यथार्थ में (निश्चयनय से) इस के एक "चेतना" प्राण है । परन्तु व्यवहार नय से (सांसारिक अशुद्ध अवस्था में) इंद्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छ्वास ४ प्राण हैं । इन चार प्राणों के विशेष भेद १० होते हैं । यथा:— स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र ये ५ इंद्रिय प्राण । मन बल, वचन बल, काय बल ये ३ बल प्राण । १ आयु और १ श्वासोच्छ्वास । इन प्राणों करके यह जीव अनादि काल से जीता है ।

(२) उपयोगत्व—निश्चय नय से जीव चैतन्यमात्र है जिसके व्यवहार नय से ज्ञान-दर्शन दो भेद हैं। तथा विशेष भेद १२ (८ प्रकार ज्ञान और ४ प्रकार दर्शन) हैं। यथा—कुमति, कुश्रुति, कुअवधि, सुमति, सुश्रुति, सुअवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञान। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, और केवलदर्शन।

(३) अमूर्त्तत्व—निश्चय नय से जीव अमूर्तीक अर्थात् स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से रहित है। परन्तु संसार अवस्था में कर्म-नोकर्म अर्थात् सूक्ष्म और स्थूल शरीर सहित होनेसे मूर्तीक है।

(४) कर्तृत्व—शुद्ध निश्चय नय से अपने शुद्ध चैतन्य परिणाम का, अशुद्ध निश्चय नय से अशुद्ध चेतन परिणाम का अर्थात् रागादि भावों का और व्यवहार नय से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय चार घाति कर्मों का तथा आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय चार अघाति कर्मों एवं अष्ट कर्मों का कर्ता है।

(५) भोक्तृत्व—शुद्ध निश्चय नय से शुद्ध चैतन्य परिणाम का अशुद्ध निश्चय नय से अशुद्ध चैतन्य परिणाम अर्थात् रागादि भावों का और व्यवहार नय से अपने शुभाशुभ परिणामों द्वारा बांधे हुए अष्ट प्रकार ज्ञानावरणादि पौद्गलिक कर्मों के फल का तथा स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द रूप जो इन्द्रियों के विषय हैं उन का और धन, स्त्री आदि का भोक्ता है।

(६) स्वदेहपरिमाणत्व—प्रत्येक जीव शुद्ध निश्चय नय से लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है अर्थात् लोकाकाश के प्रदेश गणना में जितने हैं, ठीक उतने उतने ही प्रदेश प्रत्येक

जीव के हैं। परन्तु व्यवहार नय से जैसा छोटा, बड़ा शरीर धारण करता है उसी के आकार उस के आत्मप्रदेश संकोच विस्ताररूप हो जाते है। सिर्फ समुद्घात* अवस्था में आत्मप्रदेश शरीर के बाहिर भी निकलते हैं और सिद्ध अवस्था में चरम अर्थात् अन्तिम शरीर से किंचित् न्यून आकार प्रमाण आत्मप्रदेश रहजाते हैं।

(७) संसारत्व—जब तक जीव कर्ममल युक्त रहता है, तब तक संसारी है। संसारी जीवों के मुख्य दो भेद हैं थावर और त्रस। थावर ५ प्रकार के हैं:-पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, और वनस्पतिकायिक। त्रस चार प्रकार के हैं:—दोइन्द्री-लट शंख आदि, तेइन्द्री-चिऊंटी, खटमल, बिच्छू आदि। चौइन्द्री-मक्खी, भौंरा, मच्छड़ आदि। पंचेन्द्री-पक्षी, पशु, मनुष्य, नारकी, देव आदि। इन के विशेष-भेद ८४ लाख योनि तथा एक सौ साढ़े निन्यानवें लाख कुल कोड़ि हैं।

(८) सिद्धत्व—यदि सामान्य रीति से देखा जाय तो अष्ट कर्मों के नाश होने से जीव के एक आत्मीक, निराकुलित, स्वाधीन सुख की प्राप्ति होती है उस समय शुद्ध चैतन्य गुणयुक्त आत्मा अन्तिम शरीर से किंचित् न्यून आकार से लोक शिखर के अन्त (लोकाग्र) में जा तिष्ठता है और अनंत काल तक इसी सुख अवस्था में रहता है। ऐसी सिद्धि होजाने पर जीव सिद्ध कहाता है। यदि विशेषरूप से कहा जाय तो अष्ट कर्मों के अभाव से उन अष्ट गुणों की प्राप्ति होती है जो अनादि

---

* समुद्घात—जिन कारणों से आत्म प्रदेश शरीर से बाहिर भी निकलें, वे ७ हैं। यथा—कषाय, वेदना, मारणान्तिक, आहारक, वैक्रियक, तैजस और केवल॥

काल से कर्मों से आच्छादित हो रहे थे। यथा—ज्ञानावरण के अभाव से अनन्तज्ञान, दर्शनावरण के अभाव से अनन्त दर्शन, मोहनीय के अभाव से क्षायिक सम्यक्त्व, अंतराय के अभाव से अनंत वीर्य (शक्ति), आयु कर्म के अभाव से अवगाहनत्व, नाम कर्म के अभाव से सूक्ष्मत्व, गोत्र कर्म के अभाव से अगुरु-लघुत्व, और वेदनीय के अभाव से अव्याबाधत्व गुण उत्पन्न होता है।

(९) ऊर्ध्वगतित्व—जीव जब कर्मबंध से सर्वथा रहित हो जाता है तब ऊर्ध्वगमन कर एक ही समय में सीधा लोकाग्र (मोक्षस्थान) में जा पहुँचता है। जब तक कर्म सहित रहता है तब तक मरने पर (स्थूल शरीर छोड़नेपर) दूसरा शरीर धारण करने के लिये आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशान चारों विदिशाओं के सिवाय पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर चारों दिशाओं में तथा ऊर्ध्व-अधो (ऊपर-नीचे) श्रेणीबद्ध (सीधा) गमन करता और पहिले, दूसरे, तीसरे या चौथे समय में जन्म (नया स्थूल शरीर) धारण कर लेता है, अन्तराल में तीन समय से अधिक नहीं रहता।

सारांश उपर्युक्त नवों प्रकारों का यह है कि आत्मा का स्वाभाविक आकार सिद्ध समान और गुण शुद्धचैतन्य केवल-ज्ञान है। जब तक यह स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त नहीं होता तब तक वह अनादि कर्म संयोगसे अनेक शरीररूप और मति, श्रुतादि, विकल ज्ञान रूप रहता है।

पुद्गलद्रव्य वर्णन ।

यह पुद्गल द्रव्य जड़ (अचैतन्य) है। स्पर्श* रस, गंध, वर्ण, गुणोंकरि युक्त है तथा इस में शब्द, बंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, द्विकोण, त्रिकोण, गोल आदि संस्थान (आकार), खंड, अंधकार, छाया, प्रकाश, आतप आदि पर्यायें होती रहती हैं। पुद्गल की स्वभावपर्याय, परमाणु और स्वभावगुण, दो अविरुद्ध स्पर्श, एक रस, एक गंध, एक वर्ण ये ५ हैं जो परमाणु में होते हैं। विभावपर्याय स्कंध और विभावगुण स्पर्श से स्पर्शान्तर, रस से रसान्तर आदि २० हैं।

पुद्गल के अणु से लेकर महास्कंध वर्गणा तक कार्माण वर्गणा, तैजस वर्गणा, आहारक वर्गणा, भाषा वर्गणा, मनो वर्गणा आदि २३ भेद हैं। हर प्रकार की वर्गणाओं से जुदे जुदे प्रकार के कार्य होते हैं। जैसे कार्माण वर्गणा से ज्ञानावरणादि कर्म, आहारक वर्गणा से औदारिक-वैक्रियक-आहारक शरीर, भाषा वर्गणा से भाषा, मनो वर्गणा से मन और महास्कंध वर्गणा से यह अविनाशी, अनादि-अनंत लोक बना हुआ है।

पुद्गल परमाणुओं की संख्या जो जीवों से अनंतानंत गुणी है वह इस प्रकार है कि कितनेक पुद्गल तो खुले हुए परमाणु रूप और कितनेक संख्यात, असंख्यात, अनंत परमाणुओंसे मिलकर स्कंधरूप लोक में भरे हुए हैं। सिवाय इसके प्रत्येक जीव के साथ अनन्त अनन्त पुद्गल नोकर्म शरीर (स्थूल शरीर) तथा कर्म शरीर (सूक्ष्म शरीर) की दशा

---

* स्पर्श ८ प्रकार–शीत-उष्ण, रूक्ष-सचिक्कण, हलका-भारी, नरम-कठोर। रस ५ प्रकार–खट्टा, मीठा, चिरपिरा, कडुवा, कषायला। गंध २ प्रकार–सुगंध, दुर्गंध ॥ वर्ण ५ प्रकार–श्वेत, पीला, हरित, लाल, काला ॥

में बंधे हुए है। इस तरह जीवों की अक्षयानंत संख्या से पुद्गल परमाणुओं की संख्या अनन्तानन्त है। गुणी

धर्म द्रव्य वर्णन।

यह धर्मद्रव्य पुद्गल और जीवोंको गमन करने में उदासीन रूप से गति सहकारी है अर्थात् चलते हुए जीव-पुद्गलों को चलन-सहाई है, किन्तु जो स्थिर हों उन्हें धर्म द्रव्य हठात् (जबर्दस्ती) नहीं चलाता। जैसे पानी मछलियों के चलने में सहायक होता है किन्तु प्रेरक नहीं होता॥ यह द्रव्य असंख्यात प्रदेशी, जड़, अरूपी और एक है। लोकाकाशके बराबर है, इसमें केवल स्वभाव पर्याय होती है, विभाव पर्याय नहीं होती।

अधर्म द्रव्य वर्णन।

यह अधर्मद्रव्य पुद्गल और जीवोंको स्थित होते (ठहरते) हुए उदासीन रूप से स्थिति सहाई है अर्थात् जो पदार्थ ठहरे, उसे ठहरने में सहायता देता है। किन्तु चलते हुए पदार्थ को हठात् नहीं ठहराता। जैसे पथिक के ठहरने के लिये वृक्ष की छाया स्थिति-सहाई है किन्तु प्रेरक होकर नहीं ठहराती। यह द्रव्य असंख्यात प्रदेशी जड़, अरूपी और एक है। लोकाकाश के बराबर है। इस में स्वभाव पर्याय होती है, विभाव पर्याय नहीं होती।

काल द्रव्य वर्णन।

यह काल द्रव्य वर्तना-लक्षण युक्त है। प्रत्येक द्रव्यके वर्तने अर्थात् पर्याय से पर्यायान्तर होने में सहकारी उदासीन कारण

है। व्यवहार नय से इसकी पर्याय समय, घटिका (घड़ी), दिन आदि है, क्योंकि काल द्रव्य के निमित्त से ही द्रव्यों में समय समय सूक्ष्म पर्यायें होती हैं। आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक परमाणु के मन्दगति से गमन करने में जितना काल लगता है, वही काल द्रव्य की समय नामक सब से छोटी पर्याय है। इसी से आवली, मुहूर्त, दिन, वर्ष, कल्प काल आदि का प्रमाण होता है। यह द्रव्य जड़ अरूपी है इसके अणु (जिन्हें कालाणु कहते हैं) गिन्ती में असंख्यात जुदे जुदे हैं। यह धर्म, अधर्म द्रव्य की नाँई काय रूप एक नहीं है। किन्तु लोकाकाश, धर्म, अधर्म तथा एक जीवद्रव्य के बराबर ही असंख्यात कालाणु इसके अलग २ हैं अर्थात् लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक एक कालाणु स्थित है। इस में स्वभाव पर्याय होती है, विभाव पर्याय नहीं होती।

आकाश द्रव्य वर्णन।

यह आकाश द्रव्य जीव, पुद्गलादि पांचों द्रव्यों को रहने के लिये अवकाश देता है, इस में अवगाहनत्व गुण है। यह जड़, अरूपी, अनंत प्रदेशी एक द्रव्य है। इस में स्वभाव पर्याय होती है, विभाव पर्याय नहीं होती। इसके मध्यभाग के जिन असंख्यात प्रदेशों (जितने क्षेत्र) में जीव, पुद्गलादि पंच द्रव्य भरे हुए (स्थित) हैं उसे लोकाकाश कहते हैं; शेष अनंत अलोकाकाश कहाता है।

उपर्युक्त छह द्रव्यों में ४ द्रव्य उदासीन, स्वभावरूप और स्थिर हैं। केवल जीव-पुद्गल ही में लोकभर में भ्रमण करने की शक्ति है, इससे इन दोनों को क्रियावान कहते हैं शेष ४

द्रव्य निष्क्रिय हैं, पुद्गल जड़ है इसलिये चाहे स्वभाव अवस्था में रहो, चाहे विभाव अवस्था में रहो उसे कुछ सुख दुख नहीं होता, केवल एक जीव द्रव्य ही ऐसा है जिसे स्वभाव अवस्था में सुख-शांति और विभाव अवस्था में दुख होता है, क्योंकि यह चैतन्य है ।

जीवात्मा अनादि काल से पुद्गल कर्म के संबंध से राग-द्वेष रूप परणमता, चतुर्गति में भ्रमण करता हुआ नाना प्रकार दुखी हो रहा है । जब पूर्वबद्ध (पहिले का बांधा हुआ) कर्म उदय काल में सुख*दुख रूप फल देता है तब जीव उस फल के अनुसार पुनः रागी-द्वेषी होकर, अपने मन, वचन, काय शुभ अथवा अशुभ रूप प्रवर्ताकर नये पुद्गल कर्मों का बंध करता है । इस प्रकार जीव के प्राचीन कर्म उदय में आकर खिरते जाते और फिर नये कर्म बंधते जाते हैं, जिस से कर्मबंध की संतान नहीं टूटती और जीव को दही बिलोने की मथानी की नाँई सांसारिक जन्म-मरण के चक्कर खाने पड़ते हैं छुटकारा नहीं होता । जिस प्रकार मथानी से लिपटी हुई रस्सी का एक छोर खींचा जाय और दूसरा छोड़ा दिया जाय तो वह चक्कर रहित हो सकती है । यदि उसी तरह जीव अपने पूर्वबद्ध कर्मों के उदय आनेपर शान्त भाव धारण करे और रागी-द्वेषी न हो तो प्राचीन कर्म अल्प रस देकर या सत्ता ही में रस रहित होकर बिना रस दिये हुए उदय में आकर झड़ जांय और नवीन कर्मोंका बंध न होवे । ऐसा होने से

---

* साता वेदनीय के उदय होवे पर जीव की इच्छानुकूल अन्य पदार्थों का परिणमन सुख कहाता है, यथार्थ में यह भी सच्चा सुख नहीं, सुखाभास मात्र है, क्योंकि यह स्वाधीन, शाश्वता आत्मजनित नहीं है, पराधीन क्षणभंगुर और पर जनित है । असाता वेदनीय के उदय होनेपर जीवकी इच्छा के प्रतिकूल अन्य पदार्थों का परिणमन दुःख कहाता है ॥

क्रमशः कर्मोंका अभाव होकर जीव निष्कर्म (शुद्ध) अवस्था को प्राप्त हो सकता है।

जब परीक्षा तथा स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा अनुभव किया जाता है तो निश्चय होता है कि आत्माका असली स्वभाव ज्ञान-दर्शन मात्र है, इसमें राग द्वेष की लहरें मोह (ममत्व) भाव वश पुद्गल में अपनापन माननें के कारण उठती हैं, और यही मोह कर्मबंध का मूल है, जैसे खानि में अनादि कालसे सुवर्ण, किट्टिका (पाषाण) युक्त अशुद्ध हो रहा है, तैसे ही जीव मोह के निमित्त से पुद्गल कर्म मिश्रित संसार अवस्था को अनादि काल से धारण कर रहा है* अपने स्वरूप को भूल, मनुष्य, पशु, देव, नारकी गोरा, काला आदि कर्म जनित पर्यायों को ही अपना आत्म-स्वरूप निश्चय करता (मानता) हुआ बहिरात्मा हो रहा है। जिससे ज्ञान का पुंज होते हुए भी किंचित् मति-श्रुत ज्ञानी, पूर्ण सुख का पुंज होते हुए भी अति दुखी और आत्यंतिक शुद्ध (सिद्ध) अवस्था का पात्र होते हुए भी एकेन्द्री, दो-इन्द्री, तेइन्द्री आदि तुच्छ जीव हो रहा है। यदि वह जीव परीक्षा पूर्वक इन सब बातोंपर विचार करे और अपने स्वभाव-विभाव का बोध प्राप्त कर उसपर दृढ विश्वास लावे तो

---

* इसी बात को प्रकारान्तर से अन्यमतावलम्बी भी कहते हैं। कोई तो कहते हैं कि ब्रह्म, माया के वश संसार में सगुण (सशरीर-अशुद्ध) अवस्था में रहता है और माया के अभाव होनेपर निर्गुण (शुद्ध) ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। कोई कहते हैं कि पुरुष से जब तक प्रकृति (कर्म) का संयोग रहता है तब तक वह संसारी रहता है प्रकृति के दूर होने से शुद्ध हो जाता है। कोई कहते हैं कि आत्मा के पीछे जब तक शैतान लगा हुआ है तब तक वह दुनियां में रहता है शैतान के दूर होनेपर रूह में रूह मिलजाती है। इसप्रकार इन सब के कहने का भाव [illegible] उपर्युक्त सिद्धान्त से बहुत मिलता जुलता सा ही है॥

अपने खरूप का ज्ञाता अन्तरात्मा हो सकता है। और फिर राग द्वेष को दूर कर शुभाशुभ कर्म करना छोड़ साम्यभाव धारण करे तो निष्कर्म हो अपने शुद्ध स्वभाव को पाकर कृतकृत्य परमात्मा हो सकता है ॥

सम्पूर्ण संसारी जीवों के भव्यत्व, अभव्यत्व उपादान शक्तियों के कारण भव्य, अभव्य दो भेद हैं। ये शक्तियां जीवों में स्वयं हैं किसी की बनाई हुई नहीं हैं, जैसे मूंग या चने कोई तो सीझनेवाले और कोई घोरड़ अर्थात् न सीझनेवाले स्वयं ही होते हैं ॥

भव्य—जिन में मोक्ष प्राप्ति होने (सीझने) की शक्ति होती है। ये तीन भेदरूप हैं:- (१) निकट भव्य—जिन को सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय के बाह्य कारण मिलकर अल्पकाल में ही मोक्ष हो जाता है। (२) दूरभव्य—जिन को उपर्युक्त प्रकार से दीर्घ काल में मोक्ष होता है। (३) दूरातिदूर (दूरानदूर) भव्य—जिन को बाह्य कारण सम्यग्दर्शनादि के अनंत काल तक नहीं मिलते और न मोक्ष होता है, तथापि इन में भव्यत्व शक्ति है।

अभव्य—जिन में मोक्ष प्राप्त करने की उपादान शक्ति ही नहीं, इन को सम्यग्दर्शनादि प्राप्ति के बाह्य कारण मिलनेपर भी मोक्ष नहीं होता।

निकट भव्य तथा दूर भव्य, पुत्र होने की उपादान शक्तियुक्त सधवा स्त्री के समान, दूरातिदूर भव्य पुत्र होनेकी शक्तियुक्त विधवा स्त्री के समान और अभव्य बांझ स्त्री के समान मोक्ष प्राप्तिके विषयमें जानो।

जीवोंकी मोक्ष होने, न होने की अंतरंग उपादान शक्तियां हम, तुम अल्पज्ञ पुरुष यथार्थ रूप से नहीं जान सकते। इसलिये

सदा पुरुषार्थ पूर्वक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने के कारण मिलाना चाहिये। भावार्थ— जिन कारणों से आत्मबोध हो उन कारणों के मिलाने का सदा पूर्ण प्रयत्न करते रहना हरएक मनुष्य-का कार्य है, जिससे मोक्षकी प्राप्ति हो जाय।

सप्त तत्त्व वर्णन।

जैन दर्शन में जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व माने गये हैं। इनमें जीव, अजीव इन दो के अतिरिक्त शेष पांच तत्वों की उत्पत्ति "जीवाजीव विशेषाः" अर्थात् जीव और अजीव (पुद्गल) के संयोग तथा वियोग की विशेषता से है। जीव-पुद्गल का संयोग रहना संसार, और जीव-पुद्गल का वियोग हो जाना मोक्ष है। इसी कारण मोक्ष प्रकरण में ये सप्त तत्त्व अति ही कार्यकारी हैं ये आत्मा के स्वभाव विभाव वतलाने के लिए दर्पण के समान हैं। इनके ज्ञान-श्रद्धान विना जीव अपनी असली स्वाभाविक सुख अवस्था को नहीं पासकता, अतएव इन का स्वरूप भली-भांति जानना अत्यावश्यक है।

सब से प्रथम इन जीवादि तत्त्वों का विशेष स्वरूप जानना चाहिये क्योंकि इनको विशेष रूप से जाने विना दृढ़ विश्वास नहीं हो सकता और दृढ़ निश्चय हुए विना कर्तव्या-कर्तव्य की यथार्थ प्रवृति नहीं हो सकती। इन सप्त तत्त्वों के जानने का मुख्य उद्देश यही है कि जिससे आत्मा के स्वभाव-विभाव का श्रद्धान ऐसा हो जाय कि जीव से पुद्गल (कार्माण वर्गणा) के सम्बन्ध होनेके कारण आस्रव और बंध हैं तथा जीव से पुद्गल (कर्म वर्गणा) के अलग होने के कारण, संवर, निर्जरा हैं इसलिये संसार के मूलभूत आस्रव,

बंध के कारणों को दूर करने और संवर, निर्जरा के कारणों को मिलाने से मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार विशेष रूप से आत्म श्रद्धान का होना सम्यग्दर्शन है। सो यह बात सात तत्त्वों के जाने विना होना असंभव है। इसी कारण स्पष्ट रूप से आत्मश्रद्धान करानेवाले असाधारण कारण "तत्त्वश्रद्धान" को सूत्रकारोंने सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा है। और इन सप्त तत्त्वों के बोध कराने को निमित्त कारण देव, शास्त्र, और गुरु हैं, इसीलिये आरंभिक दशा में देव, शास्त्र, गुरु के श्रद्धान को शास्त्रकारोंने सम्यग्दर्शन कहा है, क्योंकि सुदेव, सुशास्त्र, सुगुरु के निमित्त विना इन जीवादि सप्त तत्त्वों का उपदेश मिलना या बोध होना असंभव है। इसप्रकार उत्तरोत्तर कारणों से जब यथार्थ आत्म श्रद्धान हो जाता है तब ये सम्यक्त्व के सभी लक्षण अनुभव में एक से आने लगते हैं। अब यहां सप्त तत्त्वों का विशेष वर्णन किया जाता है॥

जीव, अजीव (पुद्गल आदि पंच जड़ पदार्थ) दो तत्त्वों का वर्णन तो द्रव्यों के प्रकरण में हो ही चुका है, शेष ५ तत्त्वों का वर्णन इस प्रकार है:—

आस्रव तत्त्व वर्णन।

जीवों की मिथ्यात्व, अविरत, कषाय भावों से युक्त मन, वचन, काय की प्रवृत्ति होने से अथवा उनके अभाव में पूर्वबद्ध कर्मों के उदय होने से केवल योगों द्वारा आत्मप्रदेशों-में चंचलता होती है जिस से पुद्गल परमाणु आत्मा से बद्ध होने के सन्मुख होते हैं यही द्रव्यास्रव है और जिन परिणामों या भावों से पुद्गल परमाणु (कार्माण

वर्गणा) बन्ध के सन्मुख होते हैं उन भावों को भावास्रव कहते हैं। इस भावास्रव के विशेष भेद ५७ हैं, जो नीचे लिखे अनुसार हैं.

मिथ्यात्व—अतत्त्व श्रद्धान को कहते हैं, अर्थात् यथार्थ तत्त्वों तथा उनके यथार्थ स्वरूप से उल्टे, अयथार्थ तत्त्वों पर तथा उनके अयथार्थ स्वरूप पर विश्वास करना मिथ्यात्व है। इसके ५ भेद हैं यथा:-(१) एकान्त मिथ्यात्व—पदार्थों में अनेक धर्म हैं, उन में से केवल एक ही को मानना, शेष सब का अभाव मानना सो एकान्त मिथ्यात्व है। जैसे जीव-पुद्गल आदि द्रव्य अपने द्रव्यत्व की अपेक्षा नित्य अर्थात् अनादि अनंत हैं, न नये उत्पन्न हुए हैं, न कभी नष्ट होंगे, परन्तु पर्याय अपेक्षा अनित्य भी हैं अर्थात् इनकी पर्याय पलटती रहती है, एक पर्याय नष्ट होती, और दूसरी उत्पन्न होती है। अब यदि इन में नित्य या अनित्य एक ही धर्म मानकर दूसरे का अभाव माना जाय, तो वस्तु का यथार्थ बोध नहीं हो सकता, न कोई क्रिया सध सकती है, क्योंकि वस्तु तो नित्य-अनित्य दोनों गुण युक्त है, अतएव केवल एक गुण युक्त ही मानलेना एकान्त मिथ्यात्व है। लोकस्थित सभी पदार्थों में अनेकानेक धर्म पाये जाते हैं, यद्यपि वचनद्वारा एक समय में एक ही धर्म कहा जा सकता है, तथापि अपेक्षा-पूर्वक कहने से अन्य धर्मोंका अभाव नहीं ठहरता, जहां एक धर्म मुख्यता से कहा जाय वहां दूसरे धर्मों की गौणता समझना चाहिये। ऐसा होने से ही पदार्थों में रहनेवाले अन्य अन्य धर्मों का भी बोध होकर यथार्थ प्रवृत्ति होती है। जैसे ग्वालिन दही बिलोते समय रई (मथानी) की रस्सी के एक हाथ से पकड़े हुए छोर को अपनी ओर

खींचती और दूसरे हाथ में पकड़े हुए छोर को ढीला कर देती है, सर्वथा नहीं छोड़ देती, तभी दही का सार (घृत) हाथ लगता है। यदि दूसरे हाथ से सर्वथा रस्सी छोड़ दी जाय तो कदाचित् भी घी की प्राप्ति नहीं हो सकती॥ इसी प्रकार अपेक्षा रहित एक ही धर्म को लेकर पदार्थ को सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य, सर्वथा एक, सर्वथा अनेक, सर्वथा द्वैत, सर्वथा अद्वैत मानने से कुछ भी कार्य की सिद्धि नहीं हो सक्ती॥ (२) विनयमिथ्यात्व—सुगुरु-सुदेव-सुधर्म, कुगुरु-कुदेव-कुधर्म इन सब को एक सदृश मानना-पूजना या सच्चे तत्त्वोंको झूठे तत्त्वों को एकसा समझना, दोनोंको एकसी महत्त्वकी दृष्टि से देखना-मानना यह सब विनय मिथ्यात्व है॥ (३) विपरीतमिथ्यात्व-देव, गुरु, धर्म तथा तत्त्वों का जिस प्रकार यथार्थ स्वरूप है, उस से उल्टा विश्वास करलेना अर्थात् रागी-द्वेषी कुदेवों * में देव का, परिग्रह धारी कुगुरुओं में गुरु का, हिंसामयी अधर्म में धर्म का और संसार के कारण-रूप कुतत्त्वों में सुतत्त्वों का श्रद्धान करलेना, यह सब विपरीत-मिथ्यात्व है॥ (४) संशयमिथ्यात्व-अनेक मतों के देव, गुरु, शास्त्र, तत्त्वादि सुन कर सत्य-असत्य के निर्णय की इच्छा न करना और विचारना कि अनेक मत तथा अनेक लोग अनेक तरहसे धर्मका स्वरूप वर्णन करते हैं, नहीं मालूम,

---

* जिन देवों के पास राग का चिन्ह स्त्री और द्वेष का चिन्ह शस्त्र होवे वे कुदेव हैं। जिन गुरुओं के अंतरंग में राग द्वेष और बाह्य वस्त्र, धन-धान्यादिक परिग्रह से प्रीति हो, जो गुरुपने का अभिमान रखनेवाले और याचना करने-वाले हों वे सब कुगुरु हैं। जिन धर्मक्रियाओं में रागादि (भाव हिंसा) की वृद्धि तथा त्रस स्थावर हिंसा (द्रव्य हिंसा) हो, वह कुधर्म अथवा जिन शास्त्रों में हिंसा की पुष्टि की गई हो, वे कुशास्त्र हैं। इसी प्रकार जिन तत्त्वों के मानने और उनके अनुसार चलने से संसार की परिपाटी बढ़ती हो, वे कुतत्त्व हैं।

इसमें कौन सत्य है और कौन असत्य है ? इस प्रकार निर्णय की इच्छा रहित सन्देह रूप रहना सो संशय मिथ्यात्व है ॥५॥ अज्ञानमिथ्यात्व–देव-कुदेव, धर्म-कुधर्म, वक्ता-कुवक्ता, शास्त्र-कुशास्त्र, तत्त्व-कुतत्त्व, जिनमन्दिर–अन्यमन्दिर, वीतराग-प्रतिमा–सरागप्रतिमा, सच्चे साधु-असाधु, संयम-असंयम आदि संसार तथा मोक्ष के कारणों के विषय में विवेक रहित रहना सो अज्ञान मिथ्यात्व है ॥

अविरत–पापों को त्याग न करना अविरत कहाता है। इस के १२ भेद हैं। स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन, इन छहों को वश न करना, इन के विषयों में लोलुपी बने रहना तथा पृथ्वी कायिक, अप् कायिक, तेज कायिक, वायु कायिक, वनस्पति कायिक, त्रस कायिक, इन छः काय के जीवों की रक्षा न करना, ये बारह अविरत हैं।

कषाय–जो आत्मगुण को घाते अथवा जिस से आत्मा मलिन (विभावरूप) होकर बंध अवस्था को प्राप्त हो सो कषाय है। इस के २५ भेद हैं ॥ ४ अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ–यह कषाय अनंत संसार के कारण स्वरूप मिथ्यात्व में तथा अन्याय रूप क्रियाओं में प्रवृत्ति करानेवाली हैं। इस के उदय वश जीव सप्त व्यसनादि पापों को निरर्गल हो सेवन करता है (भावदीपक)॥ ४ अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ–इस के उदय में श्रावक के व्रत रंच-मात्र भी नहीं होते, तथापि अनंतानुबंधी के अभाव और सम्यक्त्व के प्रभावसे अन्याय रूप विषयों (सप्तव्यसन सेवन) में प्रवृत्ति नहीं होती। इस कषाय के उदय से न्यायपूर्वक–विषयों में अति-लोलुपता रहती है ॥ ४ प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ–यह कषाय यद्यपि मंद है तथापि इस के उदय

होते हुए महाव्रत (मुनि व्रत या सकल संयम) नहीं हो सकता, इसके क्षयोपशम के अनुसार देशसंयम (श्रावक व्रत) हो सकता है ॥ ४ संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ—यह कषाय अति मन्द है, मुनिव्रत के साथ २ इस कषाय का उदय होते हुए भी यह संयम को बिगाड़ नहीं सकती, केवल इस के उदय में यथाख्यात चारित्र नहीं हो सकता ॥ ६ हास्यादिक—१ हास्य-जिस के उदय होते हँसी उत्पन्न हो । २ रति-जिस के उदय होते पदार्थों में प्रीति उत्पन्न हो । ३ अरति-जिस के उदय होते पदार्थों में अप्रीति उत्पन्न हो । ४ शोक-जिस के उदय होते चित्त खेदरूप हो, उद्वेग उत्पन्न हो । ५ भय-जिस के उदय होते डर लगे । ६ जुगुप्सा-जिस के उदय होते पदार्थों में घृणा उत्पन्न हो ॥ ३ वेद—१ पुरुषवेद-जिस के उदय होते स्त्री से रमने की इच्छा हो । २ स्त्रीवेद जिस के उदय होते पुरुष से रमने की इच्छा हो । ३ नपुंसक वेद-जिस के उदय होते स्त्री-पुरुष दोनों से रमने की इच्छा हो ।

योग—मन, वचन, काय द्वारा आत्म प्रदेशों के कम्पायमान होने को योग कहते हैं । ये १५ प्रकार के हैं ॥ ४ मनोयोग—मन की सत्य रूप प्रवृत्ति सो सत्यमनोयोग है । मन की असत्य रूप प्रवृत्ति सो असत्यमनोयोग है । मन की सत्य-असत्य दोनों मिश्र रूप प्रवृत्ति सो उभयमनोयोग है । मन की सत्य-असत्य कल्पना रहित प्रवृत्ति सो अनुभयमनोयोग है ॥ ४ वचनयोग—वचन की सत्य रूप प्रवृत्ति सो सत्यवचनयोग है । वचन की असत्य रूप प्रवृत्ति सो असत्यवचनयोग है । सत्य-असत्य मिश्ररूप वचन की प्रवृत्ति सो उभयवचनयोग है । सत्य-असत्यकल्पनारहित वचन की प्रवृत्ति सो अनुभय वचन योग है ॥ ७ काययोग-

औदारिक शरीर की प्रवृत्ति सो औदारिक काययोग है। औदारिक मिश्र काय योग की प्रवृत्ति सो औदारिक मिश्र काययोग है। वैक्रियक शरीर की प्रवृत्ति सो वैक्रियक काय-योग है। वैक्रियक मिश्र काय की प्रवृत्ति सो वैक्रियक मिश्र काययोग है। आहारक शरीर की प्रवृत्ति सो आहारक काययोग है। आहारक मिश्र काय की प्रवृत्ति सो आहारक मिश्रकाययोग है। कार्माण शरीर की प्रवृत्ति सो कार्माण काययोग है।

जब मन-वचन-काय के योग तीव्र कषाय रूप होते हैं तब पापास्रव होता है और जब मन्द कषाय रूप होते हैं तब पुण्या-स्रव होता है। जब कषाय युक्त योगों की प्रवृत्ति होती है तब सांपरायिक आस्रव होता है और जब कषाय रहित पूर्वबद्ध कर्मानुसार योग चलते हैं, तब ईर्यापथ आस्रव होता है। सांपरायिक आस्रव में प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध चारों प्रकार बंध होता है परंतु ईर्यापथ आस्रव में केवल प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध दो ही प्रकार का बंध होता है॥

---

४ बंध तत्त्व वर्णन।

जीव के रागादि रूप अशुद्ध भावों के निमित्त से पौद्गलिक कार्माण वर्गणाओं का आत्मा के प्रदेशों से एक क्षेत्रावगाह रूप होना सो बंध कहलाता है। बंध ४ प्रकार से होता है, प्रदेशबंध,

* औदारिक काययोग की प्रवृत्ति पर्याप्त मनुष्य-तिर्यच के और औदारिक मिश्र की अपर्याप्त मनुष्य तिर्यच के। वैक्रियक काययोग की प्रवृत्ति पर्याप्त देव-नारकी के और वैक्रियक मिश्र की अपर्याप्त देव नारकी के। आहारक काय योग की प्रवृत्ति छठे गुणस्थान में पर्याप्त आहारक पुतला के और आहारक मिश्र की अपर्याप्त आहारक पुतले के। कार्माण काय योग की प्रवृत्ति अनाहारक अवस्था में तथा केवल समुद्घात के मध्य के ३ समयों में होती है॥

प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध॥ (१) प्रदेश बंध-जीव के मन, वचन, काय की हीनाधिक प्रवृत्ति के अनुसार कर्म वर्गणाओंका आत्म प्रदेशों से एक क्षेत्रावगाह रूप होना सो प्रदेश बंध है॥ सर्व संसारी जीवों के कार्माण वर्गणाओं का बन्ध प्रत्येक समय में अभव्यराशि से अनन्त गुणा और सिद्ध राशि के अनन्तवें भाग ऐसे मध्य अनन्तानन्त के प्रमाण को लिये हुए होता है। इन समयप्रवद्ध वर्गणाओं में ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों का अलग अलग हीनाधिक विभाग होता है। वह विभाग या बँटवारा इस प्रकार है, सब से अधिक वेदनीयका। उस से कुछ कम मोहनीयका। उस से कुछ कम ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय तीनों का बराबर बराबर। इन से कुछ कम नाम, गोत्र दोनों का बराबर बराबर। और सब से कम आयु कर्म का विभाग होता है॥ प्रतिसमय बंधी हुई कार्माण वर्गणाओं में केवल आयुबंध के योग्य त्रिभाग के अंतर्मुहूर्त काल को छोड़ शेष समयों में सात-कर्म रूप ही बँटवारा होता है, और आयु बंध के योग्य त्रिभाग के अंतर्मुहूर्त काल* में ८ कर्म रूप बँटवारा होता है॥ (२) प्रकृतिबंध-प्रत्येक कर्म के बँटवारे में आई हुई वर्गणाओं में आत्मगुण के घातने की पृथक् पृथक् शक्तियों

---

* वर्तमान आयु के दो भाग बीत जाने पर तीसरे भाग के आरंभ के अंतर्मुहूर्त में आयु बंध होने की योग्यता होती है। यदि वहां बंध न हो तो उस शेष एक भाग के दो तिहाई काल बीत जाने पर शेष तीसरे भाग के आरंभ के अंतर्मुहूर्त में आयु बंधकी योग्यता होती है। इस प्रकार ८ त्रिभागों में आयु बंधकी योग्यता होती है, यदि इन आठों में बंध न हो तो आवली का असंख्यातवां भाग मात्र समय मरने में शेष रहे उस के पूर्व अंतर्मुहूर्त में अवश्यही आयु का बंध होता है। प्रगट रहे कि जिस त्रिभाग में आयुका बंध हो जाता है उस में तथा उस के पीछे के त्रिभागों के आरंभिक अंतर्मुहूर्त काल में आठ कर्म रूप बँटवारा अवश्य होता है॥

का उत्पन्न होना सो प्रकृति बंध है, जैसे ज्ञानावरणी में ज्ञान आच्छादने की शक्ति, दर्शनावरणी में दर्शन आच्छादने की शक्ति, मोहनीय में आत्म ज्ञान के होने देने में असावधानी कराने की शक्ति, अन्तराय में वीर्य अर्थात् आत्मबल के उत्पन्न न होने देने की शक्ति, आयुकर्म में आत्मा को शरीर में स्थित रखने की शक्ति, नाम कर्म में अनेक प्रकार शरीर रचने की शक्ति, गोत्र कर्म में नीच ऊंच गोत्र में उत्पन्न कराने की शक्ति, वेदनीय कर्म में सांसारिक सुख दुख अनुभव कराने की शक्ति होती है। यह अष्ट कर्मों के सामान्य प्रकृति बंध का संक्षिप्त स्वरूप कहा. विशेष तथा उत्तर प्रकृतियों के बंध का स्वरूप श्रीगोमट्टसारजी के कर्मकांडसे जानना। (२) स्थितिबंध—कषाय की तीव्रता—मन्दता के अनुसार उन कर्म वर्गणाओं में आत्मा से बंध रूप रहने के काल की मर्यादा का पड़ जाना स्थितिबंध है। इस में उत्कृष्ट स्थिति ज्ञानावरणी-दर्शनावरणी-अंतराय और वेदनीय की ३० कोड़ाकोड़ी सागर की, नाम गोत्रकी २० कोड़ाकोड़ी सागर की, मोहनीय की ७० कोड़ाकोड़ी सागर की (चारित्र मोहनीय की ४० कोड़ाकोड़ी सागर की और दर्शन मोहनीय की ७० कोड़ाकोड़ी सागर की) तथा आयु की ३३ सागर की पड़ सकती है। जघन्यस्थिति ज्ञानावरणी-दर्शनावरणी-मोहनीय-अन्तराय और आयु की अंतर्मुहूर्त, नाम—गोत्र की ८ मुहूर्त और वेदनीय की १२ मुहूर्त की पड़ सकती है॥ (४) अनुभागबंध-कषायों की तीव्रता, मन्दता के अनुसार उन कर्मवर्गणाओं में तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर रस (फल) देने की शक्ति का पड़ना अनुभाग बंध कहाता है। यह रस-शक्ति घातिया कर्मों में शैल-अस्थि-दारु-लतारूप, अघातिया

कर्मों की पाप प्रकृतियों में हालाहल-विष-नीम-कांजी-रूप और पुण्य प्रकृतियों में अमृत-शर्करा-खांड़-गुड़ रूप इस तरह चार चार प्रकार की होती है।

योगों की प्रवृत्ति से प्रदेश-प्रकृति बंध और कषायों की प्रवृत्ति से स्थिति-अनुभाग बंध होता है। इसलिये जब कषाय-युक्त योगों की प्रवृत्ति होती है तब प्रकृति-प्रदेश-स्थिति-अनुभाग चारों प्रकार का बंध होता है। यह चारों प्रकार का बन्ध दशवें सूक्ष्म सांपराय गुण स्थान तक होता है ऊपर के गुणस्थानों में कषायों का अभाव होने से केवल योगों की ही प्रवृत्ति होती है तब प्रदेश-प्रकृति रूप दोही प्रकार का बंध होता है इन योग-कषायों की विशेषता से अष्ट कर्मों के बंध में जो विशेषता होती है उसका सारांश इस प्रकार है:— योगों के अधिक चलने से अधिक कार्माण वर्गणाओं का प्रदेशबंध-प्रकृतिबंध होता है और कम चलने से कम होता है। कषायों की तीव्रता से पाप रूप १०० प्रकृतियों में अनुभाग अधिक और ६८ * पुण्य प्रकृतियों में अनुभाग कम तथा कषायों की मन्दता से ६८ पुण्य प्रकृतियों में अनुभाग अधिक और १०० पापप्रकृतियों में अनुभाग कम पड़ता है। इसी प्रकार तीव्र कषाय से मनुष्य, तिर्यंच, देव इन तीनों आयु की स्थिति कम और शेष सर्व कर्म प्रकृतियों की स्थिति अधिक पड़ती है

---

* चारों घातिया कर्मों की ४७ प्रकृतियां तो पापरूप ही हैं, अघातियों में शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र तथा सातावेदनीय आदि ६८ पुण्य प्रकृतियां और अशुभ आयु, अशुभ नाम, अशुभ गोत्र तथा असाता वेदनीय आदि ५३ प्रकृतियां पापरूप हैं। इस प्रकार ८ कर्मों की १०० प्रकृतियाँ पाप रूप और ६८ पुण्यरूप हैं। यद्यपि अष्ट कर्मों की कुल प्रकृतियां १४८ ही हैं तथापि वर्ण रसादि की २० प्रकृतियां पाप-पुण्य दोनों रूप ही होती हैं। इन सब के नाम स्वरूप, बंध के विशेष भेदादि श्रीगोमट्टसारजीसे जानना ॥

और मन्द कषाय होने से इन तीनों आयु की स्थिति अधिक और शेष कर्म प्रकृतियों की स्थिति कम पड़ती है।

यहां यदि कोई सन्देह करे कि जड़ कर्मों में यह क्रिया आपही आप कैसे हो जाती है? तो इसका उत्तर यह है कि जैसे एक काल में ग्रहण किया हुआ अन्न पेट में पहुंच कर वायु, पित्त, कफ, रस, रुधिरादि धातु-उपधातु रूप परणमता और उस में पचने के काल की स्थिति तथा वायु, पित्त, कफादि रूप मन्द-तेज रसशक्ति उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार जीव के शुभाशुभ भावों का निमित्त पाकर कार्माण वर्गणायें आत्मा से एक क्षेत्रावगाह होकर ज्ञानावरणादि अष्ट प्रकार कर्म रूप परिणमतीं और उन में स्थिति-अनुभागादि का विशेष हो जाता है॥

---

५ संवर तत्त्व वर्णन।

जिन मिथ्यात्वादि भावों के होने से कर्मास्रव होकर बंध होता है, उन भावों का रुकना सो भाव संवर और कर्म वर्गणाओं के आगमन का रुकना सो द्रव्य संवर है।

इस जीव के मिथ्यात्व, अविरत, कषाय और योगों द्वारा आस्रव होकर बंध होता है जो संसार भ्रमण का कारण है। अतएव आस्रव रोकने के लिये सम्यक्त्व की प्राप्ति से मिथ्यात्व का, देशविरत और महाविरत के धारने से अविरत का, यथाख्यातचारित्र की प्राप्ति से कषायों का और योगप्रवृत्ति रोककर योगों का संवर करना प्रत्येक मोक्षाभिलाषी पुरुष का कर्तव्य है। इस प्रकार आस्रवों के रोकने की अपेक्षा संवर के ५७ भेद वर्णन किये गये हैं। यथा-दशलक्षण धर्म। प्राप्ति, द्वादश अनुप्रेक्षा चिंतवन, बाईस परीषह जय, पंच आचार, पंच समिति और तीन गुप्ति का पालन करना॥

दशलक्षणधर्म—नीचे लिखे दश लक्षण धर्म आत्मा के स्वभाव हैं। इन लक्षणों से आत्मा के स्वभाव की पहिचान होती है। प्रत्येक धर्म में जो उत्तम विशेषण लगा हुआ है वह ख्याति, लाभ, पूजा के आशय की निवृत्ति के हेतु है अथवा सम्यग्ज्ञानपूर्वक होने के लिये है॥ १ उत्तम क्षमा—सम्यग्ज्ञानपूर्वक दूसरों के अपराध को अपने तईं दंड देने की शक्ति होते हुए भी क्षमा करना, क्रोधित न होना॥ २ उत्तम-मार्दव—सम्यग्ज्ञान पूर्वक अपने तईं ज्ञान, धन, बल, ऐश्वर्यादि अभिमान के कारण होते हुए भी अभिमान न करना, विनय रूप रहना॥ ३ उत्तम आर्जव—सम्यग्ज्ञान पूर्वक मन-वचन-काय की कुटिलता त्यागना, सरल रूप रहना॥ ४ उत्तम-सत्य—पदार्थों का सत्य स्वरूप जानना तथा सम्यग्ज्ञान पूर्वक पदार्थों का स्वरूप ज्यों का त्यों वर्णन करना और प्रशस्त वार्तालाप करना अर्थात् धर्मानुकूल वचन बोलना, धर्म को हानि या कलंक लगानेवाला वचन न बोलना॥ ५ उत्तम शौच—सम्यग्ज्ञान पूर्वक आत्मा को कषायों द्वारा मलिन न होने देना, सदा निर्मल रखना तथा लोभ त्यागना और सन्तोष रूप रहना॥ ६ उत्तम संयम—सम्यग्ज्ञान पूर्वक इंद्रिय-मन को विषयों से रोकना और षट् काय के जीवों की रक्षा करना॥ ७ उत्तम तप—सांसारिक विषयों की इच्छा रहित होकर अनशन (उपवास), ऊनोदर (अल्प आहार), व्रतपरिसंख्यान (अटपटी आखड़ी लेना), रस परित्याग (दूध, दही, नमक, तेल, घी, मिष्ट इन रसों में से एक दो आदि रसों का छोड़ना), विविक्तशय्यासन (एकान्त स्थान में सोना-बैठना), काय क्लेश (शरीर से उष्ण, शीतादि परीषह सहना) ये षट् बाह्य तप और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग

(शरीर से ममत्व छोड़ना) और ध्यान ये छह अंतरंग तप, ऐसे बारह प्रकार तप करना अर्थात् इन के द्वारा आत्मा को तपाकर निर्मल करना, कर्म रहित करना ॥ ८ उत्तम त्याग-अपने न्याय-पूर्वक उपार्जन किये हुए धन को मुनि, अर्यिका, श्रावक, श्राविका के निमित्त औषधदान, शास्त्रदान, आहारदान और अभयदान में तथा उपकरणादि सप्त क्षेत्रों में* व्यय करना सो व्यवहार त्याग और राग द्वेष को छोड़ना सो अंतरंग त्याग है ॥ ९ उत्तम आकिंचन्य-बाह्य दश प्रकार (खेत, मकान, चांदी, सोना, पशु, अनाज, दासी, दास, वस्त्र, बर्तन) और अंतरंग १४ प्रकार (क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, वेद, मिथ्यात्व, राग, द्वेष) परिग्रह से ममत्व का सर्वथा त्याग करना ॥ १० उत्तम ब्रह्मचर्य-बाह्य (व्यवहार) ब्रह्मचर्य तो स्त्री-विषय का त्याग और अंतरंग (निश्चय) ब्रह्मचर्य अपने आत्मस्वरूप में उपयोग को स्थिर करना है ॥

द्वादश अनुप्रेक्षा—जो वैराग्य उत्पन्न करने को माता समान और वारंवार चिंतवन करने योग्य हों, सो अनुप्रेक्षा या भावना कहाती हैं, ये १२ हैं । यथाः—(१) अथिर भावना—सांसारिक सर्व पदार्थों का संयोग जो जीव से हो रहा है उसे अथिर चिंतवन कर के उन से रागभाव तजना ॥ (२) अशरण भावना—जीव को इस के शुभाशुभ कर्म ही शरण अर्थात् सुख दुख देनेवाले हैं, अथवा मोक्ष मार्ग के सहकारी निमित्त कारण पंच परमेष्ठी का

* १ जहां जिनमन्दिर न हो वहां जिनमन्दिर बनवाना २ जिनबिम्ब विराजमान कराना ३ तीर्थयात्रा करना ४ शास्त्र लिखा कर दान करना ५ पूजन करना ६ प्रतिष्ठा कराना ७ औषध आहारादि ४ प्रकार दान देना ॥

इसे शरण है अथवा यह आत्मा अपने को आपही शरण रूप है अन्य किसी का शरण नहीं है। उदयमें आये हुए कर्मोंके रोकनेको कोई समर्थ नहीं है। तथा मरणकालमें जीवको कोई शरण नहीं है। इस तरह निरन्तर चिन्तवन करके अपने आत्महित में रुचि करना ॥ (३) संसार-भावना—यह संसार जन्म, जरा, मरण रूप है। इस में कोई भी सुखी नहीं है। प्रत्येक जीव को कोई न कोई दुख लगा हुआ है। इस प्रकार संसार को दुख स्वरूप चिन्तवन करके उस में रुचि नहीं करना, विरक्त रूप रहना ॥ (४) एकत्व-भावना—यह जीव अकेला आपही जन्म, जरा, मरण, सुख, दुख, संसार, मोक्ष का भोक्ता है, दूसरा कोई भी इसका साथी नहीं है। ऐसा विचार कर किसी के आश्रय की इच्छा न करना, स्वयं आत्महितमें पुरुषार्थ करना ॥ (५) अन्यत्व-भावना—इस आत्मा से अन्य सर्व पदार्थ वा जीव अलग हैं ऐसा चिन्तवन करते हुए इन से सम्बध नहीं चाहना ॥ (६) अशुचित्व भावना—यह शरीर हाड़, मांस, रक्त, कफ, मल, मूत्र आदि अपवित्र वस्तुओं का घर है ऐसा विचारते हुए इस से रागभाव घटाना और सदा आत्मा के शुद्ध करने का विचार करना ॥ (७) आस्रव भावना—जब मन, वचन, काय के योगों की प्रवृत्ति कषाय रूप होती है तब कर्मों का आस्रव होता है और उस से कर्म बंध होकर जीव को सुख-दुख की प्राप्ति तथा सांसारिक चतुर्गति का भ्रमण होता है। इस तरह विचार करते हुए आस्रव के मुख्य कारण कषायों को रोकना चाहिये ॥ (८) संवर भावना—कषायों की मन्दता तथा मन, वचन, काय (योगों) की निवृत्ति जितनी जितनी होती जाती है उतना उतना ही कर्म

का आस्रव होना भी घटता जाता है इसी को संवर कहते हैं। संवर होने से कर्मास्रव रुककर बंध का अभाव होता है। बंध के अभाव से संसारका अभाव और मोक्ष की प्राप्ति होती है॥ (९) निर्जरा भावना—शुभाशुभ कर्मों के उदयानुसार सुख-दुख की सामग्री के समागम होने पर समता भाव धारण करने से सत्तास्थित कर्मों का स्थिति-अनुभाग घटता है और बिना रस दिये ही कर्म वर्गणाएँ, कर्मत्व शक्ति रहित होकर निर्जरती हैं। इस प्रकार संवर पूर्वक एकोदेश (कुछ २) कर्म का अभाव निर्जरा और सर्वोदेश (सम्पूर्ण) कर्म का अभाव मोक्ष कहलाता है। ऐसा चिन्तवन करके निर्जरा के कारणभूत तप में (ख्याति, लाभ, पूजादि की वांछा रहित होकर) प्रवृत्ति करनी चाहिये॥ (१०) लोक भावना—यह लोक ३४३ राजू घनाकार है, जिस के ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक तीन भेद हैं, जिस में संसारी जीव अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मों के वश चतुर्गति में भ्रमण कर रहे हैं, जीवों के सिवाय पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये पांच द्रव्य और भी इस लोक में स्थित हैं, इन सब को अपनी आत्मा से अलग चिन्तवन कर के मन से रागद्वेष छोड़ आत्मस्वभाव में लीन होना ही जीव का मुख्य कर्तव्य है॥ (११) बोधिदुर्लभ भावना—अपनी वस्तु का पाना सुलभ तथा संभव और परवस्तु की प्राप्ति दुर्लभ तथा असंभव है। जो परवस्तु की इच्छा करता है तथा प्राप्ति का उपाय करता है वह बंध अवस्था को प्राप्त होकर दुखी होता है। सो यह जीव इस संसार में अनादि काल से अपने आत्म-स्वरूप को भूल कर शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, धान्यादि परवस्तुओं को अपनाता हुआ दुखी हो रहा है। परन्तु ये पर पदार्थ कभी भी उस के नहीं

हो सकते, क्योंकि निजात्मा के सिवाय अन्य सर्व पदार्थ इस से पृथक् हैं । अतएव इन सर्व परपदार्थों में अपनत्व छोड़ निजात्म ज्ञान की प्राप्ति करना संभव सुलभ और सुखदाई है। यद्यपि अनादि काल से कर्मों से आच्छादित होने के कारण आत्म-ज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ हो रही है तथापि यह उत्तम मनुष्य पर्याय, उच्चकुल, दीर्घायु, इन्द्रियों की परिपूर्णता, आत्मज्ञान होने योग्य क्षयोपशम, पवित्र जिनधर्म की प्राप्ति, साधर्मियों का सत्संग आदि उत्तरोत्तर दुर्लभ समागम प्राप्त हुआ है । इसलिये जैसे बने तैसे आत्मज्ञान की उत्पत्ति में यत्न करना चाहिये ॥ (१२) धर्म स्वाख्यात—दशलक्षण रूप, दया रूप अथवा शुद्ध ज्ञान-दर्शन-चारित्र रत्नत्रय स्वरूप धर्म जो जिनदेवने कहा है उस की प्राप्ति के बिना जीव अनादि काल से संसार में भ्रमण कर रहा है उस के प्राप्त होने से ही यह सांसारिक अभ्युदय को भोगता हुआ मोक्ष को प्राप्त होसक्ता है । ऐसा चिंतवन धर्म स्वाख्यात है । इस प्रकार चिंतवन करने से जीव का धर्म विषें सदा अनुराग रहता है ॥

बाईस परीषहजय—असाता वेदनीय आदि कर्मजनित अनेक दुखों के कारण प्राप्त होने पर भी खेदित न होना तथा उन्हें पूर्वसंचित कर्मों का फल जान निर्जरा के निमित्त समता (शान्ति) भाव पूर्वक सहना सो परीषह जय है ॥ ये बाईस भेद रूप हैं ॥ यथाः—(१) क्षुधा परीषह—भूख की वेदना को शान्ति पूर्वक खेद रहित सहन करना ॥ (२) तृषा परीषह—प्यास की वेदना को शान्ति पूर्वक खेद रहित सहना ॥ (३) शीतपरीषह—शीत की वेदना को शान्ति पूर्वक खेद रहित सहना ॥ (४) उष्ण परीषह—गर्मी की बाधा को शान्ति पूर्वक खेद रहित सहना ॥ (५) दंश-मशक परीषह

—डांस (दंश) मच्छर (मशक) आदि अनेक जीवजन्तुओं जनित दुःखों को शान्ति पूर्वक, खेद रहित सहना ॥ (६) नग्न-परीषह—उपस्थ (काम) इन्द्री को वश करना और वस्त्र के सर्वथा त्याग करने से उत्पन्न हुई नग्न-रूप लोक लाज को जीतना ॥ (७) अरतिपरीषह—द्वेष के कारण आने पर खेद रहित शान्तचित्त रहना ॥ (८) स्त्रीपरीषह—स्त्रियों में वा काम-विकार में चित्त नहीं जाने देना ॥ (९) चर्यापरीषह—ईर्यापथ शोधते अर्थात् चार हाथ प्रमाण भूमि को निर्जन्तु देखते हुए पांव पैदल गमन करना और पैदल चलते खेद न मानना ॥ (१०) निषद्यापरीषह—उपसर्ग के कारण आने पर खेद न मानना तथा उपसर्ग* के दूर न होने तक वहां से नहीं हटना, वहीं संयम रूप स्थिर रहना ॥ (११) शयनपरीषह—रात्रिको कठोर, कंकरीली भूमि पर खेद न मानते हुए एक आसन से अल्प निद्रा लेना ॥ (१२) आक्रोशपरीषह—क्रोध के कारण आने पर या वचन सुनने पर क्षमा तथा शान्ति ग्रहण करना ॥ (१३) वध-बंधन परीषह—कोई आप को मारे अथवा बांधे तो खेद न मानते हुए शान्ति पूर्वक सहन करना ॥ (१४) याचनापरीषह—औषध, भोजन, पान आदि किसी से नहीं मांगना ॥ (१५) अलाभपरीषह—भोजनादिक का अलाभ होते हुए उस से कर्म की निर्जरा होती जान शांत-भाव धारण करना, खेद न मानना ॥ (१६) रोगपरीषह—शरीर में किसी भी प्रकार का रोग आने पर कायर न होना, खेद न मानना, शांत भाव पूर्वक सहना ॥ (१७) तृणस्पर्श-परीषह—पांव में कठिन कंकरों या नुकीले तृणों के चुभने पर भी उस की वेदना को खेद रहित, शांत भाव सहित

---

* सिंह, सांप, चोर, दुष्ट, वैरी का आक्रमण या धावा होना ॥

सहना तथा पांव में कांटा या शरीर के किसी अंग में फांस आदि लग जाय तो अपने हाथ से न निकालना, और तज्जनित वेदना को शान्त भाव पूर्वक सहन करना । यदि कोई अपनी बिना प्रेरणा के निकाल डाले तो हर्ष नहीं मानना ॥ (१८) मलपरीषह—शरीर पर धूल आदि लगने से उत्पन्न हुआ जो ग्लानि का कारण मल, पसेव आदि, तिसके दूर करने को स्नानादि संस्कार नहीं करना, धूल नहीं छुड़ाना, शरीर नहीं पोंछना, न तिस के कारण चित्त में खेदित होना (यहां पर मल-मूत्र त्याग सम्बन्धी अपवित्रता दूर करने का निषेध न जानना)॥ (१९) सत्कार-पुरस्कारपरीषह—आप आदर-सत्कार के योग्य होते हुए भी कोई आदर-सत्कार न करे तथा निन्दा करे तो मन में खेदित न होना ॥ (२०) प्रज्ञा-परीषह—विशेष ज्ञान होते हुए भी उस का अभिमान न करना ॥ (२१) अज्ञानपरीषह—बहुत तपश्चरणादि करते हुए भी आप को ज्ञान की प्राप्ति नहीं होते तथा अन्य को थोड़े तपश्चरणादि से ज्ञान की प्राप्ति होती देख खेद नहीं करना ॥ (२२) अदर्शनपरीषह—ऐसा सुना है तथा शास्त्रों में भी कहा हुआ है कि तप के बल से अनेक ऋद्धियां उत्पन्न होती हैं, मुझे दीर्घ काल कठिन कठिन तप करते होगया परन्तु अभीतक कोई ऋद्धि उत्पन्न नहीं हुई सो यह उपर्युक्त वार्ता कदाचित् असत्य तो नहीं है ? ऐसा संशय न करना ॥

तेरह प्रकार चारित्र—पहले, पंचाचार यथा—(१) दर्शनाचार—तत्त्वार्थ में परमार्थ रूप श्रद्धान की प्रवृत्ति करना ॥ (२) ज्ञानाचार—ज्ञान का प्रकाशना अर्थात् ज्ञान बढ़ाने के लिये शास्त्रोंका अध्ययन करना ॥ (३) चारित्राचार—पापक्रियाओं की निवृत्ति अर्थात् प्राणिवध का

परिहार करना ॥ (४) तपाचार—कर्मों के नाश करनेवाले कायक्लेश, प्रायश्चित्तादि तप करना ॥(५) वीर्याचार-अपनी शक्ति को न छिपाते हुए शुभ तथा शुद्ध क्रियाओं में शक्तिभर उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति करना* ॥ दूसरे पंचसमिति—यथाः— (१) ईर्यासमिति—चार हाथ प्रमाण निर्जन्तु पृथ्वी निरखते हुए तथा इधर उधर न देखते हुए गमन करना ॥ (२) भाषासमिति—अपने तथा दूसरों के हितरूप तथा मितरूप वचन बोलना ॥ (३) एषणासमिति-४६ दोष, बत्तीस अन्तराय, १४ मल दोष टाल कर शुद्ध आहार लेना ॥ (४) आदाननिक्षेपणसमिति—शास्त्र, पीछी, कमंडलादि धर्मोपकरणों को देख-शोध कर उठाना, रखना ॥ (५) प्रतिष्ठापनासमिति—मल, मूत्र, कफादि शरीर के मल प्रासुक एवं शुद्ध भूमि में क्षेपण करना ॥ तीसरे त्रिगुप्ति-यथाः— मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को रोकना सो मनोगुप्ति, वचनगुप्ति तथा कायगुप्ति हैं ॥

इस प्रकार उपर्युक्त आस्रव के ५७ कारणों को, संवर के ५७ कारणों द्वारा रोकने से शुभाशुभ कर्मों का आना नहीं होता ॥

---

६ निर्जरातत्त्व वर्णन ।

पूर्वसंचित कर्मों का एकोदेश (कुछ अंश) क्षय होना निर्जरा-कहलाती है। यह दो प्रकार की है।(१) सविपाक-निर्जरा-जो कर्म, उदय काल में रस (फल) देकर नष्ट हों, ऐसी निर्जरा सम्पूर्ण संसारी जीवों के सदा काल होती रहती है। यह मोक्षमार्ग में कार्यकारी नहीं होती, क्योंकि इस से नवीन

* किसी २ ग्रंथ में पंचाचार की जगह पंच महाव्रत कहे गये हैं ॥

कर्मबंध होता है ॥ (२) अविपाकनिर्जरा-परिणामों की निर्मलता से अर्थात् इच्छाओं को रोक चित्तवृत्ति को रागद्वेष रहित करके ध्यान करने से व तप करने से पूर्वसंचित (सत्तास्थित) कर्मों का अपने उदय काल के पहिलेही विना रस दिये एकोदेश नाश (क्षय) होजाना ॥ यह अविपाक निर्जरा मोक्षमार्ग में कार्यकारी है, क्योंकि यह संवरपूर्वक होती है अर्थात् इस में नवीन कर्मों का बंध नहीं होता ॥

७ मोक्षतत्त्व वर्णन ।

सर्वकर्मों के सर्वथा नाश होने से आत्मा के स्वभाव-भाव का प्रगट होजाना अर्थात् भावकर्म (रागद्वेष) द्रव्य कर्म (ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों) तथा नोकर्म (औदारिक आदि शरीरों) से रहित होकर अपने अनंतज्ञान-अनंतदर्शनादि आत्मीक गुणोंको प्राप्त होना और सदा के लिये जन्म-जरा-मृत्यु रहित निर्बंध अवस्था को प्राप्त होजाना सो मोक्ष है ।

इन उपर्युक्त सप्त तत्त्वों को नीचे लिखे अनुसार चिंतवन करने से मिथ्यात्व मन्द पड़ता है और सम्यक्त्व की उत्पत्ति का संभवपना होता है । यथाः—(१) जीवतत्त्व—जो दर्शन-ज्ञानमय चेतनास्वरूप है सो मैं आत्मराम हूं, मेरा स्वभाव देखने-जानने मात्र है, परंतु अनादिकाल से कर्मसम्बन्ध के कारण रागद्वेषमय, आत्मीक तुच्छ शक्तियों युक्त मनुष्य पर्याय रूप हो रहा हूं । (२) अजीवतत्त्व सामान्यरूप से पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल अचेतन जड़ हैं; मैं आत्मा अजीव नहीं हूं, मेरा स्वभाव ठीक इन से विपरीत चैतन्यरूप है । (३) आस्रवतत्त्व—यह तत्त्व जीव-पुद्गल संयोगजन्य है, तहां राग, द्वेष, मोह रूप जीव के भाव भावास्रव हैं तथा

ज्ञानावरणादि कर्मों के योग्य पुद्गलवर्गणाओं का आना सो द्रव्य आस्रव है, ये दोनों मेरे चैतन्य स्वरूप से पृथक् त्यागने योग्य हैं। (४) बंधनतत्त्व-में जो रागद्वेष-मोह भावरूप परणमता हूं सो मेरा चेतन-आत्मा इन से बँधना है यह भाव-बंध है और ज्ञानावरणादि आठ प्रकार पुद्गल-कर्मों का प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभागयुक्त आत्मा से एकक्षेत्रावगाहरूप होना सो द्रव्यबंध है। यह बंधतत्त्व आत्मा का विभाव, संसार-चतुर्गति भ्रमण का कारण त्यागने योग्य है। (५) संवरतत्त्व-आत्मा का रागद्वेष-मोह भावरूप न होना, ज्ञान-दर्शनरूप चैतन्य भाव में स्थिर रहना सो संवर, आत्मा का भाव है, उपादेय है, इस से नूतन कर्मों का आस्रव-बंध रुक जाता है जिस से आगामी कर्म-परिपाटी का उच्छेद हो जाता है। (६) निर्जरातत्त्व-पूर्व संचित कर्मों के उदय या उदीरणा से जो सुख-दुख वर्तमान में उपस्थित होते हैं उन्हें में जो सा-म्यभावपूर्वक सहन करूं तो मेरा राग-द्वेष भाव मन्द पड़े तथा प्राचीन कर्म रसरहित होकर झड़ते जायँ, आत्मा निर्मल होती जाय, अतएव यह निर्जरा तत्त्व उपादेय है। (७) मोक्ष-तत्त्व-घातिकर्मों का अभाव होकर आत्मा का अनन्त चतुष्टय स्वभाव प्राप्त होना सो भावमोक्ष और आत्मा की निष्कर्म-निर्मल अवस्था होजाना सो द्रव्यमोक्ष है, यह मोक्षतत्त्व आत्मा का स्वभाव है। भावार्थः-आत्मा के स्वभावों विभावोंका चिन्त-वन करने से संवर-निर्जरापूर्वक मोक्ष होती है॥

इसी प्रकार अन्य पदार्थ जो दृष्टिगोचर हों, उन में इस प्रकार तत्त्वों का चिंतवन करे। यथाः-स्त्री दिखाई दे, तब ऐसा विचारे, यह स्त्री जीव नामक तत्त्व की विभाव पर्याय है। इस का शरीर पुद्गल का पिंड है। यह जो हाव-भाव चेष्टा करती

सो आस्रव तत्त्व है। इस की आत्मा की मलिनता इस के आस्रव तथा बंध को कारण है। यदि इस को देख मेरे विकार भाव हों तो मेरे भी कर्मों का आस्रव बंध हो। यदि दोनों के भाव निर्मल रहें और सर्व पदार्थों में रागद्वेष रहित प्रवृत्ति हो, आत्म-स्वरूप में स्थिरता हो, तो संवर-निर्जरापूर्वक मोक्ष की प्राप्ति होसक्ती है ॥

प्रगट रहे कि जहां तहां शास्त्रों में उपर्युक्त सप्त तत्त्वों के साथ पुण्य-पाप को मिलाकर नव पदार्थों का वर्णन किया गया है। यद्यपि पुण्य-पाप, आस्रव ही के भेद हैं अर्थात् शुभास्रव पुण्य-रूप और अशुभास्रव पापरूप है, तथापि आचार्यों ने व्यवहारी, मन्दबुद्धि जीवों को स्पष्ट रूप से समझाने के लिये पुण्य-पाप को पृथक् रीति से वर्णन किया है। यहां पर जो आस्रव के ५७ भेद कहे गये हैं, उन में ५ मिथ्यात्व और १२ अविरति तो पापा-स्रव ही के कारण हैं और कषाय तथा योगोंकी जब शुभरूप प्रवृत्ति होती है तब पुण्यास्रव होता है और जब अशुभरूप प्रवृत्ति होती है तब पापास्रव होता है ॥

सम्यक्त्व का स्वरूप ।

इस प्रकार ऊपर कहे हुए द्रव्यों तथा तत्त्वों का स्वरूप भलीभांति जानकर उन पर दृढ़ विश्वास करना ही सम्यग्दर्शन, सम्यक्त्व या श्रद्धान कहाता है। यह श्रद्धान धर्मरूप वृक्ष की जड़ यथार्थ में तत्त्वज्ञानपूर्वक आत्मधर्म में श्रद्धा रुचि, प्रतीति रूप है ॥ आप्त, आगम, पदार्थादि का श्रद्धान निश्चय सम्यक्त्व का कारण है इसलिये व्यवहार सम्यक्त्व कहलाता है और आत्मश्रद्धान कार्यरूप निश्चय सम्यग्दर्शन है जो आत्मा का स्वभाव है, इसके उत्पन्न होने पर उपाधिरहित शुद्धजीव की

साक्षात् अनुभूति (स्वानुभवगोचरता) होती है॥ यह अनुभव अनादि काल से मिथ्यादर्शन (मिथ्यात्व) कर्म के उदय से विपरीत रहता है। प्रकट रहै कि अनादि मिथ्यादृष्टि* जीव के दर्शन मोह की एक मिथ्यात्व प्रकृति की ही सत्ता होती है। जब जीव को पहिले ही पहिल तत्त्वश्रद्धान होने से उपशमसम्यक्त्व होता है तो उस समय मिथ्यात्व की उदयरहित अवस्थामें परिणामों की निर्मलता से उस सत्तास्थित मिथ्यात्व प्रकृतिका द्रव्य शक्तिहीन होकर मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति-मिथ्यात्व इन तीन रूप होजाता है। इस के सिवाय अनंतानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ की चार प्रकृति भी इस मिथ्यादर्शन की सहकारिणी हैं। इसी कारण अनादिमिथ्यादृष्टिके ४ अनंतानुबंधी १ मिथ्यात्व और सादिमिथ्यादृष्टि के ४ अनंतानुबंधी ३ मिथ्यात्व की सत्ता होती है और इन्हीं पांच या सात प्रकृतियों के उपशम होने से उपशम सम्यक्त्व होता है।

सम्यक्त्व की उत्पत्ति में उपादानकारण आत्मा के परिणाम और बाह्यकारण सामान्यता से द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की योग्यता का मिलना है तहां द्रव्यों में प्रधान-द्रव्य तो साक्षात् तीर्थंकर के दर्शन-उपदेशादि हैं। क्षेत्र में समवसरण, सिद्धक्षेत्रादि हैं। काल में अर्धपुद्गलपरिवर्तन काल संसार परिभ्रमण का शेष रहना है। भाव में अधःप्रवृत्ति आदि करण हैं। तथा विशेष कर अनेक हैं। यथाः—किसी के अरहंतके

---

* जिस जीवको अनादि काल से कभी सम्यक्त्व (आत्मा के यथार्थ स्वरूप का श्रद्धान) नहीं हुआ उसे अनादि मिथ्यादृष्टि कहते हैं। और जो सम्यक्त्वी होकर पुनः आत्मश्रद्धान से च्युत होकर मिथ्यात्वी हो जाता है उसे सादिमिथ्या-दृष्टि कहते हैं॥

बिम्ब का दर्शन करना है, किसी के तीर्थंकर के जन्म कल्याण आदि की महिमाका देखना है, किसी के जातिस्मरण (पूर्व-जन्म की बातों की स्मृति) है, किसी के वेदना (दुःख) का अनुभवन है, किसी के धर्मश्रवण और किसी के देवादिक की ऋद्धि का देखना है । इत्यादि सहकारी अनेक कारण हैं । भव्य जीव को जब इन में से कोई बाह्य कारण मिलता है तब सम्यक्त्व की बाधक उपर्युक्त ५ या ७ प्रकृतियों का उपशम (अंतर्मुहूर्त तक उदय आकर रस देने के अयोग्य) होने से उपशम सम्यक्त्व होजाता है । इस सम्यक्त्व की जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है । पश्चात् नीचे लिखी चार अवस्थाओं में से कोई एक अवस्था अवश्य होजाती है । अर्थात् जो मिथ्यात्वप्रकृति का उदय आजाय तो मिथ्यात्वी, अनंतानुबंधी किसी कषाय का उदय होजाय तो सासादनसम्यग्दृष्टी, और जो मिश्रमोहनीय का उदय होजाय तो मिश्रसम्यक्त्वी होजाता है, अर्थात् उस के सम्यक्त्व और मिथ्यात्व से विलक्षण मिश्ररूप परिणाम होजाते हैं, जैसे दहीगुड़ मिश्रित खट्टा-मीठा रूप मिश्रित स्वाद होता है । कदाचित् किसी जीव के सम्यक्-प्रकृतिमिथ्यात्व का उदय होजाय तो क्षयोपशम या वेदक* सम्यक्त्व होजाता है । इस की जघन्यस्थिति अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति साधिक ६६ सागर है । यद्यपि क्षयोपशम सम्यक्त्व में सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व के उदय से किंचित् मल-दोष लगते हैं तथापि वे मलदोष सम्यक्त्व के घातक न होने से सम्यक्त्व नहीं छूटता ॥ जब जीव के सम्यक्त्व की विरोधिनी उपर्युक्त ७ प्रकृतियों की सत्ता का सर्वथा अभाव होजाता है तब क्षायिक

---

* सम्यक्त्व की घातक सर्वघातिया (४ अनंतानुबंधी, मिथ्यात्व और मिश्र मिथ्यात्व), प्रकृतियों के क्षयोपशम की अपेक्षा क्षयोपशमसम्यक्त्व और सम्यक्त्व-प्रकृति मिथ्यात्व के उदय की अपेक्षा वेदक सम्यक्त्व कहाता है ॥

सम्यक्त्व होता है, इस की जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति साधिक तेंतीस सागर है। इस प्रकार उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक के भेद से सम्यक्त्व ३ प्रकार है।

पंचाध्यायी में सम्यक्त्व को परमावधि, सर्वावधि तथा मनःपर्यय ज्ञान का विषय कहा है, सो दर्शनमोह की कर्म प्रकृति के उपशम, क्षयोपशम या क्षय की अपेक्षा जान पड़ता है। अन्यग्रंथों में यह भी कहा है कि सम्यक्त्व के परिणाम (भाव) केवलज्ञानगम्य हैं सो सम्यक्त्व होने पर आत्मा में जो निर्मलता उत्पन्न होती है उस भाव की अपेक्षा कहा हुआ जान पड़ता है॥ छद्मस्थ के प्रगटरूप से ज्ञान में आने के लिये परिणामों के प्रगट होने योग्य चिन्हों की परीक्षा करके सम्यक्त्व के जानने का व्यवहार है यदि ऐसा न हो तो छद्मस्थ-व्यवहारी जीव के सम्यक्त्व के होने का निश्चय न होने से आस्तिक्य का अभाव ठहरे और व्यवहार का सर्वथा लोप होजाय। इसी कारण आप्त के कहे हुए बाह्य चिन्हों की आगम, अनुमान तथा स्वानुभव से परीक्षा करके निश्चय करना योग्य है।

सम्यक्त्वके चिन्ह।

सम्यक्त्व का मुख्य चिन्ह तो उपाधिरहित शुद्ध चैतन्य-स्वरूप आत्मा की अनुभूति है। यद्यपि यह अनुभूति ज्ञान का विशेष है तथापि सम्यक्त्व होने पर इस अनुभूति का स्वसंवेदन-ज्ञानद्वारा इस प्रकार आस्वाद एवं अनुभव होता है कि "यह शुद्ध ज्ञान है सो मैं हूं तथा जो विकार है सो कर्मजनित भाव हैं मेरा स्वरूप नहीं" इस प्रकार भेदज्ञानपूर्वक ज्ञान का आस्वाद, ज्ञान की तथा आत्मा की अनुभूति कहाती है। यह अनुभूति शुद्धनय का विषय, स्वानुभवगोचर और वचनअगोचर है।

यह अनुभूति ही सम्यक्त्व का मुख्य चिन्ह है जो मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय के अभावसे उत्पन्न होता है। इसके होते प्रशम, संवेग, अनुकंपा, आस्तिक्यादि गुण प्रगट होते हैं, इन गुणोंके आश्रयसे ही सम्यक्त्व की उत्पत्तिके जाननेका व्यवहार है। इस विषयमें अपनी परीक्षा तो अपने स्वसंवेदन ज्ञानसे होती है और दूसरोंकी उनके मन, वचन, काय की चेष्टा एवं क्रियाद्वारा की जाती है।

जिस सम्यक्त्व के साथ प्रशम, संवेग, अनुकंपा, आस्तिक्य-युक्त राग भाव होता है उसे सराग सम्यक्त्व कहते हैं। और जिसमें केवल चैतन्य मात्र आत्मस्वरूप की विशुद्धता होती है उसे वीतराग सम्यक्त्व कहते हैं। यद्यपि कषायोंकी मन्दता, संसारसे उदासीनता, धर्मानुराग, अहिंसारूप भाव, और तत्त्वश्रद्धान की दोनों सम्यक्त्वों में समानता है तथापि अहिंसामें जैसे वीतरागभाव और दया में जैसे सरागभाव होते हैं वैसे ही सराग-वीतराग सम्यक्त्वके भावोंमें अन्तर जानना॥ भावार्थः- वीतराग सम्यक्त्वमें आत्मश्रद्धान वीतरागता लिये उदासीनता रूप और सराग सम्यक्त्व में रागभावादियुक्त अनुकंपादिरूप होता है॥ ये सराग-वीतराग विशेषण सम्यक्त्व में चारित्र मोहकी अधिकता हीनता की अपेक्षा हैं। सराग सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान से छट्ठे गुण स्थान तक शुभोपयोग की मुख्यता लिये होता है और वीतराग सम्यक्त्व सातवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग की मुख्यता लिये होता है॥ अब यहां इन चारों चिन्होंका स्पष्ट स्वरूप कहते हैं॥

प्रशम—मिथ्यादृष्टियों में तथा उनके बाह्यभेषों में सत्य-श्रद्धान का अभिमान, आत्माके अतिरिक्त शरीरादि पर्यायों में आत्मबुद्धिका अभिमान वा प्रीति, कुदेवादिक में भक्ति, और

अन्यायरूप विषय (सप्तव्यसनादि) सेवनमें रुचि ये सब बातें अनंतानुबंधी कषायके उदय से होती हैं। परन्तु जिस जीवके प्रशमभाव उत्पन्न हुआ हो उसके ऐसे भाव नहीं होते अथवा जिस प्रकार अपना बुरा करनेवालोंके घात करनेका विचार मिथ्यादृष्टि करता है वैसा निर्दयभाव सम्यग्दृष्टी नहीं करता। वह विचारता है कि मेरा भला बुरा जो कुछ हुआ है सो वास्तव में मेरे शुभाशुभ परिणामों द्वारा बांधे हुए पूर्वसंचित कर्मोंका फल है। ये अन्य पुरुष तो निमित्त मात्र हैं। ऐसे यथार्थ विचारोंके उत्पन्न होनेसे उस प्रशमवान् जीव की कषाय मन्द रहती है अथवा अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयवश न्यायपूर्वक विषयोंमें लोलुपता तथा गृहस्थी के आरंभादिक में प्रवृत्ति होती है सो भी बहुत विचारपूर्वक होती है। वह विवश इन कार्यों को करते हुए भी भला नहीं समझता, अपनी निन्दा गर्हा करता रहता है। वह विचारता है कि कौन समय हो, जब इन जंजालों से दूर होकर इष्ट सिद्धिके सन्मुख होऊं। ऐसी कषायों की मंदताको प्रशम कहते हैं। भावार्थः— जहां अनंतानुबंधी कषाय की चौकड़ी सम्बन्धी रागद्वेषका अभाव होजाता है, सो प्रशम है॥

संवेग—धर्म तथा धर्मके फलमें अनुराग एवं परम उत्साह का उत्पन्न होना संवेग कहलाता है। इसको अभिलाषा या वांछा नहीं कह सक्ते, क्योंकि अभिलाषा या वांछा इन्द्रिय-विषयों की चाह को कहते हैं, सो वह यहां है नहीं, यहां तो केवल आत्महितरूप शुभ वांछा है। इसीमें संसार-शरीर भोगोंसे विरक्तारूप निर्वेद भी गर्भित है, क्योंकि जब पंचपरिवर्तनरूप संसारसे भयभीतपना होकर अपने आत्मस्वरूप धर्मकी प्राप्ति में अनुराग होता है तभी अन्य सांसारिक विषयाभिलाष

से तथा परद्रव्योंसे सच्ची विरागता होती है यही निर्वेद कह-लाता है॥

अनुकम्पा—अन्य प्राणियों को दुखी देखकर दयावश दुखी होना, उनके दुख दूर करनेका शक्ति भर उपाय करना, न चले तो पश्चात्ताप करना और अपना बड़ा दुर्भाग्य मानना। इस प्रकार अनुकम्पा करनेसे अपने तांई पुण्यकर्म का बंध होनेके कारण तथा कुछ अंशों में पापकर्म के बंधसे बचने के कारण अपनी आत्मा पर भी अनुकंपा होती है।

आस्तिक्य—लोक में (संसारमें) जो जीवादि पदार्थ हैं उनका भलीभांति बोध दो प्रकार से होता है। एक तो हेतुवाद से नय-प्रमाणद्वारा। दूसरे सूक्ष्म, अंतरित, दूरवर्ती पदार्थोंका आगम प्रमाणसे॥ अतएव अपनी बुद्धिपूर्वक की हुई श्रद्धाको अथवा सर्वज्ञ वीतराग देव (केवली) ने सूक्ष्मादि पदार्थों का जैसा निरूपण किया है यथार्थ में पदार्थोंका स्वरूप वैसाही है, अन्यथा प्रकार नहीं, इस प्रकारकी श्रद्धाको आस्तिक्य कहते हैं॥

कई ग्रंथों में सम्यक्त्व के साथ संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकंपा इन ८ गुणों का उत्पन्न होना कहा है। सो ये आठों गुण उपर्युक्त चारों भावनाओं में ही गर्भित होजाते हैं। यथाः—प्रशम में निन्दा-गर्हा, संवेगमें निर्वेद, वात्सल्य और भक्ति गर्भित हैं॥

सम्यक्त्व के अष्ट अंग।

सम्यक्त्व के ८ अंग होते हैं यथा निश्शंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन या उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना॥ इनका स्पष्ट वर्णन लिखा जाता है:—

१ निश्शंकित अंग—शंका नाम संशय तथा भयका है। इस लोक में धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, पुद्गल परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ, द्वीप, समुद्र, मेरु पर्वतादि दूरवर्ती पदार्थ, तथा तीर्थंकर, चक्रवर्ती, राम, रावणादि अंतरित पदार्थ हैं। इनका वर्णन जैसा सर्वज्ञ-वीतराग भाषित आगममें कहा गया है सो सत्य है या नहीं? अथवा सर्वज्ञ देवने वस्तुका स्वरूप अनेकान्तात्मक (अनंत धर्म सहित) कहा है सो सत्य है कि असत्य? ऐसी शंका उत्पन्न न होना सो निश्शंकितपना है, क्योंकि ऐसी शंका मिथ्यात्व कर्मके उदय से होती है॥

पुनः मिथ्यात्व प्रकृतिके उदय से पर पदार्थों में आत्म-बुद्धि उत्पन्न होती है। इसी को पर्यायबुद्धि कहते हैं अर्थात् कर्मोदयसे मिली हुई शरीरादि सामग्रीको ही जीव अपना स्वरूप समझ लेता है। इसी अन्यथा बुद्धिसे ही सप्त प्रकारके भय उत्पन्न होते हैं। यथा इहलोकभय, पर-लोकभय, मरणभय, वेदनाभय, अनरक्षाभय, अगुप्ति भय और अकस्मात्भय॥ जब इनमेंसे किसी प्रकारका भय हो तो जानना चाहिये कि मिथ्यात्व कर्म के उदय से हुआ है॥ यहां पर कोई शंका करे कि भय तो श्रावकों तथा मुनियों के भी होता है, क्योंकि भय प्रकृतिका उदय अष्टम गुणस्थानतक है तो भय का अभाव सम्यक्त्वी के कैसे संभव हो सकता है। जिसका समाधान—सम्यग्दृष्टीके कर्म के उदय का स्वामीपना नहीं है और न वह परद्रव्य द्वारा अपने द्रव्यत्व भावका नाश मानता है पर्याय का स्वभाव विनाशीक जानता है। इसलिये चारित्रमोह सम्बन्धी भय होते हुए भी दर्शनमोह सम्बन्धी भय का तथा तत्त्वार्थश्रद्धान में शंका का अभाव होने से वह निश्शंक और निर्भय ही है॥ यद्यपि वर्तमान पीड़ा सहने में अशक्त होनेके कारण

भय से भागना आदि इलाज भी करता है तथापि तत्त्वार्थश्रद्धान से बिगनेरूप दर्शनमोह सम्बन्धी भयका लेश भी उसे उत्पन्न नहीं होता। अपने आत्मज्ञान-श्रद्धानमें निश्शंक रहता है॥

२ निःकांक्षित अंग—विषय-भोगों की अभिलाषा का नाम कांक्षा या वांछा है यह भोगाभिलाप मिथ्यात्व कर्मके उदय से होता है, इसके चिन्ह ये हैं:—पहिले भोगे हुए भोगोंकी वांछा, उन भोगोंकी मुख्य क्रियाकी वांछा, कर्म और कर्म के फल की वांछा, मिथ्यादृष्टियों को भोगों की प्राप्ति देखकर उनको अपने मनमें भले जानना अथवा इन्द्रियों की रुचि के विरुद्ध भोगों में उद्वेगरूप होना ये सब सांसारिक वांछायें हैं। जिस पुरुषको ये न हों सो निःकांक्षित अंग युक्त है। सम्यग्दृष्टी यद्यपि कर्म के उदय की जबर्दस्ती से इन्द्रियों को वश करने में असमर्थ है इसलिये पंचइन्द्रियों के विषय सेवन करता है तो भी उसको उनसे रुचि नहीं है। ज्ञानी पुरुष व्रतादि शुभाचरण करता हुआ भी उनके उदयजनित शुभ फलोंकी वांछा नहीं करता, यहांतक कि व्रतादि शुभाचरणों को आत्मस्वरूप के साधक जान आचरण करते हुए भी हेय जानता है॥

३ निर्विचिकित्सा अंग—अपने को उत्तम गुणयुक्त समझकर अपने ताईं श्रेष्ठ मानने से दूसरे के प्रति जो तिरस्कार करने की बुद्धि उत्पन्न होती है उसे विचिकित्सा या ग्लानि कहते हैं। यह दोष मिथ्यात्व के उदय से होता है। इस के बाह्य चिन्ह ये हैं:-जो कोई पुरुष पाप के उदय से दुखी हो वा असाता के उदय से ग्लान—शरीरयुक्त हो, उसमें ऐसी ग्लानिरूप बुद्धि करना कि "मैं सुन्दर रूपवान्, संपत्तिवान्, बुद्धिमान् हूं, यह रंक-दीन, कुरूप मेरी बराबरी का नहीं"। सम्यग्दृष्टी के ऐसे भाव कदापि नहीं होते, वह विचार करता है कि जीवों की शुभाशुभ कर्मों

के उदयसे अनेक प्रकार विचित्र दशा होती है। कदाचित् मेरा भी अशुभ उदय आजाय तो मेरी भी ऐसी दुर्दशा होना कोई असंभव नहीं है। इसलिये वह दूसरोंको हीनबुद्धि से या ग्लान-दृष्टिसे नहीं देखता ॥

४ अमूढदृष्टिअंग—अतत्त्व में तत्त्व के श्रद्धान करने की बुद्धि को मूढदृष्टि कहते हैं। यह मिथ्यात्व के उदय से होती है। जिनके यह मूढदृष्टि नहीं; वे अमूढदृष्टि अंग युक्त सम्यग्दृष्टी हैं। इस के बाह्य चिन्ह ये हैं:—मिथ्यादृष्टियोंने पूर्वापर विवेक बिना, गुण दोष के विचाररहित अनेक पदार्थों को धर्मरूप वर्णन किये हैं और उनके पूजने से लौकिक और पारमार्थिक कार्यों की सिद्धि बताई है। अमूढदृष्टि का धारक इन सबको असत्य जानता और उनमें धर्मरूप बुद्धि नहीं करता तथा अनेक प्रकार की लौकिक मूढताओं को निस्सार तथा खोटे फलों की उत्पादक जानकर व्यर्थ समझता है, कुदेव या अदेव में देवबुद्धि, कुगुरु या अगुरु में गुरुबुद्धि, तथा इनके निमित्त हिंसा करने में धर्म मानना आदि मूढदृष्टिपने को मिथ्यात्व समझ दूरही से तजता है, यही सम्यक्त्वीका अमूढदृष्टिपना है ॥

यहां प्रसंग पाकर देव, गुरु, शास्त्र व पंचपरमेष्ठी का संक्षिप्त स्वरूप वर्णन किया जाता है:—

देव, गुरु, शास्त्र तथा पंच परमेष्ठी का वर्णन ॥

देव—जिस किसी भी आत्मामें रागादि दोष और ज्ञानावरणादि आवरण सर्वथा नष्ट हो जाते हैं वह देव कहलाता है। यहां देव शब्दसे देवगति सम्बन्धी चार प्रकार के देव नहीं, किन्तु

परमात्मा समझना चाहिये। देव सामान्य अपेक्षा से तो एक ही प्रकार है; परन्तु विशेष अपेक्षा अर्हत, सिद्ध दो प्रकार हैं तथा गुणोंकी मुख्यता, गौणता की अपेक्षा तथा नामादि भेदसे अनेक प्रकार हैं तौ भी अर्हंत, सिद्ध ये प्रसिद्ध हैं। इनका स्वरूप इस प्रकार है:—(१) अर्हत् या अर्हत—जिस आत्मा ने गृहस्थावस्था को छोड़कर मुनिपद धारण कर लिया हो—और शुक्ल ध्यानके बलसे चार घातिया कर्मोंका नाश करके अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनन्तसुख, अनंतवीर्य (अनंत-चतुष्टय) की प्राप्ति कर ली हो और जो परम औदारिक शरीर में रहकर भव्य-जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देता हो, उसे अर्हंत कहते हैं। अर्हंत में आत्मिक अनंतचतुष्टय गुण के सिवाय वाह्य ३४ अतिशय, अष्टप्रातिहार्य और भी होते हैं इस तरह बाह्य-अभ्यंतर सब मिलकर ४६ गुण होते हैं। (२) सिद्ध—जो पौद्गलिक देहरहित निष्कल परमात्मा लोक के शिखर (अन्त) में स्थित हैं, अष्ट कर्म के अभाव से आत्मीक सम्यक्त्वादि अष्टगुणमंडित हैं, जन्म, जरा, मरण से रहित हैं, और अनंत, अविनाशी आत्मिक सुख में मग्न हैं वे सिद्ध कहलाते हैं। इन ही अर्हंत सिद्ध-परमात्मा के गुणों की अपेक्षा अनेक नाम हैं यथाः—अर्हंत, जिन, सिद्ध, परमात्मा, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, हरि, बुद्ध, सर्वज्ञ, वीतराग, शंकर, त्रिलोकज्ञ आदि ॥

गुरु—जो सांसारिक विषय कषायों से विरक्त होकर आरंभ परिग्रह को त्याग मोक्षसाधने में तत्पर हों और स्वपरकल्याण में कटिबद्ध हों, वे गुरु कहलाते हैं। वास्तव में ऐसे परम गुरु तो अर्हंत देव ही हैं, क्योंकि उक्त सब गुण इनही में पूर्णता को प्राप्त हुए हैं। इनके अतिरिक्त इनकी परिपाटी में चलनेवाले, छद्मस्थ, क्षायोपशमिक ज्ञान के धारक, निर्ग्रंथ दिगम्बर मुद्राधारी

भी गुरु हैं। क्योंकि इन के भी एकोदेश रागादि दोषोंकी हीनता और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्धता पाई जाती है। यही शुद्धता संवर-निर्जरा-मोक्ष का कारण है। ये ही गुरु मोक्षमार्ग के उपदेशक हैं। इस प्रकार सामान्य रीति से गुरु एक प्रकार हैं और विशेष रीति से पदस्थ के अनुसार आचार्य, उपाध्याय, साधु तीन भेदरूप हैं। इन तीनोंमें मुनिपने की क्रिया, बाह्य निर्ग्रंथ लिङ्ग, पंचमहाव्रत, पंचसमिति, तीन गुप्तिका साधन, शक्तिअनुसार तप, साम्यभाव, मूलगुण-उत्तरगुण धारण, परीषह-उपसर्ग सहन, आहार-विहार-निहार की विधि, चर्या-आसन-शयन की रीति, मोक्षमार्ग के मुख्य साधक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्रवृत्ति, ध्यान-ध्याता-ध्येयपना, ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेयपना, चारित्र-आराधना का आराधन, क्रोधादि कषायों का जीतना आदि सामान्य मुनियों के आचरण की समानता है। विशेषता यह है:-आचार्य—जो अवपीड़क, अपरिश्रावी आदि अष्टगुणयुक्त हों, स्वयं पंचाचार पालें और अपने संघके मुनिसमूह को पंचाचार (ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार) अंगीकार करावें। लगे हुए दोषों का प्रायश्चित्त दें और धर्मोपदेश-शिक्षा-दीक्षा दें। इस प्रकार साधु के २८ मूल गुणों के सिवाय उत्तम क्षमादि दश धर्म, अनशनादि बारह तप, दर्शनाचारादि पंचाचार, समता, वंदना-दि षट् आवश्यक कर्म तथा त्रिगुप्तिसहित ३६ गुण और भी आ-चार्यों में होते हैं॥ उपाध्याय—जो वादित्व (वाद में जीतने की शक्ति) वाग्मित्व (उपदेश देने में कुशलता) कवित्व (कविता करने की शक्ति) गमकत्व (टीका करने की शक्ति) इन चार गुणों में प्रवीण हों और द्वादशांग के पाठी हों। इन में शास्त्राभ्यास करना, कराना, पढ़ना, पढ़ाना मुख्य है। इस

लिये साधुओं के २८ मूलगुणों के सिवा ११ अंग १४ पूर्व का पाठीपना इस प्रकार २५ गुण और भी उपाध्याय में होते हैं। साधु—रत्नत्रयात्मक आत्मस्वरूप साधने में सदा तत्पर रहते और वाह्य में शास्त्रोक्त दिगम्बर वेषधारी २८ मूल गुणों के धारक होते हैं। ये तीनों प्रकार के साधु दया के उपकरण पीछी, शौच के उपकरण कमंडल और ज्ञान के उपकरण शास्त्र-युक्त होते हैं, और आगमोक्त ४६ दोष ३२ अंतराय १४ मल-दोष बचाकर शुद्ध आहार लेते हैं। ये ही मोक्षमार्ग के साधक सच्चे साधु हैं और येही गुरु कहलाते हैं॥

शास्त्र—जो सर्वज्ञ, वीतराग और हितोपदेशी आप्त (अर्हंत) द्वारा कहे गये हों अर्थात् अर्हंत देव की दिव्यध्वनि से उत्पन्न हुए हों, जिनका वादी प्रतिवादियों के द्वारा खंडन न हो सके, जो प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों से विरोधरहित हों, तत्त्वोपदेश के करनेवाले, सर्व के हितैषी और मिथ्या अंधकार के दूर करने-वाले हों, वे ही सच्चे शास्त्र (आगम) हैं। ऐसा नहीं, कि यह प्राकृतमय हैं या संस्कृतमय हैं अथवा बड़े आचार्यों के नाम से वेष्टित हैं इसलिये ये हमारे मान्य हैं, हम इन्हीं के वाक्यों को मानेंगे, किन्तु वस्तु स्वरूप के निर्णय करने में, अनेक आगमों का अवलोकन, युक्तिका अवलम्बन, परंपराय उपदेशक गुरु और स्वानुभव इन चार का भी आश्रय लेना चाहिये। इस प्रकार निर्णय करने से जो वस्तुस्वरूप निश्चित हो वही श्रद्धान करने योग्य है। क्योंकि इस घोर पंचम काल में कषायभाव से कई पाखंडियों ने शास्त्रों में महान् महान् आचार्योंसरीखे नामों को रचयिता के स्थानपर लिखकर अन्यथा, धर्मविरुद्ध, विषय-कषायपोषक रचना भी कर डाली है। इस प्रकार देव, गुरु, शास्त्र के वर्णन के अभ्यंतर पंचपरमेष्ठी का संक्षिप्त स्वरूप कहा गया॥

(५) उपगूहन अंग—इस को उपबृंहण भी कहते हैं। पवित्र जिनधर्म में अज्ञानता अथवा अशक्तता से उत्पन्न हुई निन्दा को योग्य रीति से दूर करना तथा अपने गुणों को वा दूसरों के दोषों को ढांकना सो उपगूहन है । पुनः अपनी तथा अन्य जीवों की सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र शक्ति का बढ़ाना, सो उपबृंहण है ॥

(६) स्थितिकरण अंग—आप स्वयं या अन्य पुरुष कर्म के उदयवश ज्ञान, श्रद्धान, चारित्र से डिगते या छूटते हों, तो उन्हें दृढ़ तथा स्थिर करना सो स्थितिकरण है ।

(७) वात्सल्य अंग—अर्हंत, सिद्ध, सिद्धान्त, उनके बिम्ब, चैत्यालय, चतुर्विधि संघ तथा शास्त्रों में अंतःकरण से अनुराग करना, भक्ति-सेवा करना सो वात्सल्य है। यह वात्सल्य वैसा ही होना चाहिए, जैसे स्वामी में सेवककी अनुरागपूर्वक भक्ति होती है या गाय का बछड़े में उत्कट अनुराग होता है। यदि इन पर किसी प्रकार के उपसर्ग या संकट आदि आवें, तो अपनी शक्तिभर मेटने का यत्न करना चाहिए, शक्ति नहीं छिपाना चाहिये।

(८) प्रभावना अंग—जिस तरहसे बनसके, उस तरह से अज्ञान अन्धकारको दूर करके जिनशासनके माहात्म्यको प्रगट करना प्रभावना है अथवा अपने आत्म-गुणों को उद्योतरूप करना अर्थात् रत्नत्रय के तेज से अपनी आत्मा का प्रभाव बढ़ाना और पवित्र मोक्षदायक जिनधर्मको दान-तप-विद्या आदिका अतिशय प्रगट करके तन, मन, धन, द्वारा (जैसी अपनी योग्यता हो) सर्वलोक में प्रकाशित करना सो प्रभावना है। इस प्रकार ऊपर कहे हुए आठ अंग जिस पुरुषके २५ मल दोष रहित प्रगट हों, वह सम्यग्दृष्टि है ॥

---

२५ मल दोषों का वर्णन ।

अष्ट दोष—उपर्युक्त अष्ट अंगों से उल्टे (विरुद्ध) शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढ़दृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितिकरण, अवात्सल्य, अप्रभावना ये अष्ट दोष मिथ्यात्वके उदयसे होते हैं। इसलिये सम्यक्त्व के अष्ट अंगों का जो स्वरूप ऊपर कहा-गया है उससे उल्टा दोषों का स्वरूप जानना चाहिये। इन दोषों को मन-वचन-कायसे त्यागने से सम्यक्त्व शुद्ध होता है। यद्यपि जहां तहां इनको अतीचाररूप कहा है तथापि ये त्यागने ही योग्य हैं। क्योंकि जैसे अक्षरन्यून मंत्र विष की वेदना को दूर नहीं कर सकता, उसी प्रकार अंगरहित सम्यक्त्व संसार भ्रमणको नहीं मिटा सकता। पुनः इनके होने से तीन मूढ़ता, षट् अनायतन, अष्ट मद ये दोष उत्पन्न होते हैं, और सम्यक्त्व को दूषित करके नष्ट कर देते हैं, अतएव ये अष्ट दोष त्यागने योग्य हैं॥

तीनमूढ़ता-(१) देवमूढ़ता- किसी प्रकारके वर (साँसारिक भोगों या पदार्थों की इच्छा की पूर्ति) की वांछा करके रागी-द्वेषी देवों की उपासना करना, उन्हें पाषाणादि में स्थापन करना, पूजना आदि देवमूढ़ता है। (२) गुरुमूढ़ता-परिग्रह, आरंभ और हिंसादि दोषयुक्त पाखंडी-भेषियोंका आदर-सत्कार-पुरस्कार करना गुरुमूढ़ता है॥ (३) लोकमूढ़ता-जिस क्रियामें धर्म नहीं, उसमें अन्यमतियोंके उपदेशसे तथा स्वयमेव विना विचारे देखादेखी प्रवृत्ति करके धर्म मानना सो लोकमूढ़ता है। यथा-सूर्य को अर्घ देना, गंगास्नान करना, देहली पूजना, सती (मृतक पतिके साथ चितापर जलजाना) होना आदि॥

षट् अनायतन—कुगुरु, कुदेव, कुधर्म (कुशास्त्र) तथा इनके सेवकों को धर्म के स्थान समझकर उनकी स्तुति-प्रशंसा करना सो षट् अनायतन हैं, क्योंकि ये छहों सर्वथा धर्मके ठिकाने नहीं हैं ॥

अष्टमद—ज्ञान, पूजा (बड़प्पन), कुल (पितापक्ष), जाति (मातापक्ष), बल, ऋद्धि (धन-संपत्ति) तप तथा अपने शरीर की सुंदरता का मद करना और इनके अभिमान वश धर्म-अधर्म का, हित-अहित का, कुछभी विचार न करना, आत्म-धर्म तथा आत्महित को भूल जाना। जिस तरह मद्य पीनेवाला मद्य पीकर बेसुध हो जाता है, उसीतरह धर्म की ओर से बेसुध होजाना ॥

इस प्रकार सम्यक्त्व की निर्मलता के लिये उपर्युक्त २५ मल दोषों को सर्वथा त्यागना योग्य है ॥

पंच लब्धि का वर्णन।

सम्यक्त्व प्राप्ति के लिये नीचे लिखी हुई पांच बातों की प्राप्ति (लब्धि) होना आवश्यक है:—

(१) जीव के इस संसार में भ्रमण करते हुए जब कभी पापकर्म का मन्द उदय तथा पुण्य प्रकृतियों का तीव्र उदय होता है तब वह पंचेन्द्रिपना, मनुष्यपर्याय, उत्तम कुल, शारीरिक नीरोगता, दीर्घायु, इन्द्रियों की पूर्णता, कुटुम्ब की अनुकूलता, आजीविका की योग्यता आदि सामग्री पाकर कुछ सुखी और धर्म के सन्मुख होने योग्य हो सकता है। इस प्रकार की सामग्री के प्राप्त होने को क्षयोपशम लब्धि कहते हैं ॥

(२) क्षयोपशम लब्धि द्वारा साता प्राप्त होने पर जब कुछ मोह तथा कषाय मन्द होती है, तब वह जीव न्यायमार्ग तथा

शुभकर्मों में रुचि करता हुआ धर्म को हितकारी जान उसकी खोज करता है, सो विशुद्धनालब्धि है ॥

(३) तत्वों की खोजमें प्रयत्नशील होने पर पूर्ण भाग्योदयवश वीतरागी-विज्ञानी-हितोपदेशी देव, निर्ग्रंथ गुरु का तथा उनके द्वारा कथित शास्त्रों का वा उनके मार्ग के श्रद्धानी सदाचरणी विद्वानों का समागम मिलना, पुनः उनके द्वारा धर्म का स्वरूप और सांसारिक दशा का सत्य स्वरूप प्रगट होना तथा उनके द्वारा प्राप्त हुए उपदेश के धारण करने की शक्ति का होना सो देशना लब्धि कहाती है ॥ इतना होने पर वह जीव मन में विचारने लगता है कि यथार्थ में ये ही देव, धर्म, गुरु या इनके मार्ग में प्रवर्तनेवाले अन्य सत्पुरुष हमको सुमार्ग बतानेवाले हमारे हितैषी हैं ये स्वयं संसार-सागर से पार होते हुए दूसरों को भी पार करनेवाले हैं और जो रागी द्वेषी देव, गुरु, धर्म हैं, वे पत्थर की नाव के समान स्वयं संसार में डूबनेवाले और अपने आश्रित-जनों को डुबानेवाले हैं, वह इस का प्रत्यक्ष भी अनुभव करता है, कि हरएक मत में जब नाममात्र के तत्त्वज्ञानी तथा संसार से विरक्त पुरुष पूज्य माने जाते हैं तो जो पूर्णज्ञानी (सर्वज्ञ) और संसार से अत्यंत ही विरक्त (वीतरागी) देव, गुरु, धर्म हैं, वे सर्वोपरि आत्मकल्याणकारी और पूज्य क्यों न हों ? तथा उनके कहे हुए तत्त्व हितकारी क्यों न हो ? अवश्यही हों। क्योंकि जिस-तत्त्वोपदेशदाता में सर्वज्ञता-वीतरागता अर्थात् रागद्वेषरहित पना (क्रोध-मान-माया-लोभादि कषाय तथा इन्द्रियों की विषय वासना से रहितता) होगा, वही उपदेष्टा सच्चा आप्त हो सकता है। उसीके वचन हितकारी तथा मानने योग्य हैं। क्योंकि जो स्वतः जिस मार्गपर चलकर परम उत्कृष्ट स्थान (परमेष्ठी-

पने) को प्राप्त हुआ है, वही संसारी जीवों को उस पवित्र मार्ग का उपदेश देकर मुक्ति के सन्मुख कर सक्ता है। जिस में उपर्युक्त गुण नहीं, किन्तु रागद्वेप और अल्पज्ञता है उसके वचन कदापि हितकारी और आदरणीय नहीं हो सक्ते। सो यथार्थ में देखाजाय तो उपर्युक्त पूर्ण गुण भगवान् अर्हंत ही में पाये जाते हैं, या एकोदेश उनके अनुयायी दिगम्बर आचार्यादिकों में होते हैं ॥ जब जीव को ऐसा दृढ़ विश्वास होजाता है, तब वह विचारने लगता है कि मैं कौन हूं ? पुद्गल शरीरादिसे मेरा क्या सम्बन्ध है? संसार (जन्म मरण) का कारण क्या है? कर्मबंधन क्या है ? इसके छूटने का क्या उपाय है ? कर्मबंधन से छूटनेपर आत्मा किस हालत को प्राप्त होता है? और इसके लिये मुझे क्या कर्तव्य करना चाहिये ? ॥

(४) जब इस प्रकार आत्महित का विचार और ऊहापोह की जाती है और काललब्धि की निकटता होती है तब पूर्वमें बंध किये हुए सत्ता-स्थित कर्मों की स्थिति घटकर अंतः-कोटा कोटी* सागर की रहजाती है और नवीन बँधने वाले कर्म भी ऐसी ही मध्यम स्थिति को लेकर बँधते हैं। ऐसी दशा में शुभ (पुण्य) प्रकृतियोंका रस (अनुभाग) बढ़ने लगता है और पाप प्रकृतियों का रस घटने लगता है। इस प्रकार की योग्यता की प्राप्ति प्रायोग्य लब्धि कहलाती है ॥

(५) इन उपर्युक्त चार लब्धियों के प्राप्त होने पर जब जीव तत्त्वविचार में संलग्न होता है और उसके परिणामों में अंतर्मुहूर्ततक अनंत अनंतगुणी विशुद्धता होती है । तब इस विशुद्धता रूप करणलब्धि के बल से सम्यक्त्व की घातक

---

* कोट (करोड़) सागर से ऊपर और कोटा कोटी (करोड़×करोड़) सागर से नीचे अर्थात् इन दोनों के मध्यवर्ती कालको अंतःकोटाकोटी सागर कहते हैं॥

मिथ्यात्व प्रकृति तथा अनंतानुबंधी चौकड़ी इन पांचों प्रकृतियों का (अनादि मिथ्यादृष्टी के पांच और सादिमिथ्यादृष्टी के सात) अंतर्मुहूर्त के लिये अंतरकरणपूर्वक उपशम (उदय न होना, सत्ता में स्थित रहना) होजाने से उपशम सम्यक्त्व प्रगट हो जाता है। इस उपशम सम्यक्त्व के काल में परिणामों की निर्मलता के कारण मिथ्यात्व प्रकृति के द्रव्य का अनुभाग क्षीण होकर मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, तथा सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व इन तीन रूप परणम जाता है। सम्यक्त्व होने के पूर्व जो मिथ्यात्व तथा अनंतानुबंधी कषाय अपनी तीव्र दशा में इस जीवको आत्महित करनेवाले तत्त्वों के विचारों के निकटवर्ती नहीं होने देते तथा मोक्षमार्ग से विमुख विचारों में उद्यत करते थे, उन्हीं के उदय के अभाव होने से जीव का "सम्यग्दर्शन" गुण प्रगट हो जाता है, जिससे सच्चे देव, धर्म, गुरु, पर सात तत्त्वों पर तथा आत्मतत्त्व पर पुरुषार्थी मुमुक्षुओंकी अटल भक्ति तथा दृढ़ श्रद्धा हो जाती है। प्रगट रहे कि जीव को प्रथम उपशम सम्यक्त्वही होता है। पश्चात् उपशम सम्यक्त्व का काल (अंतर्मुहूर्त) पूर्ण होनेपर सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व के उदय होने से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होजाता है। पुनः जो जीव क्षयोपशम सम्यक्त्व की दशा में ४ अनंतानुबंधी तथा तीन मिथ्यात्व इन सातों का क्षय करदेता है उसके क्षायिक सम्यक्त्व हो जाता है, इनका विशेष वर्णन श्री-गोमट्टसारजी से जानना॥

किसी जीव के तो पूर्व जन्म के तत्त्वविचार की वासना से वर्तमान में परोपदेश के बिना निसर्गज सम्यक्त्व (स्वतः) ही उत्पन्न होता है तथा किसी के वर्तमान पर्याय में उपदेश पाकर तत्त्वविचार करने से अधिगमज सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। पहिले कह ही चुके हैं कि सम्यक्त्व की उत्पत्ति को

बाह्यकारण देव, गुरु, शास्त्र का समागम, उपदेश की प्राप्ति, विभव का देखना, वेदना का अनुभव आदि हैं। तहां नरक में यद्यपि देव, गुरु, शास्त्र का समागम नहीं है, तोभी तीसरे नरकतक तो स्वर्गवासी देव जाकर, उपदेश देकर सम्यक्त्व ग्रहण करा सक्ते हैं, तथा नीचे के नरकों में वेदनाजनित दुःखों के अनुभव से सम्यक्त्व होसक्ता है। देवों में देवदर्शन, गुरु-उपदेशादि बन ही रहा है। मनुष्यों, तिर्यंचों में देव, गुरु, शास्त्र का समागम तथा पूर्वस्मरण भी सम्यक्त्व को कारण होता है॥ इस से स्पष्ट होता है कि चारों गति के सैनी पर्याप्त भव्यजीवों को जागृत अवस्था में सम्यक्त्व होसक्ता है। तिसपर भी मुख्यतयः मनुष्य पर्याय में जितनी अधिक योग्यता सम्यक्त्व तथा चारित्रप्राप्ति की है। उतनी और पर्यायों में नहीं। मनुष्यपर्याय ही एक ऐसी अनमोल्य नौका है जिसपर चढ़कर जीव संसारसागर से पार हो मुक्तिपुरी में पहुंचसक्ता है। फिर भी अन्य पर्यायों में जो थोड़ासा क़ारण पाकर सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है सो भी पूर्वकाल में मनुष्य-पर्याय में तत्वों की भलीभांति ऊहापोह (छान बीन) करने का फल है। इस प्रकार दृढ विश्वास(सम्यक्त्व)के प्राप्त होनेपर ही चारित्र का धारण करना कार्यकारी हो सक्ता है। अन्यथा बिना उद्देशों के समझे-बूझे व्रतादि धारण करना अंधे की दौड़ के समान व्यर्थ अथवा अल्प (निरतिशय) पुण्यबंध का कारण होता है। देखो सम्यक्त्व की महिमा, जिस के प्रभाव से सम्यग्दृष्टि-गृहस्थ को द्रव्यलिंगी मुनि से भी श्रेष्ठ कहा है, क्योंकि यद्यपि द्रव्यलिंगी मुनि चारित्र पालन करता है तो भी सम्यक्त्वरहित होने से मोक्षमार्गी नहीं है और गृहस्थ चारित्ररहित है तो भी सम्यक्त्वसहित होने से मोक्षमार्गी है। सम्यक्त्व होनेपर देवायु सिवाय नरक, तिर्यंच, मनुष्य आयुका बंध नहीं होता, यदि

सम्यक्त्व होने के पूर्व नरकायु का बंध हो गया हो, तो सम्यक्त्व-सहित प्रथम नरक तक अथवा सम्यक्त्व छूटकर तीसरे नरक तक जाता है, नीचे नहीं जाता। यदि, तिर्यंच या मनुष्यायु का बंध होगया हो तो सम्यक्त्व होनेपर भोगभूमि का मनुष्य या तिर्यंच होता है। सम्यक्त्वी जीव भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषीदेव, स्त्री-पर्याय, थावर, विकलत्रय तथा पशुपर्याय में नहीं जाता, किन्तु सम्यक्त्व के प्रभाव से जबतक निर्वाण (मोक्ष) की प्राप्ति न हो, तबतक इंद्र, चक्रवर्ती, मंडलीक राजा, तीर्थंकर आदि महान् अभ्युदययुक्त पद पाता हुआ अल्पकाल ही में मोक्ष जाता है॥

उपसंहार-इस क्षेत्रमें इस घोर पंचमकाल में साक्षात् पंच परमेष्ठी का समागम मिलना दुर्लभ है। इस से उन के रचित जैनागम तथा उस पवित्र मार्ग के अनुसार प्रवर्तनेवाले सम्यक्त्वी वा एकोदेशचारित्र के धारक विद्वानों के समागमद्वारा तत्वार्थ श्रद्धानपूर्वक आत्मश्रद्धा करना तथा इस के शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा-स्तुति इन पंच अतीचारों को त्याग सम्यक्त्व को निर्दोष करना चाहिये। क्योंकि सम्यक्त्वरूपी दृढ नींव के बिना चारित्ररूपी महल नहीं बन सक्ता, इसी कारण आचार्योंने कहा है कि "सम्मं धम्मो मूलो" सम्यक्त्व धर्मकी जड़ है। इस के प्राप्त होते ही कुज्ञान, सुज्ञान और कुचारित्र, सुचारित्र हो जाता है॥ भावार्थ—सम्यक्त्व होनेसे ही कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान होकर आत्महित के मार्ग में यथार्थ प्रवृत्ति होती है। सम्यक्त्व होनेपर ही चारित्र-मोह के अभाव के लिये संयम धारण करने से आत्मस्वभाव (धर्म) की उत्पत्ति अर्थात् कषायादि विभाव भावों का अभाव होकर शुद्ध चैतन्यभाव प्रगट होता है॥

सम्यग्ज्ञान प्रकरण ।

दोहा ॥ निश्चय आतमज्ञान पुनि, साधन आगम बोध ॥
सम्यग्दर्शन पूर्व जिहि, सम्यग्ज्ञान विशोध ॥ १ ॥

आत्मा में अनंत स्वभाव तथा शक्तियां हैं पर सब में मुख्य ज्ञान है क्योंकि इसी प्रसिद्ध लक्षणके द्वारा आत्माका बोध होता है तथा आत्मा इसी के द्वारा प्रवृत्ति करता है। यद्यपि संसारी अशुद्ध आत्माका ज्ञान अनादिकाल से ज्ञानावरण कर्म से आवरणित हो रहा है तौ भी सर्वथा ढँक नहीं गया, थोड़ा बहुत सदा खुलाही रहता है क्योंकि गुणका सर्वथा अभाव कभी होता नहीं। जैसा २ ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम घटता बढ़ता, वैसा २ ही ज्ञान घटता बढ़ता रहता है। जबतक दर्शन मोहनीय कर्म का उदय रहता, तबतक ज्ञान कुज्ञानरूप परणमता है। जब आत्मा तथा पुद्गलकर्मका भेदविज्ञान हो जाता और मोहके उदय का अभाव होने या मंद पड़नेसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होजाती है, तब वही ज्ञान सुज्ञान होजाता है। प्रगट रहे कि यद्यपि आत्मा का यह ज्ञान गुण अखंडित चैतन्यरूप एकही प्रकार है, तथापि अनादि काल से ज्ञानावरण कर्मकी मतिज्ञानावरणी, श्रुतज्ञानावरणी, अवधिज्ञानावरणी, मनःपर्ययज्ञानावरणी, केवलज्ञानावरणी इन पांच प्रकार कर्म प्रकृतियोंसे आवरणित होनेके कारण यह ज्ञान खंड २ रूप होरहा है इसी कारण ज्ञानके सामान्यतः ५ भेद हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, और केवलज्ञान। इनमें केवलज्ञान के सिवाय शेप ४ ज्ञान तो अपने २ आवरण के हीनाधिक क्षयोपशम के अनुसार कम बढ़ होते हैं। सिर्फ केवलज्ञान केवलज्ञानावरणीके सर्वथा क्षय होनेपर ही उत्पन्न होता है। इन पांचो ज्ञानोंमेसे मति-श्रुत-अवधि ये तीन ज्ञान मिथ्यात्वके उदय से मिथ्यारूप रहते और मिथ्याज्ञान कहाते

हैं, सम्यक्त्व होनेपर सम्यक्रूप सम्यग्ज्ञान कहाते हैं। विशेष यह भी है कि परमावधि और सर्वावधि ज्ञान सम्यक् ही होते हैं मिथ्या नहीं होते, इसीप्रकार मनःपर्यय तथा केवलज्ञान भी सम्यक् ही होते हैं, क्योंकि इनकी उत्पत्ति सम्यग्दृष्टी के ही होती है। इन पांचों ज्ञानोंमें यद्यपि मति-श्रुत दोनों ज्ञान परोक्ष हैं तथापि इन्द्रिय प्रत्यक्ष होनेसे मतिज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहाता है। अवधि, मनःपर्यय एकोदेश प्रत्यक्ष और केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष होता है। प्रत्येक जीव के कम से कम मति-श्रुत दो ज्ञान प्रत्येक दशा में अवश्य ही रहते हैं ॥

अब इन पांचों ज्ञानोंका स्वरूप कहते हैं:-मतिज्ञान-मतिज्ञानावरण, वीर्यान्तराय के क्षयोपशम के अनुसार इन्द्रियों और मन के द्वारा जो ज्ञान होता, वह मतिज्ञान कहाता है। जैसे:-स्पर्शन इन्द्री से स्पर्श का जानना, रसना इन्द्री से रस का जानना, नासिका इन्द्री से गंध का बोध होना, चक्षु से रूप का देखना, कान से शब्द का सुनना तथा मन की सहायता से किसी विषय का स्मरण करना, ये सब मतिज्ञान है। प्रत्यभिज्ञान, तर्क तथा अनुमान ये भी मतिज्ञान ही है। इस मतिज्ञान के पांचों इन्द्रियों, छटवें मन के द्वारा बहु-बहुविधि आदि ज्ञेय पदार्थों के अर्थावग्रह, व्यंजनावग्रह, ईहा, आवाय धारणा होने करि ३३६ भेद होते हैं ॥

श्रुतज्ञान-श्रुतज्ञानावरण वीर्यान्तराय के क्षयोपशम के अनुसार मतिज्ञानद्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थ के अवलम्बन से पदार्थ से पदार्थान्तर का जानना सो श्रुतज्ञान है। यह अक्षरात्मक, अनक्षरात्मक दो प्रकार का होता है। जैसे स्पर्शनेन्द्रियद्वारा ठंड का ज्ञान होनेपर "ये मुझे अहितकारी है" ऐसा अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान होता है, इसकी प्रवृत्ति सैनी पंचेन्द्रिय के मन की

सहायता से स्पष्ट और एकेन्द्रिय से असैनी पंचेन्द्रियतक मन के विना, आहार, भय, मैथुन, परिग्रह संज्ञाओं तथा मतिज्ञान की सहायतापूर्वक यत्किंचित् सामान्य आभासमात्र होती है। पुनः "घोड़ा" ये दो अक्षर पढ़कर या सुनकर घोड़ा पदार्थ का जानना ऐसा अक्षरात्मक श्रुतज्ञान केवल सैनी पंचेन्द्रियों के ही होता है। इसी कारण "श्रुतमनिन्द्रियस्य" ऐसा तत्वार्थ-शास्त्र में कहा हुआ है। दोनों ज्ञानोंमें अक्षरात्मक श्रुतज्ञान ही मुख्य है क्योंकि सांसारिक लैन-दैन तथा पारमार्थिक मोक्ष-मार्गसम्बन्धी सम्पूर्ण व्यवहार इसी के द्वारा साधन होता है। यह अक्षरात्मक श्रुतज्ञान, जघन्य एक अक्षर से लेकर उत्कृष्ट अंग-पूर्व-प्रकीर्णकरूप जितना केवलज्ञानी की दिव्यध्वनि के अनुसार श्रीगणधरदेवने निरूपण किया है तितना है॥ इस श्रुतज्ञान का विषय केवलज्ञान की नांई अमर्यादरूप है, अवधि-मनःपर्यय ज्ञान की नांई मर्यादरूप नहीं है। रूपी-अरूपी सभी पदार्थ इस के विषय हैं। अन्तर यह है कि केवल-ज्ञान विशद-प्रत्यक्ष और श्रुतज्ञान अविशद-परोक्ष है॥

अवधिज्ञान—अवधिज्ञानावरण, वीर्यान्तराय के क्षयोप-शम होते, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की मर्यादा को लिये हुए रूपी पदार्थों को (इन्द्रिय-मन की सहायता विना ही) आत्मा जिस ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष जाने, सो अवधिज्ञान कहाता है। यह दो प्रकार का होता है॥ (१) भवप्रत्यय—जो देव, नारकी, छद्मस्थ-तीर्थंकर के सर्व आत्मप्रदेशों में अवधिज्ञानावरण, वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से होता है. इन जीवों के अवधिज्ञान का मुख्य कारण भव ही है और यह देशावधिरूप ही होताहै। (२) गुणप्रत्यय—पर्याप्त मनुष्य तथा संज्ञी पंचेन्द्री पर्याप्त ति-र्यंच के सम्यग्दर्शन तथा तप गुण करि नाभि से ऊपर किसी अंग में शंख-चक्र-कमल-वज्र-सांथिया-माछला-कलश आदि चिन्ह-

युक्त आत्मप्रदेशों में अवधिज्ञानावरण, वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से होता है। यह देशावधि, परमावधि, सर्वावधि तीनों रूप होता है। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान अनुगामी-अननुगामी, अवस्थित-अनवस्थित,वर्धमान-हीयमान के भेद से ६ प्रकार का होता है॥ जो अवधिज्ञान जीव के एक भव से दूसरे भव में साथ चलाजाय सो भवानुगामी, जो भवान्तर में साथ न चलाजाय सो भवाननुगामी है। जो अवधिज्ञान क्षेत्र से क्षेत्रान्तर में जीव के साथ चला जाय सो क्षेत्रानुगामी, जो क्षेत्रान्तर में साथ न जाय सो क्षेत्राननुगामी है। जो अवधिज्ञान भव तथा क्षेत्र से भवान्तर तथा क्षेत्रान्तर में साथ जाय सो उभयानुगामी, जो भवान्तर तथा क्षेत्रान्तर में साथ न जाय सो उभयाननुगामी है। जो अवधिज्ञान जैसा उपजै तैसा ही बना रहे सो अवस्थित, जो घटै बढ़ै सो अनवस्थित है। जो उत्पन्न होनेपर क्रमशः बढ़ता हुआ उत्कृष्ट हद्दतक चला जाय सो वर्धमान और जो क्रमशः घटकर नष्ट हो जाय सो हीयमान है॥

अवधिज्ञान के सामान्यकरि तीन भेद हैं। देशावधि, परमावधि, सर्वावधि॥ (१) देशावधि-इस का विषय तीनों में थोड़ा है, यह भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय दोनोंरूप होता है तथा संयमी-असंयमी दोनों के होता है। इसका उत्कृष्ट भेद मनुष्य-महाव्रती ही के होता है यह प्रतिपाती (छूटजानेवाला) अप्रतिपाती (न छूटनेवाला) दोनों प्रकार का होता है॥ परमावधि-मध्यम भेदरूप और सर्वावधि-एक उत्कृष्ट भेदरूप ही होता है, ये दोनों चरम शरीरी तद्भवमोक्षगामी के ही होते हैं॥ देशावधि-परमावधि दोनों विषयभूत द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के भेदों की अपेक्षा असंख्यात भेदरूप होते हैं और सर्वावधि-केवल एक भेदरूप ही होता है॥

मनःपर्ययज्ञान—मनःपर्यय ज्ञानावरण, वीर्यान्तराय के क्षयोपशम होते, आंगोपांग नाम कर्म के अवलम्बन से परके मन के संबंधकारि, अवधिज्ञानद्वारा जानने योग्य द्रव्य के अनंतवें भाग सूक्ष्म, रूपी पदार्थ को जिस ज्ञान के द्वारा आत्मा स्वतः प्रत्यक्ष जाने, सो मनःपर्ययज्ञान कहाता है। इस का क्षयोपशम संयमी मुनियों के ही मन के आत्म-प्रदेशों में (जहां मति-ज्ञानावरण का क्षयोपशम है) होता है॥ इस के दो भेद हैं॥

(१) ऋजुमति—जो पर के मन में तिष्ठते, सरल मनद्वारा चिन्तवन किये हुए, सरल वचनद्वारा कहे हुए, सरल कायद्वारा किये हुए पदार्थ को किसी के पूछे या विना पूछे ही जाने, जो इस पुरुषने ऐसा चिंतवन किया, ऐसा कहा, ऐसा कायद्वारा किया। इस प्रकार आपके-परके जीवित-मरण, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ को ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी जानसक्ता है॥ (२) विपुलमति—जो सरल वा वक्र मन, वचन, कायद्वारा चिन्तित-अर्ध चिन्तित-अचिन्तित ऐसे ही कहे हुये-किये हुए पुनः कालान्तर में विसरण हुए मन में तिष्ठते पदार्थ को पूछे या विना पूछे ही जाने। इस प्रकार आप के वा पर के जीवित-मरण, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ को विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानी जान सक्ता है॥

केवलज्ञान—ज्ञानावरण, अंतराय कर्म के सर्वथा क्षय होने से जो आत्मा का स्वच्छ-स्वाभाविक ज्ञान प्रगट होता है सो केवलज्ञान है। यह आत्मा के सर्व प्रदेशों में होता, इस की स्वच्छता में लोकालोक के सम्पूर्णरूपी-अरूपी पदार्थ अपनी भूत-भविष्यत्-वर्तमान कालिक अनंत पर्यायोंसहित युगपत् झलकते हैं। यह ज्ञान परमात्मअवस्था में होता है।

इन ज्ञानों के विशेष भेद वा स्वरूप का वर्णन श्रीगोमट्टसारजी के ज्ञान-मार्गणाधिकार से जानना, यहां प्रसंगवश दिग्दर्शन-मात्र लिखा है ॥

सम्यग्दर्शन के विषय में जितना कुछ कहा गया है वह ज्ञान का ही विषय है । यह सम्यग्दर्शन, जीव-अजीवादि तत्त्वार्थ उन्मुखी बुद्धि (श्रद्धा) उन में प्रीति (रुचि) और दृढ़ विश्वास (प्रतीति) होने से होता है । इस प्रकार निश्चय तत्त्वार्थ श्रद्धान के साथ ही शुद्धानुभूति होती है । सम्यग्ज्ञान में संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय नहीं रहते, सो ही शास्त्रों में स्पष्ट कहा है कि "जीवादि मोक्षमार्ग के उपयोगी पदार्थों को न्यूनता-अधिकता-विपरीतता तथा सन्देहरहित जैसा का तैसा जाननेवाला सम्यग्ज्ञान है" ॥

इस सम्यग्ज्ञान का मुख्य कारण श्रुतज्ञान है । विषयभेद से इस के चार विभाग हैं, प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग । इन में आत्मज्ञान की उत्पत्ति का कारणपना होने से इन्हें वेद भी कहते हैं ॥ इन चारों का स्वरूप इस प्रकार है ॥

१ प्रथमानुयोग—इस में मुख्यतया ६३ शलाकापुरुषों का अर्थात् २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलिभद्र, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण का तथा इन के अंतर्गत और भी अनेक प्रधान पुरुषों का चरित्र वर्णन है तहां चरित्र के आश्रय पुण्यपापरूप कार्य तथा उन के फल का वर्णन है । इस के अध्ययन करने से जीव पापों से हटकर पुण्य की ओर झुकता और धर्म के सामान्य स्वरूप को जानकर विशेष जानने का अभिलाषी होकर दूसरे ३ अनुयोगों का अभ्यास करता है । आरंभ में धर्म के सन्मुख करने को उपयोगी होने से प्रथमानुयोग इस का सार्थक नाम है ॥

२ करणानुयोग—इस में तीन लोक का अर्थात् ऊर्ध्व-लोक (स्वर्गों) का, मध्यलोक (इस मनुष्यलोक) का, अधोलोक (नरकों) का विस्तारपूर्वक वर्णन है । तथा आत्मा में कर्म के मिश्रितपने से गति, लेश्या, कपाय, इन्द्रियां, योग, वेदादिरूप कैसी २ विभाव अवस्थायें होतीं और कर्मों की हीनाधिक्यता से उन में किस २ प्रकार अदल-बदल अथवा हानि-वृद्धि होती है अथवा किस क्रम से इन का अभाव हो कर आत्मा निष्कर्म अवस्था को प्राप्त होता है, कर्मों के भेद, बंध, उदय, सत्ता आदि का विस्तृत वर्णन है। इस का हरएक विषय गणित से सम्बन्ध रखता है, इसलिये इसे करणानुयोग कहते हैं ॥

३ चरणानुयोग—इस में श्रावक (गृहस्थ) तथा मुनि (साधु) धर्म का वर्णन है। इस में बताया गया है कि किस २ प्रकार पापों के त्यागने से आत्म-परिणाम उज्वल होकर कर्म-बंध का अभाव होता और आत्मा शुद्ध अवस्था को प्राप्त हो सक्ता है । आत्मा में कर्मों के बंध होने का कारण आत्मा के मलिन भाव अर्थात् राग-द्वेप हैं और आत्मा के कर्मबंध से छूटने (मुक्त होने) का कारण निर्मल भाव हैं, इसलिये इस अनुयोग में क्रमशः उज्वल भाव होने के लिये आचरण-विधि बताई गई है इसलिये इसे चरणानुयोग कहते हैं ॥

४ द्रव्यानुयोग—इस में जीवादि पट् द्रव्यों, सप्त तत्वों, नव पदार्थों और जीव के स्वभावों विभावों का वर्णन है, जिस से जीवको वैभाविक-भावों के त्यागने और स्वाभाविक भावों के प्राप्त करने की रुचि उत्पन्न हो। इस में द्रव्यों का वर्णन विशेषरूप से होने के कारण यह द्रव्यानुयोग कहाता है ॥

सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के आठ अंग हैं। (१) शब्दाचार—व्याकरण के अनुसार अक्षर-पद-वाक्यों का शुद्ध उच्चारण

करना ॥ (२) अर्थाचार—शब्द और यथार्थ अर्थ को अव-धारण करना ॥ (३) उभयाचार—शब्द और अर्थ दोनों की शुद्धता करना ॥ (४) कालाचार—योग्य काल में श्रुत अध्ययन करना । गोसर्ग काल (दो पहर के दो घड़ी पहिले और प्रातःकाल के २ घड़ी पीछे) प्रदोप काल (दो पहर के दो घड़ी पीछे तथा संध्या के २ घड़ी पहिले अथवा संध्या के २ घड़ी पीछे और अर्धरात्रि के दो घड़ी पहिले) विरात्रि काल-(अर्धरात्रि के २ घड़ी पीछे और प्रातःकाल के २ घड़ी पहिले) इन कालों के सिवाय दिग्दाह, उल्कापात, इन्द्रधनुष्य, सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, तूफान, भूकम्पादि उत्पातों के समय सिद्धान्त ग्रंथों (अंगपूर्वों) का पठन-पाठन वर्जित है। स्तोत्र-आराधना, धर्मकथादि ग्रंथों का पठन-पाठन वर्जित नहीं है। (५) विनयाचार—शुद्ध जल से हस्त-पादादि प्रक्षालन कर शुद्ध स्थान में पर्यंकासन बैठकर पूज्यबुद्धिपूर्वक नमस्कार-युक्त शास्त्र पठन-पाठन करना अथवा आप शास्त्रमर्मी होकर भी नम्ररूप रहना, उद्धतरूप न होना ॥ (६) उपधाना-चार—स्मरणसहित स्वाध्याय करना (७) बहुमानाचार—ज्ञान, पुस्तक, शिक्षक, विशेषज्ञानी इन का यथायोग्य आदर करना, ग्रंथ को लाते-ले जाते उठ खड़ा होना, पीठ नहीं देना, ग्रंथ को उच्चासन पर विराजमान करना, अध्ययन करते समय और वार्तालाप न करना, अशुचि अंग-अशुचि वस्त्रादि का स्पर्श न करना (८) अनिन्हवाचार—जिस शास्त्र, जिस गुरु से शास्त्रज्ञान हुआ हो, उस का नाम न छिपाना, छोटे शास्त्र या अल्पज्ञानी शिक्षक का नाम लेने से मेरा महत्व घट-जायगा, इस भय से बड़े ग्रंथ या बहुज्ञानी शिक्षक का नाम अपने मानार्थ असत्य ही न लेना, क्योंकि ऐसा करने में मायाचार का अति दोष होता है ॥

इस प्रकार भलीभांति रक्षापूर्वक सम्यग्ज्ञान के अंगों के पालन करने से ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम विशेष होकर ज्ञान बढ़ता है। इसमें एक विशेषता यह भी है कि जितने अंशों संसार की आसक्ति घटती और चित्त थिर होता है, उतना ही अधिक और शीघ्र ज्ञान बढ़ता है, अतएव सम्यग्ज्ञान की वृद्धि के लिये सांसारिक स्थूल २ आकुलताओं का घटाना भी जरूरी है॥

जब कि ज्ञान के बिना सांसारिक तथा पारमार्थिक कोई भी कार्य नहीं सधते, तो हरएक मनुष्य का कर्तव्य है कि सांसारिक प्रयोजनीय विद्या के साथ २ धर्मस्वरूप जानने के लिये अपनी स्थिति के अनुसार धर्मशास्त्रों का बोध होने के योग्य संस्कृत-प्राकृत तथा हिन्दी भाषा स्वयं पढ़े, अपने स्त्री, पुत्र, पुत्री आदि को पढ़ावे, धर्मशास्त्रों के मर्म जानने का प्रयत्न करे। अपने से विशेष विद्वानोंद्वारा धार्मिक तत्वों (गूढ़ विषयों) के स्वरूप को स्पष्ट करे, क्योंकि धर्मज्ञान के बिना आजीविका तथा कुटुम्बादि सम्बन्धी सर्व सांसारिक सुख व्यर्थ हैं; आत्महित धर्मज्ञानसे ही होता है, अतएव हरएक स्त्री-पुरुष, पुत्र-पुत्री को उचित है कि जिस प्रकार आजीविका के निमित्त विद्याध्ययन में परिश्रम करते हैं, उसी प्रकार आत्म-कल्याण के लिये उपर्युक्त सम्यग्ज्ञान के अष्ट अंगोंकी रक्षा करते हुए धार्मिक विद्या सीखें, क्योंकि नीति का वाक्य है कि:—

दोहा—कला बहत्तर पुरुष की, तामें दो सरदार।
एक जीव आजीविका, एक जीव उद्धार॥ १॥

उचित है कि इस प्रकार सामान्य तत्वज्ञानपूर्वक श्रद्धान होने पर ज्ञान की वृद्धि और परिणामों की निर्मलता के लिये सदा शास्त्राभ्यास करता रहे, जिससे पुण्यबंध होने के साथ दिन २ पदार्थों का विशेष बोध होता जाय॥

सम्यक् चारित्र ।

दोहा—निज स्वरूप में रमणता, सम्यक्चारित धर्म ।
व्यवहारैं द्वैविधि कहो, श्रावक अरु मुनिधर्म ॥ १ ॥

इस प्रकार ऊपर वर्णन किये हुए अनुसार मिथ्यात्व के अभाव होने से भव्य जीवों को सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होजाती है। साथ २ अनंतानुवंधी कपाय के अभाव से स्वरूपाचरण चारित्र की प्राप्ति होती अर्थात् शुद्धात्मजनित निराकुलित सच्चे सुख का अनुभव होने लगता है, परंतु तौ भी चारित्र मोह की अप्रत्याख्यानावरणादि प्रकृतियों के उदय से आत्मस्वरूपमें अमलता, अचलता नहीं होती। अतएव इसी दोष को दूर करने के लिये उन्हें अणुव्रत महाव्रतादिरूप संयम धारण करने की उत्कट इच्छा होती है। अविरत सम्यग्दृष्टी जीव यद्यपि चारित्र मोह की तीव्रता वश, अनिवारित बाह्य-कारणों से पराधीन हुए चारित्र धारण नहीं करसक्ते, तथापि अंतरंग में संसार से विरक्त और मोक्ष से अनुरक्त रहते हैं। धर्म-मर्मी होजाने से उन्हें पवित्र जैन धर्म की तीव्र पक्ष होजाती है। नियमपूर्वक एवं क्रम से व्रत न होने के कारण यद्यपि वे अव्रती है तथापि उन के अनंतानुवंधी के साथ अप्रत्याख्यानावरण का जैसा तीव्र उदय मिथ्यात्व अवस्था में था, वैसा तीव्र उदय अनंतानुवंधी के अभाव होने पर नहीं रहता, किन्तु मध्यम रूप से रहता है जिस से अन्याय, अभक्ष्यसेवन में उनकी रुचि नहीं रहती और न वे निरर्गलपने हिंसा में प्रवर्तते हैं। प्रशम, संवेग, अनुकंपा उत्पन्न होजाने से सप्तव्यसनसेवन की बात तौ दूर ही रहे इन्द्रियविषयजनित सुख उन्हें दुःखरूप भासने लगते हैं।

भावार्थः—अंतरंग में उन्हें आत्मसुख झलकने लगता और विषयसुखों से घृणा हो जाती है ॥

सम्यग्दृष्टी जीव को दृढ़ श्रद्धान हो जाता है कि मैं आत्मा, शुद्ध चैतन्यशक्तियुक्त होता हुआ कर्मावरण के कारण क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शनरूप अनेकाकार होरहा हूं, राग-द्वेष से मलिन हो निजात्मस्वरूप को छोड़ अन्य पर-पदार्थों में रत होरहा हूं, इसलिये कब चारित्र धारण कर रागद्वेष का निर्मूल नाश करूं और निष्कर्म होकर निजस्वरूप में लीन हो शांत दशा प्राप्त करूं। इस प्रकार स्वरूपाचरण चारित्र का अंश उत्पन्न होनाही सम्यग्दृष्टि-मोक्षमार्गी का असाधारण चिन्ह है। सो ही शास्त्रों में स्पष्ट कहा है कि "सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः" अर्थात् रत्नत्रय की एकता ही मोक्षमार्ग है। यदि सम्यग्दृष्टि के ये स्वरूपाचरण चारित्रका अंश उत्पन्न न हो तो वह मोक्षमार्गी नहीं ठहर सक्ता।

इस प्रकार संसार से उदासीनता और आत्महितकी इच्छा उत्पन्न होते ही कोई विरले उत्तम जीव, जिन के चारित्र मोह का मंद उदय हो, अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण कषाय की चौकड़ी का उपशम होगया हो, भव्यता निकट आगई हो, दृढ़ संहनन के धारक हों, वे एकाएक निर्ग्रंथ (मुनि) धर्म धारण कर आत्मस्वरूप को साधन करते हैं। जिन के चारित्र मोह की अल्प मंदता हुई हो, अप्रत्याख्यानावरण की चौकड़ी का उपशम हुआ हो, जो हीन शक्ति के धारक हों, वे श्रावक व्रतों का अभ्यास करते हुए क्रमशः विषयकषायों को घटा कर पीछे मुनिव्रत धारण करते और मोक्ष के पात्र बनते हैं, यही राजमार्ग है, क्योंकि विषय-कषाय घटाये विना मुनिव्रत धारलेना अकार्यकारी-स्वांगमात्र है। अतएव सम्यक्त्व होने पर राग-

द्वेष दूर करने के लिये अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अनुकूलतानुसार चारित्र धारण करना चाहिये, और यह बात स्मरण रखना चाहिये कि आचार्यों ने जहां तहां चारित्रधारण का मूल-उद्देश विषय-कषायों का घटाना बताया है अर्थात् जहां जिस प्रकार की कषाय के उत्पादक बाह्य हिंसादि पापों का त्याग बताया है वहीं उसी के साथ २ उसी प्रकार की कषायके उत्पादक और २ कारणों का भी त्याग कराया है। अतएव प्रत्येक जिज्ञासु पुरुष को वहिरंग कारणों और अन्तरंग कार्यों की ओर पूरी २ दृष्टि देकर चारित्र धारण करना चाहिये, तभी इष्ट प्रयोजन की सिद्धि होसक्ती है। अन्यथा केवलमात्र कुछ बाह्य कारणों के छोड़ने और उसी प्रकार के अन्य बहुत से कारणों के न छोड़ने से इष्ट साध्य की सिद्धि नहीं होसक्ती॥

प्रगट रहे कि चारित्र, सकल अर्थात् महाव्रतरूप-साधुधर्म और विकल अर्थात् अणुव्रतरूप-गृहस्थधर्म दो प्रकार का होता है॥ यहां प्रथम ही गृहस्थधर्म का स्पष्ट और विस्तृत वर्णन किया जाता है, क्योंकि अल्पशक्ति के धारक पुरुषों को गृहस्थाश्रम में रहकर श्रावक व्रतों के यथाक्रम ठीक २ रीति से अभ्यास करने से मुनिव्रत धारण करने की शक्ति उत्पन्न होजाती है॥

यद्यपि प्रथमानुयोग के ग्रंथों में सामान्य रीति से छोटी-मोटी प्रतिज्ञा लेनेवाले जैनी-गृहस्थ को भी कई जगह श्रावक कहा है तथापि चरणानुयोग की पद्धति से यथार्थ में पाक्षिक, नैष्ठिक तथा साधक तीनों को ही श्रावक संज्ञा है क्योंकि श्रावक के अष्ट मूलगुण और सप्त व्यसनों का त्याग हीनाधिकरूप से इन तीनों में पाया जाता है। सो ही सागारधर्मामृतादि ग्रंथों में स्पष्ट कहा है कि पंच उदुम्बरादि त्याग या पंचाणुव्रत धारण और ३ मकार का त्याग ये श्रावक के अष्ट

मूलगुण तथा अहिंसादि १२ अणुव्रत उत्तरगुण हैं। इन्हीं १२ व्रतों का विशेष श्रावक की ५३ क्रियायें हैं, इन क्रियाओं को धारण एवं पालन करने के कारण ही श्रावकों को "५३ क्रिया प्रतिपालक" विशेषण दिया जाता है। इन क्रियाओंकी शोधना क्रमशः प्रथमादि प्रतिमाओं में होती हुई पूर्णता ग्यारहवीं प्रतिमा में होती है॥

श्रावक की ५३ क्रियाएँ।

गाथा।

गुण-वय-तव-सम-पडिमा, दाणं-जलगालणं च-अणथमियं॥
दंसण-णाण-चरित्तं, किरिया तेवण्ण सावया भणिया॥ १॥

अर्थ—८ मूलगुण, १२ व्रत, १२ तप, १ समता (कषायों की मन्दता) ११ प्रतिमा, ४ दान, १ जलगालण १ अंथऊ* १ दर्शन, १ ज्ञान, १ चारित्र. एवं॥ ५३॥

अब पाक्षिक, नैष्ठिक तथा साधक इन तीन प्रकार के श्रावकों का पृथक २ वर्णन किया जाता है॥

पाक्षिक श्रावक वर्णन.

जिनको जैनधर्म के देव, गुरु, शास्त्रों द्वारा आत्म-कल्याण का स्वरूप वा मार्ग भलीभांति ज्ञात तथा निश्चित होजाने से पवित्र जिनधर्म की तथा श्रावकधर्म (अहिंसादि) की पक्ष होजाती. जिनके मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ भावनायें दिन २ वृद्धिरूप होती जातीं. जो स्थूल त्रस हिंसा के त्यागी हैं. ऐसे चतुर्थ गुणस्थानी सम्यग्दृष्टी, पाक्षिकश्रावक कहाते हैं।

---

*. संध्याके २ घड़ी पहिले भोजन करना अंथऊ या व्यालू कहाता है।

इन्हें व्रतादि प्रतिमाओं के धारण करने के अभिलाषी होने से प्रारब्ध संज्ञा भी है। इन के सप्त व्यसनों का त्याग तथा अष्ट मूलगुण धारण, (जिन में पंचाणुव्रत भी गर्भित हैं) सातीचार होता है, ये जान बूझकर अतीचार नहीं लगाते किन्तु बचाने का प्रयत्न करते हैं, तौ भी अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से विवश अतीचार लगते हैं।

पाक्षिक श्रावक आपत्ति आने पर भी पंच परमेष्ठी के सिवाय चक्रेश्वरी, क्षेत्रपाल, पद्मावती आदि किसी देवी-देवता की पूजा-वंदना नहीं करता। रत्नकरंड श्रावकाचार में श्रीसमंतभद्र-स्वामी ने भी सम्यग्दृष्टी को इनकी पूजन-वंदन का स्पष्टरूप से निषेध किया है।

(नोट) जिन धर्म के भक्त देवों को साधारण रीति पर साधर्मी जान यथोचित आदर सत्कारपूर्वक यज्ञ (प्रतिष्ठा) आदि कार्यों में उन के योग्य कार्य संपादन करने के लिये सौंपनेसे सम्यक्त्व में कोई हानि-बाधा नहीं आसक्ती ॥

अब यहां अष्ट मूलगुण और सप्त व्यसन का स्पष्ट वर्णन किया जाता है ॥

अष्ट मूलगुण ॥

कई ग्रंथोंमें वड़, पीपल, गूलर (ऊमर), कठूमर, पाकर इन पंच उदुम्बर फलों के (जिनमें प्रत्यक्ष त्रस जीव दिखाई देते हैं) तथा मद्य, मांस, मधु तीन मकारोंके (जो त्रस जीवों के कलेवर के पिंड हैं) त्याग करनेको अष्ट मूलगुण कहा है। रत्नकरंड श्रावकाचारादि कई ग्रंथों में पंचाणुव्रत धारण तथा तीन मकार के त्याग को अष्ट मूलगुण कहा है। महापुराण में मधु की जगह सप्त-व्यसन के मूल जुंएकी गणना किई है। सागारधर्मामृतादि कई

ग्रंथोंमें मद्य (शराब) मांस, मधु (शहद) इन तीन मकार के त्याग के ३, उपर्युक्त पंच उदुम्बर फलों के त्याग का १, रात्रि भोजन के त्याग का १, नित्य देववंदना करने का १, जीवदयापालने का १, जल छानकर पीने का १, इस प्रकार अष्ट मूलगुण कहे हैं। इन सब ऊपर कहे हुए अष्ट मूलगुणों पर जब सामान्यरूपसे विचार किया जाता है तो सभी का मत अभक्ष्य, अन्याय और निर्दयता के त्याग कराने और धर्म में लगाने का एकसरीखा ज्ञात होता है। अतएव सब से पीछे कहे हुए त्रिकाल वंदना, जीवदया पालनादि अष्ट मूलगुणों में इन अभिप्रायों की भलीभांति सिद्धि होने के कारण यहां उन्ही के अनुसार वर्णन किया जाता है॥

१ मद्यदोष—मद्य बनाने के लिये महुए, दाख, छुहारे आदि पदार्थ, कई दिनोंतक सड़ाये जाते हैं, पीछे यंत्रद्वारा उनसे शराब उतारी जाती है, यह महा दुर्गंधित होती, इसके बननेमें असंख्याते-अनंते, त्रस-थावर जीवोंकी हिंसा होती है। यह मद्य मन को मोहित करती, जिससे धर्म-कर्म की सुधि-बुधि नहीं रहती तथा पंच पापोंमें निश्शंक प्रवृत्ति होती है, इसी कारण मद्यको पंच पापकी जननी कहते हैं। मद्य पीनेसे मूर्छा, कंपन, परिश्रम, पसीना, विपरीतपना, नेत्रों के लाल हो जाने आदि दोषों के सिवाय मानसिक एवं शारीरिक शक्ति नष्ट हो जाती है। शराबी धनहीन और अविश्वास का पात्र हो जाता, शराबीका शरीर प्रतिदिन अशक्त होता जाता, अनेक रोग आघेरते, आयु क्षीण होकर नाना प्रकार के कष्ट भोगता हुआ मरता है। प्रत्यक्ष ही देखो! मद्यपी उन्मत्त होकर माता, पुत्री, बहिन आदि की सुधि भूलकर निर्लज्ज हुआ जदवा-तदवा वर्ताव करता है॥ इस प्रकार मद्यपी स्वपर को दुखदाई होता हुआ, जितने कुछ संसार में दुष्कर्म हैं,

सभी करता है, उससे कोई भी व्यसन बच नहीं रहता। ऐसी दशा में धर्मकी सुधि तथा उसका सेवन होना सर्वथा असंभव है॥ मद्यपानी इस लोक में निंद्य तथा दुखी रहता और मरनेपर नरकको प्राप्त होकर अति तीव्र कष्ट भोगता है। वहां उसे संडासियों से मुंह फाड़ २ कर कर तांबा-सीसा औंट २ कर पिलाया जाता है॥ इसप्रकार मद्य-पानको लोक-परलोक बिगाड़नेवाला जान दूरसे ही तजना योग्य है॥ प्रगट रहे कि चरस, चंडू, अफीम, गांजा, तमाखू, कोकेन आदि नशीली चीजें खाना-पीना भी मदिरापान के समान धर्म-कर्म नष्ट करनेवाली हैं, अतएव मद्यत्यागी को इनका त्यागना भी योग्य है॥

२ मांस दोष-मांस. यह त्रस जीवों के वध से उत्पन्न होता है। इसके स्पर्श, आकृति, नाम और दुर्गंधि ही से चित्त में महाग्लानि उत्पन्न होती है। यह जीवोंके मूत्र, विष्टा एवं सप्त धातु-उपधातुरूप महा अपवित्र पदार्थोंका समूह है। मांस का पिंड चाहे सूखा हुआ हो, चाहे पका हुआ हो, उसमें हर हालत में त्रस जीवों की उत्पत्ति होती ही रहती है। मांस भक्षण के लोलुपी बिचारे, निरअपराध दीन-मूक पशुओं को वध करते हैं। मांसभक्षियोंका स्वभाव निर्दय, कठोर, सर्वथा धर्म धारण के योग्य नहीं रहता। मांसभक्षण के साथ २ मदिरापानादि व्यसन भी लगते हैं। मांसभक्षी इस लोक में सामाजिक एवं धर्मपद्धति में निंद्य गिना जाता है मरनेपर नरक के महान दुस्सह दुःख भोगता है। वहां लोहेके गर्म गोले संडासियोंसे मुंह फाड़ फाड़ कर खिलाये जाते तथा दूसरे २ नारकी गृद्धादि मांसभक्षी पशु पक्षियोंका रूप धारण कर इस के शरीर को चोंटते और नाना प्रकार के दुख देते हैं। अतएव मांसभक्षणको अतिनिंद्य, दुर्गति एवं दुःखोंका दाता जान सर्वथा त्यागना योग्य है॥

३ मधुदोष—मधु अर्थात् शहद की मक्खियां फूलों का रस चूस २ कर लातीं, उसे उगलकर अपने छत्ते में एकत्र करतीं और वहीं रहतीं हैं, उसी में सन्मूर्छन अंडे उत्पन्न होते हैं। भील-गोंड़ आदि निर्दयी नीच जातिके मनुष्य उन छत्तों को तोड़, मधु-मक्खियों को नष्ट कर उन अंडों-बच्चों को बची-खुची मक्खियोंसमेत निचोड़ इस मधु को तय्यार करते हैं। यथार्थ में यह त्रस जीवों के कलेवर (मांस) का पुंज अथवा सत है। इस में समय २ असंख्याते त्रस जीवों की उत्पत्ति होती रहती है। अन्यमतों में भी इस के भक्षण करने का निषेध किया गया है। यथा श्लोक-सप्तग्रामेषु यत्पापमग्निना भस्म यत्कृतं। तत्पापं जायते जन्तून् मधुविन्द्वेकभक्षणात् ॥ १ ॥ मेदमूत्रपुरीषाद्यैः, रसाद्यैर्निर्द्धितं मधु ॥ छर्दिलालामुखश्रावि, भक्षंते ब्राह्मणाः कथं ॥ २ ॥ भावार्थ-मधुभक्षण के पाप से नीचगति का गमन और नाना प्रकार के दुःखों की प्राप्ति होती है अतएव इसे सर्वथा त्यागना योग्य है ॥

जिस प्रकार ये तीन मकार अभक्ष्य एवं हिंसामय होने से त्यागने योग्य हैं उसी प्रकार मक्खन भी है। यह महाविकृत, दर्प का उत्पन्न करनेवाला और घृणारूप है। तैयार होने पर यद्यपि इसमें अंतर्मुहूर्त के पीछे त्रस जीवों की उत्पत्ति होना शास्त्रों में कहा है, तथापि विकृत होने के कारण आचार्यों ने तीन मकार के समान इसे भी अभक्ष्य और सर्वथा त्यागने योग्य कहा है ॥

४ पंच उदुम्बरफल दोष—जो वृक्ष के काठ को फोड़-कर फलें, सो उदुम्बर फल कहाते हैं। यथाः—१ गूलर या ऊमर, २ वट या वड़, ३ प्लक्ष या पाकर, ४ कटूमर या अंजीर, ५ पिप्पल या पीपल ॥ इन फलों में हिलते, चलते, उड़ते, सैकड़ों जीव आंखों दिखाई देते हैं। इनका भक्षण निषिद्ध, हिंसा का कारण और आत्मपरिणाम को मलीन करनेवाला है। जिस

प्रकार मांसभक्षी के दया नहीं, मदिरापायीके पवित्रता नहीं, उसी प्रकार पंच उदुम्बर फल के खानेवाले के अहिंसाधर्म नहीं होता, अतएव इन का भक्षण तजना योग्य है ॥ इनके सिवाय जिन वृक्षों में दूध निकलता हो, ऐसे क्षीरवृक्षों के फलों का अथवा जिनमें त्रसजीवों की उत्पत्ति होती हो, ऐसे सभी फलों का सूखी, गीली आदि सभी दशाओं में भक्षण सर्वथा तजना योग्य है। इसी प्रकार सड़ा-घुना अनाज भी अभक्ष्य है, क्योंकि इसमें भी त्रस जीव होने से मांस भक्षण का दोष आता है ॥

५ रात्रिभोजन दोष–दिन को भोजन करने की अपेक्षा रात्रिको भोजन करनेमें राग-भावकी उत्कटता, हिंसा और निर्दयता विशेष होती है। जिसप्रकार रात्रिको भोजन बनाने में असंख्याते जीवों की हिंसा होती, उसी प्रकार रात्रि को भक्षण करने में भी असंख्याते जीवों की हिंसा होती है, इसी कारण शास्त्रों में रात्रिभोजियों को निशाचर की उपमा दीगई है। यहां कोई शंका करे, कि रात्रिको दीपक के प्रकाश में भोजन किया जाय तो क्या दोष है? तिसका समाधान–दीपक के प्रकाश के कारण बहुत से पतंगादि सूक्ष्म तथा बड़े २ कीड़े उड़कर आते और भोजन में गिरते हैं। रात्रि भोजन में अरोक (अनिवारित) महान् हिंसा होती है। रात्रि में अच्छी तरह न दिखने से हिंसा (पाप) के सिवाय शारीरिक नीरोगता में भी बहुत हानि होती है। मक्खी खाजाने से वमन हो जाता, कीड़ी खाजाने से पेशाव में जलन होती, केश भक्षण से स्वर का नाश होता, जुआं खाजाने से जलोदर रोग होता, मकड़ी भक्षण से कोढ़ हो जाता, यहां तक कि विषमरा के भक्षण से आदमी मर तक जाता है ॥

धर्मसंग्रह श्रावकाचार में रात्रिभोजन प्रकरण में स्पष्ट कहा है कि रात्रि में जब देवकर्म, स्नान, दान, होमकर्म नहीं किये

जाते (वर्जित हैं) तो फ़िर भोजन करना कैसे संभव हो सक्ता है? कदापि नहीं। वसुनन्दिश्रावकाचार में कहा है कि रात्रि-भोजी किसी भी प्रतिमा का धारक नहीं हो सक्ता। वैष्णवमत के मार्कंडेय आदि पुराणों में भी रात्रिभोजन को मांसभक्षण समान और जलपान को रक्तपान समान निंद्य बताया है। इसी कारण यह रात्रिभोजन उत्तम जाति, उत्तम धर्म, उत्तम कर्म को दूषित करनेवाला, नीचगति को लेजानेवाला जान सर्वथा त्यागने योग्य है। एक मुहूर्त दिन चढ़े से एक मुहूर्त दिन रहे तक भोजन करना दिवसभोजन है शेष काल में भोजन करना तथा दिन को अंधेरे क्षेत्र-काल में भोजन करना रात्रि में भोजन करने के समान है॥

६ देववंदना—वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी, श्री अर्हंतदेवके साक्षात् वा प्रतिबिम्ब रूप में, सच्चे चित्त से अपना पूर्ण पुण्योदय समझ पुलकित-आनंदित होते हुए दर्शन करने, गुणों के चिंतवन करने तथा उन को आदर्श मान अपने स्वभाव, विभावों का चिंतवन करने से सम्यक्त्व की उत्पत्ति होसक्ती है। पुनः नित्य त्रिकालवंदन, पूजन, दर्शन करने से सम्यक्त्व की निर्मलता, धर्म की श्रद्धा, चित्त की शुद्धता, धर्म में प्रीति बढ़ती है। इस देववंदना का अन्तिम फल मोक्ष है, अतएव मोक्षरूपी महानिधि को प्राप्त करानेवाली यह "देववंदना" अर्थात् जिनदर्शन-पूजनादि प्रत्येक धर्मेच्छु पुरुष को अपने कल्याण के निमित्त योग्यतानुसार नित्य करना चाहिये। तथा शक्ति एवं योग्यता के अनुसार पूजन की सामग्री, एक द्रव्य अथवा अष्ट द्रव्य नित्य अपने घर से लेजाना चाहिये॥

किसी २ ग्रंथ में प्रातः, मध्याह्न और संध्या तीनों काल देववंदना कही है सो संध्यावंदन से कोई रात्रिपूजन न

समझ ले, क्योंकि रात्रिपूजन का निषेध धर्मसंग्रहश्रावकाचार-वसुनन्दिश्रावकाचारादि ग्रंथों में स्पष्ट रूपसे किया है तथा प्रत्यक्ष हिंसा का कारण भी है। इसलिये संध्या के पूर्वकाल में यथाशक्य पूजन करना ही "संध्यावंदन" है। रात्रि को पूजन का आरंभ करना अयोग्य और अहिंसामयी जिनधर्म के सर्वथा विरुद्ध है अतएव रात्रि को केवल दर्शन करना ही योग्य है ॥

नोट—यह बात भी विशेष ध्यान रखने योग्य है कि मंदिर में विनयपूर्वक रहे, जदवा-तदवा उठना, बैठना, बोलना, चालनादि कार्य न करे, क्योंकि शास्त्रोंका वाक्य है कि:—

श्लोक—अन्यस्थाने कृतं पापं, धर्मस्थाने विमुच्यते ॥
धर्मस्थाने कृतं पापं, वज्रलेपो भविष्यति ॥ १ ॥

७ जीवदया—सदा सब प्राणी अपने २ प्राणों की रक्षा चाहते हैं। जिस प्रकार अपना प्राण अपने को प्रिय है उसी प्रकार इकेन्द्री से लेकर पंचेन्द्रीपर्यन्त सभी प्राणियों को अपने २ प्राण प्रिय हैं। जिस प्रकार अपन जरासा भी कष्ट नहीं सह सक्के, उसी प्रकार वृक्ष, लट, कीड़ी, मकोड़ी, मक्खी, पशु, पक्षी मनुष्यादि कोई भी प्राणी दुःख भोगने की इच्छा नहीं करते और न सह सक्के हैं। अतएव सब जीवों को अपने समान जान कर उन को जरासा भी दुःख कभी मत दो, कष्ट मत पहुंचाओ, सदा उन पर दया करो। जो पुरुष दयावान् हैं, उन के पवित्र हृदय में ही पवित्र धर्म ठहर सक्ता है, निर्दयी पुरुष धर्म के पात्र नहीं, उन के हृदय में धर्म की उत्पत्ति, स्थिति कदापि नहीं हो सक्ती। ऐसा जान सदा सर्व जीवों पर दया करना योग्य है। दयापालक के झूठ-चोरी कुशीलादि पंच पापों का त्याग सहज ही होजाता है ॥

८ जलगालन—प्रगट रहे कि अनछने जल की एक बूंद में असंख्यात छोटे २ त्रस जीव होते हैं। अतएव जीवदया के पालन तथा अपनी शारीरिक आरोग्यता के निमित्त जल को दुवरता छन्नेसे छानकर पीना योग्य है। छन्ने का कपड़ा स्वच्छ, साफ और गाढ़ा हो। खुरदरा, छेददार, पतला, पुराना, मैला-फटा तथा ओढ़ा-पहिना हुआ कपड़ा छन्ने के योग्य नहीं। पानी छानते समय छन्ने में गुड़ी न रहे। छन्ने का प्रमाण सामान्य रीति से शास्त्रों में ३६ अंगुल लम्बा और २४ अंगुल चौड़ा* कहा है, जो दुवरता करने से २४ अंगुल लम्बा १८ अंगुल चौड़ा होता है। यदि वर्तन का मुंह अधिक चौड़ा हो, तो वर्तन के मुंह से तिगुणा दुवरता छनना होना चाहिये। छन्ने में रहे हुए जीव अर्थात् जीवाणी (बिलछानी) रक्षापूर्वक उसी जलस्थान में क्षेपे, जिस का पानी भरा हो। तालाव, बावड़ी, नदी आदि जिस में पानी भरनेवाला जल तक पहुंच सक्ता है जीवाणी डालना सहल है। कुंए में जीवाणी बहुधा ऊपर से डाल दी जाती है सो या तो वह कुंए की दीवालों पर गिर, जाती है अथवा कदाचित् पानी तक भी पहुंच जाय, तो उसमें के जीव इतने ऊपर से गिरने के कारण मर जाते हैं, जिससे जीवाणी डालने का अभिप्राय "अहिंसाधर्म" नहीं पलता। अतएव भँवरकड़ीदार लोटे† से कुंए के जल में जीवाणी पहुंचाना योग्य है॥

---

* षट्त्रिंशदंगुलं वस्त्रं, चतुर्विंशति विस्तृतं॥ तद्वस्त्रं द्विगुणीकृत्य, तोयं तेन तु गालयेत्॥ १॥ पीयूषवर्षश्रावकाचारे.

† लोटे के पेंदेमें एक आंकड़ा लगवावे, आँकड़े में रस्सी फँसाकर जीवाणी समेत सीधा लोटा कुँए में डालने और पानी की सतह पर पहुंचते ही हिलाने से लोटा औंधा होजाता और जीवाणी पानी में गिर जाती है। जीवाणी गिर चुकने पर लोटा ऊपर खींच लेवे॥

पानी छानकर पीनेसे जीवदया पलने के सिवाय शरीर भी नीरोगी रहता है । वैद्य तथा डॉक्टरों का भी यही मत है ॥ अनछना पानी पीनेसे बहुधा मलेरिया ज्वर, नहरुआ आदि दुष्ट रोगोंकी उत्पत्ति होती है ॥ इन उपर्युक्त हानि-लाभों को विचार कर हरएक बुद्धिमान पुरुष का कर्तव्य है कि शास्त्रोक्त रीति से जल छानकर पीवे । छानने के पीछे उसकी मर्यादा दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनट तक होती है । इसके बाद त्रस जीव उत्पन्न हो जाने से वह जल फिर अनछने के समान हो जाता है ॥

इन अष्ट मूलगुणों में देवदर्शन, जलछानन और रात्रि-भोजनत्याग ये ३ गुण तो ऐसे हैं जिनसे हरएक सज्जन पुरुष जैनियों के दयाधर्म की तथा धर्मात्मापने की पहिचान कर-सक्ता है । अतएव आत्महितेच्छु-धर्मात्माओं को चाहिये कि जीवमात्र पर दया करते हुए प्रामाणिकतापूर्वक वर्ताव करके इस पवित्र धर्म की सर्व जीवों में प्रवृत्ति करें ॥

सप्तव्यसन दोष वर्णन ।

जहां अन्याय रूप कार्य को वार २ सेवन किये विना चैन नहीं पड़े, ऐसा शौक पड़जाना व्यसन कहाता है अथवा व्यसन नाम आपत्ति (बड़े कष्ट) का है इसलिये जो महान् दुःख को उत्पन्न करे, अति विकलता उपजावे सो व्यसन है (मूलाचार जी) पुनः जिस के होने पर उचित-अनुचित के विचार रहित प्रवृत्ति हो (स्याद्वादमंजरी) सो व्यसन कहाता है ॥

प्रगट रहे कि जूंआ खेलना, मांसभक्षण करना, मद्यपान करना, वेश्यासेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना,

परस्त्री सेवना, ये सात ऐसे अति अन्यायरूप और लुभावने कार्य हैं कि एकवार सेवन करनेसे इन में अति आसक्तता हो जाती है जिससे इनके सेवन किये विना चैन (जक) नहीं पड़ती, रात-दिन इन्हीं में चित्त रहता है। इन में उलझना तो सहज पर सुलझना महा कठिन है, इसी कारण इन की शास्त्रों में व्यसन संज्ञा है। यद्यपि चोरी, परस्त्री को पंच पापों में भी कहा है, तथापि जहां इन पापों के करने की ऐसी टेव पड़ जाय कि राजदंड, जातिदंड, लोकनिन्दा होने पर भी न छोड़े जावें सो व्यसन हैं और जहां कोई कारण विशेष से किंचित् लोक-निंद्य वा गृहस्थधर्मविरुद्ध ये कार्य बन जायं सो पाप हैं॥

यद्यपि इन व्यसनों का नियमपूर्वक त्याग सम्यक्त्व होने पर पाक्षिक अवस्था में होता है, तथापि ये इतने हानिकारक, ग्लानिरूप और दुखदाई हैं कि इन्हें उच्चजातीय सामान्य गृहस्थ भी कभी सेवन नहीं करते, इन में लवलीन (आशक्त) पुरुषों को सम्यक्त्व होना तो दूर रहे, किन्तु धर्मरुचि, धर्म की निकटता भी होना दुस्साध्य है। ये सप्त व्यसन वर्तमान में नष्ट-भ्रष्ट करनेवाले और अन्त में सप्त नरकों में लेजानेवाले दूत हैं। इन का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है॥

१ जूंआखेलना—जिस में हार जीत हो, ऐसे चौपड़, गंजफा, मूठ, नक्की आदि खेलना सो जूंआ है। यह जूंआ सप्त व्यसनों का मूल और सर्व पापों का स्थान है। जिनके धन की अधिक तृष्णा है, वे जूंआ खेलते हैं। जुंआरी, नीचजाति के लोगों के साथ भी राज्य के भय से छिपकर मलिन और शून्य स्थानों में जुंआ खेलते हैं, अपने विश्वासपात्र मित्र-भाई आदि से भी कपट करते हैं। हार-जीत दोनों दशाओं में (चाहे धन सम्बन्धी हो, चाहे विना धन सम्बन्धी) अति व्याकुल परि-

णाम रहते हैं । रातदिन इसीकी मूर्छा रहती है। ऐसे लोगों से न्यायपूर्वक अन्य कोई रोजगार धंधा हो नहीं सक्ता । जीतने पर मद्यपान, मांसभक्षण, वेश्यासेवनादि निंद्यकर्म करते और हारने पर चोरी, छल, झूठ आदि का प्रयोग करते हैं । जुंआ खेलनेवालोंसे कोई दुष्कर्म बचा नहीं रहता । इसीकारण जुंअे को सप्त व्यसन का राजा कहा है ॥ सट्टे (फाटके) का धंधा, होड़ लगाकर चौपड़, शतरंज आदि खेलना यह सब जुंआ ही का परिवार है । जुंआरी पुत्र-पुत्री, स्त्री, हाट, महल, मकान आदि पदार्थों को भी जुंअे पर लगा कर घड़ी भर में दरिद्री, नष्ट-भ्रष्ट बन बैठता है। इस के खेलमात्र से पांडवोंने जो दुःख उठाया सो जगत में प्रसिद्ध है ॥

२ मांस-३ मद्य-इनका वर्णन ३ मकार में हो चुका है ॥ मांस भक्षण से बकराजा और मादक जलमात्र पीने से यादव अति दुखी और नष्टभ्रष्ट हुए ॥

४ वेश्यासेवन-जिस अविवेकिनी ने पैसे के अति लालच से वेश्यावृत्ति अंगीकार कर अपने शरीर को, अपनी इज्जत-आबरू को, अपने पतिव्रत धर्म को नीच लोगों के हाथ बेचदिया, ऐसी वेश्या का सेवन महानिंद्य है । यह पैसे की स्त्री, इस के पतियों की गिन्ती नहीं, रोगों की घर, सब दुर्गुणों की गुरानी है। मांस-मदिरा-जुंआ आदि सब प्रकार के दुर्व्यसनों में फंसाकर अपने भक्तों को कष्ट-आपदा रोगों का घर बनाकर अन्त में निर्धन-दरिद्री अवस्था में मरणप्राय कर के छोड़ती है । इस के सेवन करनेवाले महानीच, घिनावने स्पर्श करने योग्य नहीं । जिन को वेश्यासेवन की ऐसी लत पड़ जाती है कि वे जाति, पांति, धर्मकर्म की बात तो दूर ही रहे किन्तु मरण भी स्वीकार करलेते, परन्तु इस व्यसन

को छोड़ना स्वीकार नहीं कर सके। जो लोग अज्ञानतावश वेश्याव्यसन में फंस जाते हैं, उन की गृहस्थी-धन-इज्जत, आवरू, धर्म, कर्म सब नष्ट होजाते और वे परलोक में कुगति को प्राप्त होते हैं। इस व्यसन से चारुदत्त सेठ अति विपत्ति-ग्रस्त हुए थे, यह कथा पुराणप्रसिद्ध है॥

५ शिकार-बेचारे निरापराधी, भयभीत, जंगलवासी पशु, पक्षियों को अपना शौक पूरा करने के लिये या कौतुक निमित्त मारना महा अन्याय और निर्दयता है। गरीब, दीन, अनाथ की रक्षा करना बलवानों का कर्तव्य है। जो प्रजा की, निस्सहाय जीवों की घातसे-कष्टसे रक्षा करे, सोही सच्चा राजा तथा क्षत्रिय है। यदि रक्षक ही भक्षक हो जाय, तो दीन-अनाथ जीव किस से फर्याद करें। ऐसा जानकर बलवानों को अपने बल का प्रयोग ऐसे निंद्य, निर्दय और दुष्ट कार्यों में करना सर्वथा अनुचित है। इस शिकार दुर्व्यसन की ऐसी खोटी लत है कि एकवार इस का चसका पड़जाने से फिर वही २ दिखाई देता है। हर समय इस व्यसन में प्राण जाने का संकट उपस्थित रहता है। जो लोग इस व्यसन को सेवन कर वीर बनना चाहते हैं वे वीर नहीं, किन्तु धर्महीन अविवेकी हैं। वे इस लोक में निंद्य गिनेजाते और परलोक में कुगति को प्राप्त होते हैं। शिकार व्यसन के कारण ब्रह्मदत्त राजा राज्यभ्रष्ट होकर नरक गया॥

६ चोरी-पराई वस्तु भूली-विसरी-रक्खी हुई उसकी आज्ञा विना लेलेना, सो चोरी है। चोरी करने में आसक्त हो जाना सो चोरी व्यसन कहाता है। जिन को चोरी का व्यसन पड़जाता है, वे धन पास होते हुए, महा कष्ट आपदा आते-हुए भी चोरी करते हैं। ऐसे पुरुष राजदंड-जातिदंड का

दुःख भोग निन्दा एवं कुगति के पात्र बनते हैं। चोरी करने से शिवभूति पुरोहित कष्ट-आपदा भोग कुगति को प्राप्त हुआ ॥

७ परस्त्री-देव, गुरु, धर्म और पंचों की साक्षीपूर्वक पाणिग्रहण की हुई स्त्रीके सिवाय अन्य स्त्री से संयोग (संभोग) करने में आशक्त होजाना सो परस्त्रीसेवन व्यसन है ॥ परस्त्री-सेवी धर्म-धन-यौवनादि उत्तम पदार्थों को गमाते हैं, राजदंड, जातिदंड, लोकनिंदा को प्राप्त हो, नरक में जाकर लोहेकी तप्त पुतलियों से भिंटाये जाते हैं। जैसे जूंठन खाकर कूकर-काग प्रसन्न होते, तैसी ही परस्त्री लंपटी की दशा जानो। इस व्यसन की इच्छा तथा उपाय करने मात्र से रावण नरक गया और लोक में अबतक उसका अपयश चला जाता है ॥

ये सप्त व्यसन संसार परिभ्रमण के कारण रोग-क्लेश, वध-बंधनादि के करानेवाले, पाप के बीज, मोक्षमार्ग में विघ्न करने-वाले हैं। सर्व औगुणों के मूल, अन्याय की मूर्ति तथा लोक-परलोक बिगाड़नेवाले हैं। जो सप्त व्यसनों में रत होता है उस के विशुद्धि लब्धि अर्थात् सम्यक्त्व धारण होने योग्य पवित्र परिणामों का होना भी संभव नहीं, क्योंकि उस के परिणामों में अन्याय से अरुचि नहीं होती। ऐसी दशामें शुभ कार्यों से तथा धर्म से रुचि कैसे हो सक्ती है? इसलिये प्रत्येक स्त्री-पुरुष को इन सप्त व्यसनों को सर्वथा तजकर शुभ कार्यों में रुचि करते हुए नियमपूर्वक सम्यक्श्रद्धानी बनना चाहिये और गृहस्थधर्म के उपर्युक्त अष्ट मूलगुण धारण करना चाहिये ॥

पाक्षिक श्रावक के विशेष कर्तव्य ॥

(१) कुलानुसार आचार अर्थात् अपने उच्चकुल-उच्चधर्म की पद्धति के अनुसार रहन-सहन-पहिनाव-उढ़ाव आदि

करना और खान-पान शुद्ध रखना ॥ (२) पंचाणुव्रत पालन का अभ्यास करना* ॥ (३) शास्त्राभ्यास करना ॥ (४) गृहस्थोंके करने योग्य गृहस्थीसम्बन्धी षट्कर्म अर्थात् चक्की, ऊखली, चूल, बुहारी, जल तथा आजीविका के कार्यों में यत्नाचार तथा न्यायपूर्वक प्रवृत्ते और नित्यप्रति धर्मसम्बन्धी षट्कर्म जिनपूजा, गुरुउपासना, स्वाध्याय, संयम, दान, तप में शुभ परिणामों की प्राप्ति निमित्त प्रवृत्ते (५) जिस ग्राम में जिन-मन्दिर न हो वहां न रहे (सागारधर्मा० अध्याय २ श्लोक ५ "प्रतिष्ठा यात्रादि") (६) जिनधर्मियों का उपकार करे, जिनधर्म की उन्नति के निमित्त उत्कृष्ट श्रावक तथा मुनि उत्पन्न हों, इसलिये हर प्रकार से साधर्मियों की सहायता करने का प्रयत्न करे ॥ (७) चार प्रकार दान दे (८) भोगोपभोग का यथाशक्ति नियम करे (९) यथाशक्ति तप करे (१०) संकल्पी हिंसा न करे अर्थात् सिंह, सर्प, विच्छू आदि किसी भी प्राणी को संकल्प करके न मारे (११) सम्यक्त्व की शुद्धता के लिये तीर्थयात्रा करे, मंदिर बनवावे, जैनपाठशाला स्थापित करे ॥

जैनगृहस्थ की नित्यचर्या.

जैनी-गृहस्थ सामान्य रीतिसे पाक्षिक वृत्ति के धारक होते हैं, अतएव जैनगृहस्थ की नित्यचर्या इस प्रकार होना चाहिये ॥

(१) एक घंटे रात्रि रहे उठकर पवित्र हो आत्मचिंतवन (सामायिक) करे ॥ (२) सबेरे शौच-स्नानादि से निपटकर अपनी योग्यतानुसार शुद्ध-पवित्र द्रव्य लेकर जिनमन्दिर जाय,

* इस में कई बातें श्रावकव्रती सरीखी मालूम होती हैं, उन्हें यहां अभ्यास-रूप समझना चाहिये ॥

दर्शन-पूजनादि धार्मिक षट्कर्मों में यथायोग्य प्रवर्ते ॥ (३) धर्म-कर्म से निपटे पीछे शुद्ध भोजन करे ॥ (४) भोजन की पवित्रता–शूद्र को छोड़ शेष ३ वर्ण के (मद्य–मांसभक्षी को छोड़) हाथ का भरा अच्छी तरह दुवरते छन्ने से छना हुआ पानी, मर्यादीक दिन में पिसा हुआ आटा, चर्मस्पर्शरहित घी, ताजा छना हुआ प्राशुक किया हुआ दूध, ताजा मसाला, रसोई में चँदोवा, अवींधा दाल–चांवलादि अन्न ग्रहण करे, कन्द-मूलादि अभक्ष्य पदार्थ सर्वथा तजे ॥ (५) चार बजेतक आजीविका सम्बन्धी कार्य अपनी योग्यतानुसार करे, पश्चात् दुबारा भोजन करना हो तो करे। (६) पांच बजे जलपानादि से निपट आधे घंटे जीव-जंतु की रक्षापूर्वक टहले। (७) संध्या समय पुनः आत्मचिंतन (सामायिक) करे, शास्त्रसभा में जाकर शास्त्र पढ़े या सुने॥ (८) समय बचे तो उपयोगी पुस्तकें, समाचारपत्रादि पढ़े वा वार्तालाप करे और दश बजे रात को सोजावे, इस प्रकार आहार-विहार, शयनादि तथा धर्मकार्य नियमपूर्वक करे ॥

गृहस्थ के १७ यम.

कुँगुरु, कुँदेव, कुँवृष की सेवा ऽनर्थदंड अघमय व्यापार॥
द्यूत, माँस, मधु, वेश्या, चोरी, परतिय, हिंसादान, शिकार॥
त्रसकी हिंसा, थूल असत्यरु, विनछान्यो जल, निशिआहार॥
ये सत्रह अनर्थ जगमाहीं, यावजीव करो परिहार ॥ १ ॥

नैष्ठिक श्रावकवर्णन.

जो धर्मात्मा पाक्षिक श्रावक की क्रियाओंका साधन करके शास्त्रों के अध्ययनद्वारा, तत्त्वों का विशेष विवेचन करता हुआ

पंचाणुव्रतों का आरंभ कर, अभ्यास बढ़ाने अर्थात् देशचारित्र धारण करने में तत्पर हो, वह नैष्ठिक श्रावक कहाता है। अथवा जो सम्यक्‌दर्शन ज्ञान-चारित्र और उत्तम क्षमादि दशलक्षण धर्म पालन करने की निष्ठा (श्रद्धा) युक्त पंचम-गुणस्थानवर्ती हो सो नैष्ठिक श्रावक कहाता है॥

नैष्ठिक श्रावक के अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उपशम होने से और प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम (मंद उदय) के क्रमशः बढ़नेसे ग्यारहवीं प्रतिमातक बारह व्रत पूर्णता को प्राप्त होजाते हैं, इसी कारण श्रावक को सागार (अणुव्रती) कहा है। ये श्रावक की ११ प्रतिमायें (पापत्याग की प्रतिज्ञायें) ही अणुव्रतों को महाव्रतों की अवस्थातक पहुंचानेवाली निसैनी की पंक्तियों के समान हैं जो अणुव्रत से महाव्रतरूप महलपर ले जाती हैं। इन को धारण करने का पात्र यथार्थ में वही पुरुष है जो मुनिव्रत (महाव्रत) धारने का अभिलाषी हो॥

यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि जितने त्याग (व्रत) के योग्य अपने शरीर की शक्ति, वासस्थान या भ्रमणक्षेत्र, काल की योग्यता, परिणामों का उत्साह हो और जिस से धर्मध्यान में उत्साह व वृद्धि होती रहे,उतनी ही प्रतिज्ञा धारण करना चाहिये॥ पुनः हरएक प्रतिज्ञा विवेकपूर्वक इस रीति से लेना चाहिये कि जिस से कोई प्रतिज्ञा क्रमविरुद्ध न होने पावे। प्रगट रहे कि कोई प्रतिज्ञा ऊंची प्रतिमा की और कोई नीची प्रतिमा की लेना क्रमविरुद्ध कहाता है, जैसे ब्रह्मचर्य या आरंभत्याग प्रतिमा के नियम पालते हुए पीछी-कमंडलु धारण कर ऊपर से क्षुल्लक-एलक सरीखा भेष बना लेना या व्रत, सामायिक प्रतिमा अच्छी तरह पालन न करते हुए रसोई बनाने या रोजगार-धंधे करने का त्याग कर बैठना। ऐसी

अनमेल प्रतिज्ञायें बहुधा अज्ञानपूर्वक क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायों के वश होती हैं। जिस का फल यही होता है कि लाभ के बदले उलटी हानि होती है अर्थात् कषाय मंद होने के बदले तीव्र होकर लौकिकहानि होने के साथ २ मोक्षमार्ग से दूरवर्तीपना अथवा प्रतिकूलता होजाती है । अतएव इन प्रतिज्ञाओं के स्वरूप तथा इन के द्वारा होनेवाले लौकिक-पारलौकिक लाभों को भली भांति जानकर पीछे जितना सधता दिखे और विषयकषाय मन्द होते दिखें, उतना व्रत-नियम धारण करना कल्याणकारी है, क्योंकि प्रतिमा का स्वरूप आचार्योंने इस प्रकार कहा है:—

प्रतिमालक्षण.

दोहा—संयम अंश जगौ जहां, भोग अरुचि परिणाम ।
उदय प्रतिज्ञा कौ भयौ, पड़िमा ताकौ नाम ॥ १ ॥

जब संयम धारण करने का भाव उत्पन्न हो, विषय-भोगोंसे अंतरंग में उदासीनता उत्पन्न हो, तब जो त्याग की प्रतिज्ञा कीजाय सो प्रतिमा कहाती है । वे प्रतिज्ञायें ११ हैं । यथाः—१ दर्शनप्रतिमा २ व्रतप्रतिमा ३ सामायिकप्रतिमा ४ प्रोषधप्रतिमा ५ सचित्रत्यागप्रतिमा ६ रात्रिभुक्तत्यागप्रतिमा ७ ब्रह्मचर्यप्रतिमा ८ आरंभत्यागप्रतिमा ९ परिग्रहत्यागप्रतिमा १० अनुमतित्यागप्रतिमा ११ उद्दिष्टत्यागप्रतिमा ॥

प्रगट रहे कि जिस प्रतिमा में जिस व्रत के पालन वा पापत्याग की प्रतिज्ञा की जाती है, वह यथावत् पालने तथा अतीचार न लगाने से ही प्रतिमा कहलासक्ती है। जो किसी प्रतिमा में अतीचार लगता हो तो नीचे की प्रतिमा जानना चाहिये जो निरतिचार पलती हो॥ यदि नीचे की प्रतिमाओं का

चारित्र बिलकुल पालन न कर या अधूराही रखकर ऊपर की प्रतिमा का चारित्र धारण कर लिया जाय, तो वह जिनमत से बाह्य, कौतुक मात्र है, उस से कुछ भी फल नहीं होता, क्योंकि नीचे से क्रमपूर्वक यथावत् साधन करते हुए ऊपर को चढ़ते जाने से ही अर्थात् क्रमपूर्वक चारित्र बढ़ाने से ही विषय-कषाय मन्द होकर आत्मीक सच्चे सुख की प्राप्ति होसक्ती है, जो कि प्रतिज्ञाओं के धारण करने का मुख्य उद्देश है ॥

इन ग्यारह प्रतिमाओं में छट्टीतक जघन्य श्रावक (गृहस्थ), नवमीं तक मध्यम श्रावक (ब्रह्मचारी) और दशवीं, ग्यारहवीं-वाले उत्कृष्ट श्रावक (भिक्षुक) कहाते हैं ॥

अब इन प्रतिमाओं का स्पष्ट, विस्तृत वर्णन किया जाता है:—

प्रथम दर्शनप्रतिमा.

यह दर्शन प्रतिमा देशव्रत (श्रावकधर्म) का मूल है । त्रस-जीवों के घातद्वारा निष्पन्न हुए अथवा त्रस जीवोंकरि युक्त पदार्थों को जो भक्षण करने का अतीचारसहित त्याग करे सो दार्शनिक श्रावक है अथवा दर्शन कहिये धर्म या सम्यक्त्व तथा प्रतिमा कहिये मूर्ति, अर्थात् जो धर्म या सम्यक्त्व की मूर्ति हो, जिस के बाह्य आचरणों से ही ज्ञात हो कि यह पवित्र जिनधर्म का श्रद्धानी है सो दार्शनिक है । यह नियमपूर्वक अन्याय-अभक्ष्य का अतीचारसहित त्यागी होता है । सो भी इन को शास्त्रों में त्यागने योग्य कहा है, ऐसा जानकर नहीं त्यागता, किन्तु तीव्र कषाय-महापाप के कारण एवं अत्यंत अनर्थरूप जान हर्षपूर्वक त्यागता है । इस भांति से त्याग करने-वाला ही व्रतादि प्रतिमा धारण करने का पात्र या अधिकारी होता है ॥ अथवा जिसने पाक्षिकश्रावकसम्बन्धी आचारा-

दिकों से सम्यग्दर्शन को शुद्ध कर लिया है, जो संसार शरीर भोगों से चित्त में विरक्त है, नित्य अर्हत भगवान की पूजादि षट्कर्म यथाशक्य करनेवाला है, मूल गुणों के अतीचार दोषों का सर्वथा अभाव करके आगे की प्रतिमाओं के धारण करने का इच्छुक, न्यायपूर्वक आजीविका का करनेवाला है सो दार्शनिक श्रावक कहाता है ॥

यहां कोई प्रश्न करे कि जब ११ प्रतिमायें देशव्रत के भेद हैं तो प्रथम भेद का नाम दर्शनप्रतिमा (जिस में निरतिचार केवल सम्यग्दर्शन ही होता है) होते हुए देशव्रत में इसे क्यों कहा? तिसका समाधान—इस प्रथम प्रतिमा में सप्त व्यसन के त्याग और अष्ट मूलगुण के धारण से स्थूलपने *पंचाणुव्रत होते हैं, इसलिये इसे देशव्रत में कहना योग्य ही है। व्रत सातिचार होने से व्रत प्रतिमा नाम हो नहीं सक्ता, यहां तो केवल श्रद्धान निरतिचार होता है इसी कारण इस का नाम दर्शनप्रतिमा कहा है क्योंकि प्रतिमा यथावत् होने को कहते हैं॥

भावार्थः—पाक्षिक अवस्था में ८ मूलगुण धारण और सप्तव्यसन त्याग में जो अतीचार लगते थे, सो यहां उन अतिचारों के दूर होने से मूलगुण विशुद्ध हो जाते हैं ॥ अब यहां इन के अतीचार †कहे जाते हैं ॥

* अष्ट मूलगुण के धारण और सप्त व्यसन के त्याग के निरतिचार पालने से दार्शनिक श्रावक के सातिचार पंचाणुव्रतों का पालन होता है अर्थात् ५ उदम्बर ३ मकार और मद्य, मांस, शिकार के त्याग से अहिंसाणुव्रत। जुंवे के त्याग से सत्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणव्रत (अति तृष्णा का त्याग)। चोरी के त्याग से अचौर्यअणुव्रत। वेश्या और परस्त्री के त्याग से ब्रह्मचर्य अणुव्रत होता है ॥

† व्रतों के आचरण में शिथिलता होना अतीचार कहाता है ॥ यथाः—

श्लोक—अतिक्रमो मानसशुद्धहानिः व्यतिक्रमो यो विषयाभिलापः।
तथातिचारं करणालसत्वं भंगो ह्यनाचारमिह व्रतानि ॥ १ ॥

अर्थ—मन की शुद्धिता में हानि होना सो अतिक्रम। विषयों की अभिलाषा

नोट.—अतीचारों के बताने का अभिप्राय यह है कि ये अमुक २ काम भी ऐसे हैं जिन के प्रमाद तथा अज्ञानता-पूर्वक करने से यद्यपि विवक्षित व्रत सर्वथा भंग नहीं होता, तथापि उस में दूषण लगता है, इसलिये इन दोष उत्पन्न करनेवाले कार्यों को भी तजने का प्रयत्न करो। जिस से निर्दोष व्रत पलें। कोई २ लोग अतीचारों का अभिप्राय ऐसा समझ लेते हैं कि मानों इन के करने की आचार्यों ने छुट्टी दी है क्योंकि इन से व्रत तो भंग होता ही नहीं, सो उनकी ऐसी समझ ठीक नहीं॥

अष्ट मूलगुणों के अतीचार* ॥

मद्यत्याग के अतीचार—मदिरापान का त्यागी मन, वचन, काय से सर्व प्रकार की मादकवस्तु गांजा, अफीम, तमाखू आदि खाना-पीना तजे, सम्पूर्ण संधानक आचार-मुरब्बा आदि वा जिन पदार्थों में फूलन आगई हो तथा जो शास्त्रोक्त मर्याद उपरान्त की होगई हो, ऐसी कोई भी वस्तु भक्षण न करे, रस-

---

सो व्यतिक्रम। व्रत के आचरण में शिथिलता सो अतीचार। सर्वथा व्रत का भंग होना सो अनाचार है॥

सागारधर्मामृत में—व्रत के एकोदेश अर्थात् अंतरंग या बाह्य किसी एक प्रकार के अभाव होने को अतीचार कहा है॥

श्रीमूलाचारजी की टीका में—विषयाभिलाषा अतिक्रम। विषयोपकरण का उपार्जन करना व्यतिक्रम। व्रत में शिथिलता, किंचित् असंयम सेवन अतीचार। व्रत का भंग करके स्वेच्छा-प्रवृत्ति करना अनाचार है॥

उदाहरण—खेत के बाहिर एक बैल बैठा था उस ने विचारा, निकटवर्ती खेत को चरना सो अतिक्रम, खड़ा होकर चलना सो व्यतिक्रम। वारी तोड़ना सो अतीचार और खेत चरना सो अनाचार है॥

* ये अतीचार धर्मसंग्रहश्रावकाचार, सागारधर्मामृत तथा ज्ञानानन्दश्रावकाचारादि ग्रंथों के आधार से लिखेगये हैं॥

चलित वस्तु को भक्षण न करे, मदिरा पीनवाले के हाथ का भोजन न करे और न उस के वर्तन काम में लावे ॥

मांसत्याग के अतीचार—मांसत्यागी चमड़े के भाजनादि में रक्खे हुए तेल, जल, घी, हींग, काढ़ा, आटा आदि को भक्षण न करे, चमड़े की चालनी, सूपड़े से स्पर्शा आटा भक्षण न करे ॥

मधुत्याग के अतीचार—मधु का त्यागी पुष्प भक्षण न करे, अंजन तक के लिये भी मधु का स्पर्श न करे (सा.ध.)॥

पंच उदम्बरफल त्याग के अतीचार—पंच उदम्बरफल का त्यागी अजानफल तथा काचरी, बोर, सुपारी, खारक, नारियल आदि को विना फोड़े, विना देखे न खावे ॥

रात्रिभोजनत्याग के अतीचार—जो रात्रिभोजन के त्यागी हैं, उन्हें एक मुहूर्त *दिन रहे से एक मुहूर्त दिन चढ़े तक आम–घी–आदि फल वा रस भी नहीं खाना चाहिये, फिर और २ भोज्यपदार्थों की तो वात ही क्या है? रात्रि का पिसा हुआ आटा वा वना हुआ भोजन खाना, दिन को अंधेरे में खाना, ये सब रात्रि भोजनवत् हिंसाकारक हैं ॥

जलगालन के अतीचार—छनेहुए जल की दो घड़ी मर्याद है। मर्याद से अधिक काल का या कुवस्त्र (छन्ने सिवाय अन्य वस्त्र से अथवा मैले, कुचैले, फटे, छोटे या सड़े छन्ने) से छनाहुआ या जिस छनेहुए जल की जीवाणी जलस्थान में बराबर न पहुंचाई गई हो या अन्य जलस्थान में पहुंचाई गई हो, ऐसा जल पीना योग्य नहीं ॥

---

* सागरधर्मामृत में १ मुहूर्त अर्थात् २ घड़ी और ज्ञानानन्द श्रावकाचार तथा क्रियाकोष में दो मुहूर्त अर्थात् ४ घड़ी कहा है। घड़ी का प्रमाण २४ मिनट का जानो ॥

जूंआ त्याग के अतीचार—जूंआ खेलने का त्यागी गंजफा, चौपड़, शतरंज, दौड़ आदि का खेल विना शर्त लगाये भी न खेले ॥

वेश्यात्याग के अतीचार—वेश्यासेवन के त्यागी को वेश्याओं का गाना सुनना, नाच देखना, उन के स्थानों में घूमना योग्य नहीं, वेश्यासक्तों की सुहबत-संगति करना नहीं ॥

शिकारत्याग के अतीचार—शिकार के त्यागी को काष्ठ, पाखान, चित्रामादि की मूर्ति वा चित्र आदि तोड़ना, फोड़ना, फाड़ना नहीं चाहिये । दूसरों की आजीविका बिगाड़ देने, धन लुटा देनेसे भी शिकार त्याग में अतीचार लगता है ॥

चोरीत्याग के अतीचार—चोरी के त्यागी को राज्य के भयद्वारा अपने भाई बन्धुओं का धन नहीं छीनना चाहिये, न हिस्सा-बांट में धन छिपाना चाहिये, जो कुछ उनका वाजिब हिस्सा हो, देना चाहिये ॥

परस्त्रीत्याग के अतीचार—परस्त्रीत्यागी गान्धर्वविवाह न करे, बालिका (अविवाहिता) के साथ विषयसेवन न करे* ।

सप्तव्यसन के त्यागी को मद्य-मांसादि बेचनेवाले तथा इन व्यसनों के सेवन करनेवाले स्त्री-पुरुषों के साथ उठना-बै-

---

* परस्त्रीत्याग के अतीचारों में तत्त्वार्थसूत्र में परिगृहीता, अपरिगृहीता गमन कहा है उस का प्रयोजन यही है कि पराये की विवाही या अनव्याही स्त्रीसे उठना-बैठना, आदर-सत्कारादि व्यवहार न करे. क्योंकि ऐसा करनेसे संसर्गजनित दोष उत्पन्न होना संभव हैं ॥ सागारधर्मामृत तथा धर्मसंग्रहश्रावकाचार में बालिकासेवन अतीचार कहा है सो इस का अभिप्राय ऐसा जानपड़ता है कि जिस के साथ सगाई होगई हो या होना हो, ऐसी नियोगिनी के साथ विवाह के पहिले संभोग करने में अतीचार है । अन्य बालिका के सेवन में तो अतीचार ही नहीं, किन्तु महा अनाचार है. यही कारण है कि परस्त्रीसेवी की अपेक्षा बालिका-सेवन करनेवालों को राज्य की ओर से भी तीव्र दंड दिया जाता है लोकनिंदा और जातीयदंड भी अधिक होता है ॥

ठना, खान-पान आदि व्यवहार भी न रखना चाहिये, नहीं तो परिणाम ढीले होकर पहिले तो अतीचारदोष लगते, पीछे वे ही अनाचाररूप होकर, पूरा व्यसनी बना, धर्मसे वंचित कर देते हैं ॥

आजकल समुद्रयात्रा जो जहाजों द्वारा की जाती है, उस में जहाजों का प्रबंध तथा रहन-सहन, कामकाज बहुधा विदेशी, विजातीय, विधर्मी और मद्य-मांसादि सेवन करनेवालों के आधीन रहता है तथा जिस स्थान को जाते हैं, वहां पर भी ऐसे ही लोगों के हाथ का भोजन, उन्हीं के साथ खान-पान, उन्हीं में रातदिन रहन-सहन होता है. ऐसी दशा में व्रती श्रावकों की बात तो दूर ही रहे, किन्तु सप्तव्यसन के त्यागी सामान्य जैनी का श्रद्धान और चारित्र भ्रष्ट होना निस्सन्देह संभव है। पूर्वकाल में जो समुद्रयात्रा होती थी, सो जहाजों में तथा विदेशों में सर्व प्रकार श्रद्धान-चारित्र की साधक सामग्री का समागम था, श्रद्धान-चारित्र की नाशक सामग्री नाममात्र को भी न थी। इस अभिप्राय को न समझकर आजकल के बहुधा नवयुवक धर्म-मर्म जाने विना शास्त्र की दुहाई देतेहैं कि शास्त्रों में समुद्रयात्रा का विधान है, वर्जन नहीं। सो यथार्थ में प्रथमानुयोग शास्त्रों में कई जगह समुद्रयात्रा का प्रकरण आया है परन्तु पूर्वकाल में क्यों समुद्रयात्रा की विधि थी और अब क्यों वर्जन की जाती है? यह बात बुद्धिमानों को भलीभांति विचार लेना चाहिये। इस समय जहाजों द्वारा विदेशयात्रा करने से धर्म-कर्म स्थिररहना निस्सन्देह असंभव होगया है और शास्त्रों की स्पष्ट आज्ञा है कि जिस क्षेत्र में श्रद्धान-चारित्र भ्रष्ट होना संभव हो, वहां गृहस्थश्रावक को न जाना चाहिये ॥

इसीप्रकार पंच उदम्बर, तीन मकार के त्यागों के अतीचार भी धर्मेच्छु पुरुषों को तजना योग्य है। क्योंकि बड़, पीपल, मद्य, मांसादि तो धर्मविहीन अस्पर्श शूद्रादिक भी नहीं खाते, तो भी जैनियों को इन के त्याग की आवश्यकता इसलिये बतलाई गई है, कि जिस से दार्शनिक जैनी याने जैनधर्म का श्रद्धानी पुरुष इन के विशेषरूप बाईस अभक्ष्य को तजे, और अन्न, जल, दूध, घृतादि शास्त्रोक्त मर्यादा के अनुसार भक्षण करे, क्योंकि मर्याद पश्चात् इन पदार्थों में भी त्रसराशि की उत्पत्ति होजाती है। पुनः ऐसे बीज-फलादिक भी भक्षण न करे, जिन में त्रसजीव उत्पन्न होगये हों या जो सशंकित हों, क्योंकि ऐसे भोजन से धर्महानि के सिवाय नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते तथा बुद्धि धर्म ग्रहण करनेयोग्य नहीं रहती॥

अब यहां सामान्य रीति से २२ अभक्ष्य तथा खान-पान के द्रव्यों की शास्त्रोक्त मर्यादा लिखी जाती है॥

---

२२ अभक्ष्य.

कवित्त (३१ मात्रा)।

ओला, घोरवड़ा, निशिभोजन, बहुबीजा, बैंगन, संधान।
बड़, पीपर, ऊमर, कठ-ऊमर, पाकर, फल जो होय अजान॥
कन्द मूल, माटी, विष, आमिष, मधु, माखन अरु मदिरापान।
फल अति तुच्छ, तुषार, चलित रस, ये जिनमत बाईस अखान॥१॥

इनका अभिप्रायः—(१) ओले अनछने पानी के जमकर होते, असंख्य त्रस जीवों के घर हैं। (२) घोरबड़ा अर्थात् दहीबड़े-उड़द या मूंग की दाल को फुलाकर पीसने पश्चात् घृत में तलकर बड़े बनायेजाते हैं इन को दही या छांछ में डालकर खाने से इन में द्विदल दोष से असंख्य त्रसजीवों

की उत्पत्ति होती है इसलिये द्विदल* दोपयुक्त घोरवड़े खाना योग्य नहीं। (३) रात्रिभोजन का दोप कह ही चुके है। रात्रिभोजन का त्यागी रात्रि का बनाहुआ, बिना शोधा-देखा तथा अँधेरे में भोजन न करे॥ (४) बहुबीजा-जिस फल में बीजों के अलग २ घर न हों, जैसे अफीम का डोंड़ा (तिजारा) तथा अरंड काकड़ी॥ (५) बैंगन-उन्माद का उत्पादक तथा विकृत (देखने में घिनावना) होता है। (६) संधाना (अथाना) आम-नीबू आदि को राई-नमक, मिर्चादि मसाले के साथ तेल में या बिना तेल के कितने ही दिनोंतक रखने से इस में त्रसजीवों की राशि उत्पन्न होती और खाने से हिंसा होती है॥ (७) बड़ (८) पीपल (९) ऊमर (१०) कठूमर (११) पाकर-इन के दोप पंच उदुम्बर में कह ही चुके हैं। (१२) अजान फल-हिंसा तथा रोग के कारण और कभी २ प्राणों के घातक भी होते हैं। (१३) कन्दमूल-अनंत जीवों की राशि हैं। (१४) खानि की, खेत की मिट्टी-असंख्य त्रसजीवों की राशि है। (१५) विप-प्राणघातक है। (१६) आमिष (मांस) (१७) मधु (१८) माखन (१९) मदिरापान-इन के दोप तीन मकार में कह ही चुके हैं। (२०) अति तुच्छ फल सप्रतिष्ठित वनस्पति, अनंत जीवों की राशि होते हैं। (२१) तुषार (वर्फ)-असंख्य त्रसजीवों की राशि

---

* जिस के दो फाड़ (दाल) होते हैं, ऐसे अन्नादिक पदार्थ, कच्चा गोरस (दूध-दही-छांछ) और लार मिलकर असंख्य त्रस जीवों की उत्पत्ति होती और खानेसे हिंसा होती है (कि. क्रि. को.)॥ द्विदल शब्द का अभिप्राय पं. आशाधरजी ने चना-मूंगादि द्विदल अन्नमात्र लिया है और पं. किशनसिंहजी ने चारौली, बादामादि काष्ठ-द्विदल तथा तरोई, भिंडी, आदि हरी-द्विदल भी लिया है। अतएव हमारे दोनों प्रमाण हैं। जिससे जितना सधे, उतना साधे परंतु श्रद्धान ठीक रक्खे॥

होते हैं। (२२) चलितरस–जिन वस्तुओं का स्वाद बिगड़ गया हो या जो शास्त्रोक्त मर्यादा से अधिककाल की होगई हों, उन में त्रसजीवों की उत्पत्ति होजाती है इस से उन के खाने में विशेष हिंसा तथा अष्टमूलगुणों में दोष आता है, सिवाय इस से अनेक रोग भी उत्पन्न होते हैं जिस से धर्मसाधन में बाधा आती है॥

कोई २ लोग कहते हैं कि २२ अभक्ष्यों का वर्णन किसी संस्कृतग्रंथ में नहीं देखाजाता, उन को चाहिये कि वे सागारधर्मामृत में देखें, यद्यपि इस में २२ अभक्ष्यों की गणना नहीं की गई, तौभी पर्यायान्तर से बहुधा इन सभी के भक्षण का निषेध किया है॥

खान-पान के पदार्थों की मर्याद॥

आटा, बेसन आदि चून की मर्याद बरसात में ३ दिनकी, गर्मी में ५ दिन की और शीतऋतु में ७ दिन की होती है, हरएक ऋतु सामान्यतः अठाई से बदली मानी जाती है॥ छने हुए पानी की मर्याद १ मुहूर्त अर्थात् २ घड़ी की। लवंगादि तिक्त द्रव्यों द्वारा स्पर्श, रस, गंध, वर्ण बदलेहुए जल की मर्याद दो प्रहर की। अधन सरीखा उष्णजल न होकर साधारण गर्मजल की मर्याद ४ प्रहर की। अधन सरीखे गर्म हुए जल की मर्याद ८ प्रहर की है॥ दूध दुहकर, छानकर दो घड़ी के पहिले २ गर्म करलेने से उस की मर्याद ८ प्रहर की (कोई२ कहते हैं कि दूध ४ प्रहर मेंही बिगड़ जाता है अतएव बिगड़जाय तो मर्याद के पहिले ही नहीं खाय) यदि दूध गर्म नहीं करे, तो दो घड़ी के पीछे उस में, जिस पशु का वह दूध हो, उसी जाति के सन्मूर्छन असंख्य जीव उत्पन्न होजाते हैं॥ गर्म दूध में जामन देने पर दही की मर्याद ८ प्रहर तक॥

बिलोते समय यदि छांछ में पानी डालाजाय तो उस की मर्याद उसी दिन भर की है, यदि बिलोये पीछे मिलाया जाय तो उस छांछ की मर्याद केवल १ मुहूर्त की है (क्रि० को०)॥ बूरे की मर्याद शीत में १ माह, गर्मी में १५ दिन और बरसात में ७ दिन की ॥ घी, गुड़, तेल आदि की मर्याद स्वाद न बिगड़ने तक ॥ खिचड़ी, कढ़ी, तरकारी की मर्याद दो प्रहर की ॥ पूरीं, शीरा, रोटी आदि जिन में पानी का अधिक अंश रहता है उन की मर्याद ४ प्रहर की ॥ पुड़ी, पपड़िया, खाजा, लड्डू, घेवर आदि जिन में पानी का किंचित् अंश रहता है उनकी मर्याद ८ प्रहर की ॥ जिस भोजन में पानी न पड़ा हो, जैसे मगद, इसकी मर्याद आटे के बराबर ॥ पिसेहुए मसाले हल्दी, धनिये आदि की मर्याद आटे के बराबर ॥ बूरा, मिश्री, खारक, दाख आदि मिष्टद्रव्य से मिलेहुए दही की मर्याद दो घड़ी की ॥ गुड़के साथ दही या छांछ मिलाकर खाना अभक्ष्य है ॥ और पदार्थों की मर्याद क्रियाकोषादि ग्रंथों से जानना ॥

दार्शनिकश्रावक सम्बन्धी विशेष बातें ॥

(१) सम्यक्त्व को २५ दोष तथा पंच अतीचार टाल निर्मल करे* (२) पंच परमेष्ठी को टाल जिनमत के शासनदेव तथा

---

* यहां कोई संदेह करे कि क्षयोपशमसम्यक्त्वी दार्शनिक के सम्यक्त्वप्रकृति मोहनीय के उदयसे चल-मल-अगाढ़रूप दोष लगतेहैं, फिर यहां सर्वथा अतीचारों का टलना कैसे संभवै ? तिसका समाधान क्षयोपशम सम्यक्त्वी के जो चल-मल-अगाढ़रूप दोष उत्पन्न होवे हैं वे सुगुरु-सुदेव-सुधर्म के विषें ही विकल्प रूप होते हैं. जैसे शान्तिनाथ स्वामी शान्ति के कर्ता हैं. ऐसे विकल्प सम्यक्त्वमें दोष उत्पन्न करनेवाले अतीचाररूप नहीं हैं, ८शंकादि दोष, ८ मद, ६ अनायतन, ३ मूढ़ता ये २५ दोष सम्यक्त्वके घातक एवं दूषित करनेवाले हैं, सो ये दोष दर्शनप्रतिमावाले को नहीं लगवे ॥

अन्य मिथ्यादृष्टी देवों को मन में भी न लावे (३) शुद्ध व्यवहार का धारी हो (४) जिस रीति से धर्म-कर्म में हानि आती हो, उस तरह से धनसंग्रह न करे (५) मद्य, मांस मधु के वा और भी अनेकप्रकार अधिक हिंसा वा तृष्णा के आरंभ वा व्यापार न करे (६) प्रशम, संवेग, अनुकंपा, आस्तिक्य गुण-युक्त होकर मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ भावना सदा भावे अर्थात् वैराग्यभाव युक्त हो और तदनुसार ही आचरण करे (७) कुटुम्बी, स्त्री-पुत्रादि को धर्म में लगावे ॥

दर्शनप्रतिमा धारण से लाभ ॥

दर्शन प्रतिमा के पालन करने से मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्यका सर्वथा अभाव होकर धर्म की निकटता अर्थात् व्रत धारण करने की शक्ति तथा पात्रता होती है। दार्शनिक श्रावक ही यथार्थ में यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकारी है ॥ यज्ञोपवीत द्विजवर्ण का द्योतक है ॥ लौकिक में उत्तम व्यवहारपना प्रगट होने से धन-यशादि की प्राप्ति होतीहै। धर्म की ऐसी नींव जमजाती है कि जिस से सांसारिक उच्च पदवियां पातेहुए अन्त में मोक्षपद की प्राप्ति होती है। जैसे शरीर में शिर, महल में नींव मुख्य है, उसी प्रकार चारित्रका मूल दर्शनप्रतिमा है ॥

द्वितीय व्रत-प्रतिमा ॥

दर्शनप्रतिमा में अन्याय, अभक्ष्य-जनित स्थूल-हिंसा के कारणों को सर्वथा त्याग कर, आरंभ सम्बन्धी मोटे २ हिंसादि पापों के त्याग का क्रमरहित अभ्यास करताहुआ दार्शनिक श्रावक, व्रत धारण करने की इच्छा करता है ॥

जो अखंड सम्यग्दर्शन और अष्ट मूलगुणों का धारक, माया-मिथ्या-निदान शल्यत्रयरहित, रागद्वेष के अभाव और साम्यभाव की प्राप्ति के लिये अतीचाररहित उत्तरगुणोंको* धारण करे, सो व्रती श्रावक है ॥

यह बात जगत्प्रसिद्ध है और धर्मशास्त्र भी ऐसा ही कहते हैं कि हिंसा समान पाप और अहिंसा समान पुण्य नहीं है। यद्यपि भेद-विवक्षा से अनेक प्रकार के पाप कहे जाते हैं, तौभी यथार्थ में सब पापोंका मूल एक हिंसा ही है, इसी के विशेष-भेद झूठ, चोरी, व्यभिचार और अतितृष्णा हैं, इसीकारण आचार्यों ने शास्त्रों में जहांतहां इन पांचों पापों के निवारण का उपदेश किया है। श्रीउमास्वामीजी ने तत्त्वार्थसूत्रजी में इन पापों के त्यागरूप पांचही व्रत कहकर उनके अणुव्रत, महाव्रत दो भेद किये हैं। यथा-'हिंसानृतस्त्येयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतं' 'देशसर्वतोऽणुमहती' अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहका त्याग, सो व्रत हैं, ये अणुव्रत, महाव्रत दो भेद-रूप हैं ॥ एकोदेश पंच-पापोंका त्याग अणुव्रत और सर्वोदेश पंच-पापोंका त्याग महाव्रत कहाता है ॥

पंच पापों का त्याग जब बुद्धिपूर्वक अर्थात् भेदज्ञान (सम्यक्त्व) पूर्वक होता है तभी उसे व्रत संज्ञा होती है। इन व्रतोंको अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादि अंतरंग वा बाह्य सामग्री की योग्यता देख धारण करके भले प्रकार निर्दोष पालना चाहिये, कदाचित् किसी प्रबल कारणवश व्रत भंग होजाय तो प्रायश्चित्त लेकर शीघ्र ही पुनः स्थापन करना उचित है ॥

गृहस्थ श्रावक प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम के अनुसार अणुव्रत धारण करसक्ता है। इसके महाव्रत धारण

* दर्शन प्र० में कहे हुए त्याग श्रावकके मूलगुण हैं और व्रतप्रतिमा में कहे हुए उत्तरगुण हैं ॥

करने के योग्य कषाय नहीं घटी, इस से सर्वथा आरंभ, विषय-कषाय त्यागने को असमर्थ है ॥

व्रतप्रतिमा में पंचाणुव्रत तो निरतिचार पलते हैं (रत्नकरंड-श्रा० और सुभाषितरत्नसंदोह का श्रावकधर्म)। शेष तीन गुण-व्रत और चार शिक्षाव्रत (ये सप्तशील) वाड़ि की नांई व्रत-रूप क्षेत्रकी रक्षा करते हैं। इनमें तीन गुणव्रत तो उपर्युक्त पंच अणुव्रतों में गुणकी वृद्धि करते और चार शिक्षाव्रत इन्हें महाव्रतों की हद तक पहुंचाते हैं ॥ भावार्थ, यद्यपि व्रती जहां-तक संभव हो इन को भी दोषों से बचाता है। तथापि ये सप्त-शील व्रतप्रतिमा में निरतिचार* नहीं होते। ये पंचाणुव्रत,

---

* यहां कोई शंका करे कि व्रतप्रतिमामें ही ये १२ व्रत एक साथ निरति-चार होने चाहिये, क्योंकि १२ व्रतों के अतीचारों का वर्णन तत्वार्थसूत्र में एकही जगह व्रतोंके प्रकरण में किया है। तिसका समाधान-एकही स्थानपर वर्णन करना तो प्रकरण के वश होता है यहां केवल वस्तुस्वरूप बताना था, प्रतिमाओंका वर्णन नहीं करना था, इसलिये जहां प्रकरण आया सबका एक साथ वर्णन कर दिया॥ दूसरे यदि बारहों व्रत दूसरी प्रतिमामें ही निरतिचार होजावें, तो आगे की सामायिकादि प्रतिमा व्यर्थ ठहरें, क्योंकि तीसरी से ग्यारहवीं प्रतिमातक इन सप्तशीलों के निरति-चार पालने का ही उपदेश है। यही बात सर्वार्थसिद्धि तथा स्वामिकार्तिकेयानु० में भाषा टीकाकार पं० जयचंदजीने कही है॥ यथा-व्रत प्रतिमा में पंचाणुव्रत निरतिचार होते। तीसरीमें सामायिक और चौथी में प्रोषधोपवास निरतिचार होते। पांचवींमें भोगोपभोगके अतीचार दूर होते और ग्यारहवींतक क्रमशः भोगोपभोग घटाकर त्याग कर दिये जाते हैं॥ अष्टमी में आरंभका सर्वथा त्याग होनेसे पंचाणुव्रतको पूरी २ दृढ़ता पहुंचती तथा दिग्विरति, देशविरति निरतिचार पलता है। नवमी में परिग्रह-त्याग होनेसे अतिथिसंविभाग निरतिचार पलता है। दशवीं में अनुमतित्यागसे अनर्थदंडव्रत निरतिचार होजाता है॥ इस तरह सातों शील निरतिचार होनेसे अणु-व्रत महाव्रतकी परणति को पहुंचजाते हैं॥ सिवाय इसके वसुनंदिश्रावकाचार में भोगप्रमाण, उपभोगप्रमाण, अतिथिसंविभाग, सल्लेखना ऐसे चार शिक्षाव्रत कहे हैं, सामायिक, प्रोषधोपवास को व्रतों में न कहकर प्रतिमा में ही कहा है, ऐसी दशामें व्रतप्रतिमा में १२ व्रतोंका निरतिचार पलना कैसे संभव होसक्ता है॥

३ गुणव्रत ४ शिक्षाव्रत मिलकर १२ व्रत कहाते हैं । तिनके नाम तत्वार्थसूत्रानुसार :-पंच अणुव्रत-हिंसा, झूठ, चोरीका एकोदेशत्याग, परस्त्रीका त्याग और परिग्रहप्रमाण । तीन गुण-व्रत-दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदंडविरति । चार शिक्षा-व्रत-सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण, अतिथि-संविभाग ॥

तीन शल्योंका वर्णन ॥

प्रगट रहे कि व्रतोंको धारण करनेवाला पुरुष मिथ्या, माया, निदान इन तीनों शल्यरहित होना चाहिये, जैसा कहा है "निःशल्यो व्रती" ॥

(१) मिथ्याशल्य-जो धर्मस्वरूपका ज्ञाता नहीं, अर्थात् संसार और संसार के कारणों तथा मोक्ष और मोक्षके कारणों को नहीं जानता अथवा विपरीत जानता या सन्देहयुक्त जानता है, इन पर जिसे दृढ़ विश्वास नहीं है और न व्रत धारण करने का अभिप्राय समझता है, ऐसा मिथ्यात्वी पुरुष दूसरों की देखादेखी या किसी और अभिप्राय के वश व्रतोंका पालन करनेवाला अव्रती ही है । जो पुरुष तत्त्वश्रद्धानी होकर आत्म-कल्याण के अभिप्राय से व्रत धारण करता है वही मोक्षमार्गी, पापों का त्यागी सच्चा व्रती कहाता है ॥

(२) मायाशल्य—जिस के मन के विचार और, वचन की प्रवृत्ति और, तथा काय की चेष्टा और हो, ऐसे पापों को गुप्त रखनेवाले, मायाचारी पुरुष का दूसरों के दिखाने के लिये अथवा मान-बड़ाई, लोभादि के अभिप्राय से व्रत धारण करना निष्फल है । वह ऊपर से (दिखाऊ) व्रती है परंतु अंतरंग में उसे पाप से घृणा नहीं, इस कारण ठगवृत्ति होने से

उसे उलटा पापका बंध होता है तथा तिर्यंचादि-नीचगति की प्राप्ति होती है ॥

(३) निदानशल्य—जो पुरुष आगामि सांसारिक विषय-भोगोंकी वांछा के अभिप्राय से व्रत धारण करता है, सो यथार्थ में व्रती नहीं है। क्योंकि व्रत धारण करने का प्रयोजन तो सांसारिक विषय-भोगों अथवा आरंभ-परिग्रहों से विरक्त होकर आत्मस्वरूप में उपयोग थिर करने का है परंतु निदानबंध करनेवाला उल्टा पापों के मूल विषय-भोगोंकी तीव्र इच्छा करके उनकी पूर्ति के लिये ही व्रत धारण करता है। अतएव ऐसे पुरुष के बाह्यव्रत होते हुए भी अंतरंग तीव्र लोभकषाय होने के कारण पाप ही का बंध होता है ॥ भावार्थ—यथार्थ में उपर्युक्त तीन शल्यों के त्याग होनेपर ही व्रत धारण हो सक्ते हैं, अन्यथा नहीं ॥

द्वादश व्रतोंका वर्णन ॥

अब यहां पंचाणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का विशेष वर्णन किया जाता है तथा हरएक व्रतके पांच २ अतीचार वा पांच २ भावनायें कही जाती हैं। ये भावनायें (जिन के चिन्तवन से व्रत दृढ़ होते और निर्दोष पलते हैं) सर्वोदेश महाव्रतों को और एकोदेश अणुव्रतों को लाभ पहुंचाती हैं। सूत्रकारों ने भी जहां व्रतों के महाव्रत, अणुव्रत दो भेद बताये हैं वहीं ये पांच २ भावनायें भी कही हैं, इसलिये इन भावनाओं का देशव्रत, महाव्रत दोनों से यथासंभव संबंध जानना चाहिये ॥

अहिंसाणुव्रत ॥

"प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" प्रमत्तयोग अर्थात् कषायों के वश होकर प्राणोंका नाश करना सो हिंसा है।

तहां मिथ्यात्व, असंयम, कषायरूप परिणाम होना सो भाव-हिंसा और इन्द्रिय, वल, श्वासोच्छ्वास, आयु प्राणोंका विध्वंस करना सो द्रव्यहिंसा है। जिसप्रकार जीव को स्वयं अपनी भाव-हिंसा के फल से चतुर्गति में भ्रमण करते हुए नानाप्रकार दुःख भोगने पड़ते हैं और द्रव्यहिंसा (शरीर से आत्मा का वियोग अर्थात् मरण) होने से अतिकष्ट सहन करना पड़ता है, उसी-प्रकार दूसरों के द्रव्य और भाव प्राणोंकी हिंसा करने से भी तीव्र कषाय और तीव्र वैर उत्पन्न होता है जिससे इसे जन्मजन्मां-तरों में महान् दुःखकी प्राप्ति होती है ॥

जो जीव संसार-परिभ्रमण से अपनी रक्षा करना चाहते हैं उन्हें सदा स्वपर दया पर दृष्टि रखना चाहिये। जो स्वदया पालन करते हैं उन्हीं से बहुधा नियमपूर्वक परदया पालन हो-सक्ती है। अतएव स्वदयानिमित्त विषय कषाय घटाना योग्य है और परदयानिमित्त किसी भी जीव को कषाय उत्पन्न करना था शारीरिक कष्ट देना कदाचित् योग्य नहीं ॥

जिस प्रकार झूठ, चोरी आदि सब पापों में हिंसापाप शिर-मौर और सबका मूल है उसी प्रकार सत्य, अचौर्यादि धर्मों में अहिंसा धर्म शिरमौर है ॥ भावार्थ, पापों का सब परिवार हिंसा की पर्यायें और पुण्य का सब परिवार अहिंसा की पर्यायें हैं ॥

इस विषयमें जब आत्माकी चैतन्यशक्ति अपेक्षा देखाजाता है तो एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय पर्यंत वनस्पति, कीड़े, मकोड़े पशु, पक्षी, देव, नारकी आदि सभी जीव चैतन्यशक्तियुक्त हैं, इस नाते से छोटे-बड़े सब जीव आपसमें भाई २ हैं, ऐसी दशा में किसी भी जीव को वध करना भ्रातृवध के समान महा पापबंध का कारण है ॥ दूसरे, अनादिकाल से संसार में भ्रमतेहुए जीवों के अनेकवार आपसमें पिता, माता, भ्राता, पुत्र,

स्त्री, बहिन बेटी आदि के अनेक नाते हुए, इसलिये उन को कष्ट देना, उनका वध करना, धर्मपद्धति एवं लोकपद्धति से सर्वथा विरुद्ध है॥ तीसरे, जब कोई अपना छोटासा भी शत्रु (जिसका अपन ने कभी थोड़ासा बुरा किया हो) होता है तो मनमें सदा उसकी तरफ की चिंता लगी रहती है। भला फिर जब सहस्रों जीवोंका नित्यप्रति चलते, उठते, बैठते विध्वंस किया जाय, बाधा पहुंचाई जाय तो उनसे शत्रुता उत्पन्न करके निश्चिन्ततापूर्वक धर्मसाधन करना कैसे संभव होसक्ता है? कदापि नहीं॥ चौथे, जिस जीवको दुख दिया जाता वा मारा-जाता है वह नियम करके बदला लेने को तत्पर होता है, चाहे, उस में बदला लेने की शक्ति हो वा न हो, इसलिये जिन जीवों को तुच्छ व निर्बल समझकर हिंसा की जाती है, वे जीव इस पर्याय में व अन्य पर्यायों में अवश्य दुःख देंगे अथवा दूसरे जीवों के वध करने के लिये जो कषायरूप परिणाम होता है उस से जो पापकर्मका बंध होता है उसकी उदय अवस्था में अवश्यमेव दुःख के कारण उत्पन्न होंगे॥ इसप्रकार हिंसा को महापाप, तथा जीव का परम दुखदाई वैरी जान त्यागने का दृढ़ संकल्प करना सो "अहिंसाव्रत" है॥

बुद्धिमानों को हिंस्य-हिंसक-हिंसा-हिंसाफल के स्वरूप को भलीभांति जानकर विचारपूर्वक प्रवर्तना योग्य है क्योंकि अन्तरंग-कषायभावों और बाह्य प्राणवध के भेद से हिंसा के अनेक भेद होते हैं। यहांपर कुछ भेद लिखे जाते हैं, सभीमें बहुधा प्रमत्तयोग की मुख्यता रहतीहै, इसलिये प्रमत्तयोग होने के निमित्त कारणों को दूर करने में प्रयत्नशील होना धर्मप्रेमियों का कर्तव्य है॥

(१) सावधानीपूर्वक गमनादि क्रिया करतेहुए कर्मयोग से यदि कोई जीव पांवतले आकर पीड़ित भी होजाय, तो इस

दशामें प्रमत्तयोग के अभाव से हिंसा का दोष नहीं लगता। यदि असावधानी रहे और कोई जीव न मरे, तौभी प्रमत्तयोग होने के कारण हिंसाकृत पाप लगता ही है ॥

(२) जिन के हिंसा-त्याग का नियम नहीं है उन के हिंसा न करते हुए भी तत्सम्बन्धी पाप का आस्रव होता रहता है, नियम होनेपर फिर तत्सम्बन्धी आस्रव नहीं होता ॥

(३) कषायभावोंकी तीव्रता, मन्दता एवं वासना के अनुसार किसी को तीव्र, किसी को मन्द, किसी को हिंसा करने के पहिले, किसी को करते समय और किसी को हिंसा करचुकनेपर हिंसाका फल प्राप्त होता है ॥

(४) कभी २ ऐसा होता है कि एक पुरुष तो हिंसा करता और फल अनेक पुरुष भोगते हैं। जैसे, किसी को फांसी लगते देख बहुत लोग कारित-अनुमोदन के दोष से हिंसा के फल के भागी होते हैं ॥

(५) कभी २ ऐसा होता है कि हिंसा तो बहुत लोग करते हैं परन्तु फल का भोक्ता एक ही होता है। जैसे, सेना के लड़तेहुए संग्रामसम्बन्धी पाप का भागी राजा होता है ॥

(६) यदि कोई पुरुष ऐसा कहे, कि मेरे अन्तरंग परिणाम शुद्ध हैं, इसलिये बाह्य आरंभ-हिंसा करते हुए, परिग्रह रखते हुए भी मुझे कोई पाप नहीं लगता, सो ऐसा कहना ठीक नहीं। उस के परिणाम कदापि शुद्ध नहीं रहसक्ते क्योंकि उस के ये सब कार्य बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करने से ही हो रहे हैं ॥

(७) यदि कोई जीव किसी का भला कर रहा हो और कर्मयोग से बुरा होजाय, तो उसे पुण्य का ही फल होगा ॥ इसी प्रकार यदि कोई जीव किसी की बुराई का प्रयत्न कर रहा हो और कर्मयोग से भला हो जाय, तो फल उसे पाप ही का लगेगा ॥

(८) कोई २ कहते हैं कि साग तथा अन्न के अनेक दानों को भक्षण करने की अपेक्षा एक जीव का मांस भक्षण करने में अल्प पाप है क्योंकि जीव २ तो समान हैं, सो ये समझ ठीक नहीं। अंतरंग ज्ञान-प्राण और बाह्य शारीरिक प्राणों के घात की अपेक्षा इकेन्द्री की हिंसा से बेइन्द्री की हिंसा में असंख्यात-गुणा पाप वा निर्दयता होती है इसीप्रकार क्रम से तेइन्द्री, चौइन्द्री, पंचेन्द्री की हिंसा में पाप वा निर्दयता की अधिकता जानो, अतएव अन्न-साग भक्षण की अपेक्षा मांसभक्षण में अनंतगुणा पाप व निर्दयपना विशेष है॥

(९) असह्य दुःख से पीड़ित जीव को देख शीघ्रही दुःख से छूटजाने का बहाना करके गोली, तलवार आदि से उसे मारडालना अज्ञानता है क्योंकि उस जीव के मारडालने पर भी जिस पाप के फल से उसे तीव्र दुःख उत्पन्न हुआ हैं उस पाप के फल से उसे छुड़ाना किसी के आधीन नहीं है। वे दुःख, उस जीव को इस पर्याय में नहीं, तो अगली पर्याय में भोगने ही पड़ेंगे। मारनेवाला अपनी अज्ञानता वश व्यर्थ ही हिंसाफल का भागी होता है क्योंकि अति दुःखी होते हुए भी कोई जीव मरना नहीं चाहता, ऐसी हालत में उसे मारडालना, प्राणघात करना है॥

(१०) कई लोग ऐसी शंका करते हैं कि जैनधर्म में भी तो मन्दिर बनवाना, प्रतिष्ठा करना आदि आरंभ करने का उपदेश है और इन कामों में हिंसाकृत पाप होता ही है फिर जैनी लोगों का अहिंसा धर्म कैसा? तिस का समाधान-जैनी गृहस्थ-लोग धर्मसाधन के अभिप्राय से अर्थात् जहां १०-२० गृहस्थ-जैनियों के घर हों और उनके धर्मसाधन के लिये धर्मसाधन के योग्य स्थान न हो, ऐसी जगह आवश्यकता जान धर्मबुद्धिसहित ख्याति, लाभ, पूजाकी इच्छारहित, न्यायपूर्वक कमाये हुए

द्रव्य से ममत्व घटाकर यत्नाचारपूर्वक *मन्दिर बनवाते हैं। इस-लिये शुभ परिणामों के कारण उसमें महानपुण्य का बंध होता है, सावधानी रखते हुए भी किंचित् आरंभिक-हिंसा जनित अल्पपाप उस महान् पुण्य के साम्हने, समुद्र में विष की कणिका के समान कुछ भी बिगाड़ करने को समर्थ नहीं होसक्ता। क्योंकि जिनमन्दिर बनाने में सांसारिक विषय-कषाय दूर करने तथा मोक्ष-प्राप्ति के कारण वीतरागता-विज्ञानता की सामग्री मिलाई जाने से पुण्य बहुत और यत्नाचारपूर्वक प्रवर्तने से आरंभिक-हिंसा अल्प होती है। सिवाय इसके ऐसे महान् पुण्य के कार्य में द्रव्यव्यय करने से लोभ-कषायरूप अंतरंग हिंसा का त्याग होता है क्योंकि वह द्रव्य विषय-कषाय के कामों में न लगकर पापों की निवृत्ति और महान् सुकृतकी उत्पत्ति में लगता है इसी कारण शास्त्रों में पुण्यबंधकी करनेवाली पूजा-प्रतिष्ठादि आरंभ-जनित शुभ क्रियायें गृहस्थ के लिये करनेका उपदेश है ॥ हां! जहां आवश्यकता न हो और केवल अपने नाम या मान-बड़ाई आदि के अभिप्राय से यत्नाचाररहित होकर मन्दिर बनाया जाय और उस में धर्मसाधन न किया जाय, तो केवल पापबंध का भी कारण होसकता है ॥

(११) कोई २ लोग ऐसा कहते हैं कि धर्म के निमित्त किई हुई हिंसा, पाप का कारण नहीं, किन्तु पुण्य का कारण है सो उन का ऐसा कहना मिथ्या है। हिंसा तो त्रिलोक-त्रिकाल में पुण्यरूप हो ही नहीं सक्ती, पापरूप ही है। यदि हिंसा ही पुण्य

* पानी छानकर लगाना, गीला चूना-मिट्टी आदि बहुत दिनोंतक नहीं पड़ा रहने देना, रात्रिके अंधेरे में काम नहीं चलाना, जीव-जंतु बचाकर काम चलाना, सदा जीव-रक्षाके परिणाम रखना, मजदूरों की मजदूरी बराबर देना आदि सब काम विवेकपूर्वक करना यत्नाचार कहाता है। इसीतरह पूजा प्रतिष्ठादि सब कामों में यत्नाचार रखना चाहिये ॥

का कारण हो तो अहिंसाधर्म व्यर्थ ही ठहरे, और देवी-देवताओं के निमित्त वध करनेवाले ही पुण्यवान् ठहरें, सो जहां जीवों को निर्दयतापूर्वक दुःख दिया जाता है वहां पुण्य होना कदापि संभव नहीं होता । हां ! पुण्य के कार्यों में यत्नाचारपूर्वक प्रवर्तते हुए भी जो अबुद्धिपूर्वक अल्पहिंसा होजाती है वह पुण्यकी अधिकता के कारण कुछ शुमार नहीं कीजाती, तौभी बुरी है। हरएक कार्य में कषायकी हीनता-अधिकता, परोपकार-परपीड़ा तथा दया-निर्दयता के अनुसार पुण्य-पाप का बंध होता है ॥

इसप्रकार अनेक नयों से हिंसाकृत पापके भेदों को समझ त्याग करना सच्चा "अहिंसाव्रत" कहाता है ॥

यद्यपि हिंसा सर्वथा त्यागने योग्य है, तथापि गृहस्थाश्रम में रहकर गृहसम्बन्धी षट्कर्मों के किये विना चल नहीं सक्ता । गृहस्थों को चक्की से पीसना, उखली में कूटना, चूल्हा जलाना, बुहारना, पानी भरना तथा द्रव्योपार्जन के लिये धंधा करना ही पड़ता है, ऐसी दशा में थावरहिंसा तथा आरंभसम्बन्धी त्रसहिंसा का त्याग उनके लिये अशक्यानुष्ठान है, वे इस के त्यागने को असमर्थ हैं, तौभी त्रसहिंसा की बात तो दूरही रहे, वे व्यर्थ थावरकाय की भी हिंसा नहीं करते। इसी कारण शास्त्रों में जहां तहां गृहस्थ को स्थूलहिंसा अर्थात् संकल्पी-त्रसहिंसा का त्यागी अणुव्रती कहा है ॥

प्रगट रहे कि हिंसा* संकल्पी-आरंभी के भेद से दो प्रकार की है जिसका स्वरूप नीचे कहाजाता है ॥

---

* श्री सारचतुर्विंशतिका (मूल) में हिंसाके संकल्पी और आरंभी के सिवाय उद्यमी और विरोधी ये दो भेद और भी कहे हैं ॥ (१) उद्यमी-आजीविका के धंधों में यत्नाचारपूर्वक प्रवर्तते हुए अनिच्छापूर्वक जो हिंसा होती है । (२) विरोधी-राज्य-कार्यादि में अनिच्छापूर्वक जो हिंसा होती है ॥

नोट-ये दोनों भेद सामान्यरूपसे आरंभी हिंसा में गर्भित होसक्ते हैं ॥

(१) संकल्पीहिंसा—किसी त्रस जीव को आप संकल्प करके मारना अर्थात् शरीराश्रित प्राणों का घात करना, दूसरों से मरवाना अथवा जान बूझकर मारने का विचार करना, सो संकल्पीहिंसा कहाती है ॥

(२) आरंभीहिंसा—गृहसम्बन्धी पंचसून चक्की-ऊखली आदि की क्रियाओं अथवा आजीविका के धंधों में हिंसा से भयभीत होते हुए, सावधानी रखते हुए भी जो हिंसा होजाय सो आरंभीहिंसा कहाती है ॥

प्रगट रहे कि व्रतीश्रावक संकल्पीहिंसा कदाचित् भी नहीं करता, यहांतक कि संकल्प करके सिंह, सर्पादि हिंसक-जीवों को भी नहीं मारता, ऐसा सागारधर्मामृत में स्पष्ट कहा है। यद्यपि संकल्पीहिंसा दार्शनिकश्रावक भी नहीं करता तो भी अतीचार-दोष लगने के कारण उसे व्रत संज्ञा नहीं होसकी, यहां अतीचारों का भी नियमपूर्वक त्याग होजाता है॥ प्रश्नोत्तरश्रावकाचार में भी कहा है "व्रत प्रतिमाधारी श्रावक, शत्रु आदि को मुकी-लाठी आदि से भी नहीं मारता है तो सिंह, शत्रु आदिको प्राणरहित कैसे करेगा?" पुनः शास्त्रों में यह भी कहा है कि यदि कोई आरंभ में यत्नाचारपूर्वक न प्रवर्ते, तो उस की आरंभी-हिंसा, संकल्पी के भाव को प्राप्त होती है, अतएव गृहस्थको "त्रसहिंसा को त्याग वृथा थावर न सँघारे" इस वाक्य के अनुसार चलना चाहिये अर्थात् संकल्पी त्रसहिंसा के त्याग के साथ २ व्यर्थ थावरहिंसा भी न करना चाहिये ॥

अहिंसाणुव्रतके पंचातीचार ॥

(१) वध—किसीको लाठी, मूका, कोरड़ा, चाबुक से मारना ॥ यहां शिक्षा के अभिप्राय से बालक तथा अपराधी पुरुष आदि को दंड देना गिन्ती में नहीं है ॥

(२) बंध—इच्छित स्थान को जाते हुए किसीको छेड़ना, रोकना या रोककर बांधना, क़ैद करना ॥ यहां पालतू गाय, भैंसादि को घर में बांधना गिन्ती में नहीं है, परन्तु इतना अवश्य है कि वे इस तरह न बांधे जावें, जिस से उन्हें किसी प्रकार की पीड़ा हो ॥

(३) छेद—नाक फोड़ना, पांव तोड़ना, अंगभंग करना, बैल बधिया करना। यहां बालकों का कर्ण छेदन न लेना॥

(४) अतिभारारोपण—गाड़ी, घोड़ा, बैल आदि पर प्रमाण से अधिक लादना॥

(५) अन्नपान निरोध—खाने-पीने को समयानुसार न देना, भूखों-प्यासों मारना॥

इन पंच अतीचारों के तजने से अहिंसा-अणुव्रत निर्दोष पलता है, यदि अतीचार लगें तो व्रत दोषित होजाता है, अतएव अतीचार दोष न लगने देना चाहिये॥

अहिंसाणुव्रत की पंच भावना * ॥

(१) मनोगुप्ति—मनमें अन्यायपूर्वक विषय भोगने की वांछा, दूसरों का इष्टवियोग, हानि, तिरस्कार चिंतवन आदि दुष्ट संकल्प-विकल्प न करना॥

---

* वार २ किसी बातके स्मरण करने को, पुनरावृत्ति करने को भावना कहते हैं। भावनाओंके वार २ चिंतवन करनेसे परिणामोंमें निर्मलता, व्रतोंमें दृढ़ता होती है। अशुभध्यान का अभाव और शुभ भावों की वृद्धि होती है। श्रीतत्वार्थ-सूत्रजी में पांचों व्रतोंकी पांच २ भावना सामान्यरूप से कहीगई हैं. उनको अणुव्रतोंमें एकोदेश और महाव्रतोंमें सर्वोदेश समझना चाहिये। यहां पर रत्नकरंड-श्रावकाचारके भाषाटीकाकार पं. सदासुखजी के कथनानुसार पंचाणुव्रतों की भावना कही गई हैं॥

(२) वचनगुप्ति—हास्य, कलह, विवाद, अपवाद, अभिमान तथा हिंसा के उत्पन्न करनेवाले वचन न बोलना ॥

(३) ईर्यासमिति—त्रसजीवों की विराधना रहित, हरित त्रण, कर्दमादिको छोड़ देख-शोध, धीरतासे यत्नाचारपूर्वक गमन करना, चढ़ना, उतरना, उल्लंघन करना. जिससे आप को वा दूसरे जीवों को बाधा तथा हानि न हो ॥

(४) आदान-निक्षेपण समिति—हरएक वस्तु-पात्र आदि यत्न से उठाना, धरना, जिससे अपनी वा पर की हानि न हो, आपको वा पर को संक्लेश वा शारीरिक पीड़ा न हो ॥

(५) आलोकित पान-भोजन—अंतरंग में द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव की योग्यता-अयोग्यता देखकर और बाह्य में दिवस में, उद्योत में, नेत्रोंसे भलीभांति देख-शोध आहार करना, जल पीना ॥

इन पंच भावनाओं का सदा ध्यान रखने से व्रतोंमें अधिकाधिक गुणों की प्राप्ति होती है। जैसे औषधि में सोंठ या पान के रस की भावना देनेसे तेजी बढ़ती है, वैसे ही भावनाओंके चिंतवन करने से व्रत निर्मल होता है और दोष नहीं लगने पाते ॥

जो लोग इसप्रकार भलीभांति अहिंसाऽणुव्रत के स्वरूप को जान अंतरंग कषायभाव व बाह्य आरंभी-त्रसहिंसा नहीं करते, वे ही सच्चे अहिंसाऽणुव्रत के पालक एवं स्थूल-हिंसा के त्यागी हैं ॥

---

२ सत्याणुव्रत ॥

"प्रमत्तयोगादसदभिधानमनृतम्" अर्थात् कषायभाव पूर्वक

अयथार्थ भाषण करना असत्य कहाताहै। जैसे:–होते को अनहोता या भले को बुरा कहना अथवा अनहोते को होता या बुरे को भला कहना, ये सब असत्य है। पुनः ऐसे सत्य-वचन को भी असत्य जानना, जिसके बोलने से दूसरों का अपवाद, बिगाड़ या घात होजाय, अथवा पंच पाप में प्रवृत्ति होजाय, क्योंकि ऐसे भाषण करनेवाले के वचन सत्य होते हुए भी चित्तवृत्ति पापरूपही रहती है। इसीप्रकार जिस वचन से भलाई उत्पन्न हो, पाप से बचाव हो, वह वचन असत्य होते हुए भी बोलनेवाले के शुभ विचारों का द्योतक है इसलिये सत्य है। इसप्रकार सत्य–असत्य का स्वरूप भलीभांति जान उपर्युक्त प्रकार स्थूल असत्य का त्याग करना सो सत्याणुव्रत कहाता है॥

हिंसाके समान असत्य भी बड़ा भारी पाप है, एक झूठ के बोलने पर उसकी पुष्टता के लिये सैंकड़ों झूठे प्रमाण ढूंढ़ना पड़ते हैं, जिससे आकुलता-व्याकुलता बढ़कर स्वात्महिंसा के साथ २ कभी २ स्वशरीरघात करने का कारण भी उपस्थित होजाता है॥ असत्यवादी दूसरोंको मानसिक एवं शारीरिक कष्ट तथा हानि पहुंचाकर पर द्रव्य–भाव हिंसाका भी भागी होता है॥ जिस प्रकार अपन से कोई झूठ बोले, धोखा देवे तो अपने हृदय में अति दुःख होता है, उसी प्रकार किसी से अपन झूठ बोलें या धोखा दें, तो उसको भी दुःख होना संभव है। अतएव असत्य भाषणमें हिंसाकृत दोष निश्चयकर इसे सर्वथा तजना योग्य है। असत्य भाषण से लोक में निन्दाहोना, राज्य से दंड मिलना आदि अनेक दोष उत्पन्न होते और परलोक में कुगति होती है। इसके विरुद्ध सत्यभाषण से लोक में प्रामाणिकता, यश, बड़प्पन तथा लाभ होता और परलोक में स्वर्गादि सुखोंकी

प्राप्ति होती है ॥ असत्य के विशेषभेद यद्यपि अनेक हैं तथापि सामान्यतः ४ भेद हैं ॥

(१) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से होती (छती) वस्तुको अनहोती कहना (२) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अनहोती वस्तु को होती कहना (३) कुछ का कुछ कह देना (४) गर्हितवचन अर्थात् दुष्टता के वचन, चुगलीरूप वचन, हास्यरूप वचन, मिथ्या-श्रद्धानके वचन, कठोरवचन, शास्त्रविरुद्ध वचन, व्यर्थ बकवाद, विरोध बढ़ानेवाले वचन, पापरूप वचन, अप्रिय वचन कहना ॥

यद्यपि गृहस्थाश्रमी पुरुष भोगोपभोग के साधनमात्र सावद्य-वचन के त्यागने को असमर्थ है, तौ भी यथासंभव इस में भी असत्य भाषण का प्रयोग नहीं करता, शेष सर्वप्रकारके असत्य का त्यागी होनेसे सत्याणुव्रती होसक्ता है। हरएक मनुष्य को चाहिये, कि जिससे परजीव का घात हो, ऐसे हिंसक वचन न कहे, जो दूसरों को कड़ुवे लगें अथवा क्रोध उपजावें, ऐसे कर्कश वचन न बोले, दूसरो को उद्वेग, भय, शोक, कलह उत्पन्न करनेवाले निष्ठुर वचन न बोले, दूसरों के गुप्त भेद प्रकट करनेवाले अथवा जिससे किसी को हानि पहुंचने की संभावना हो, ऐसे वचन न बोले, सदा दूसरों के हितकारी, प्रमाण रूप, सन्तोष उपजानेवाले, धर्म को प्रकाशित करनेवाले वचन कहे ॥

प्रगट रहे कि अनृतवचन के सर्वथा त्यागी महामुनि तथा एकोदेशत्यागी श्रावक, अन्य श्रोतागणों के प्रति बारम्बार हेयोपादेय का उपदेश करते हैं, इसलिये उनके पाप निषेधक वचन, पापी पुरुषोंको निष्ठुर और कड़ुक लगते है। तौ भी प्रमत्तयोग के अभाव से उन वक्ताओं को असत्य भाषण का

दूषण नहीं लगता, क्योंकि प्रमादयुक्त अयथार्थ भाषण असत्य कहाता है ॥

सत्याणुव्रत के पंचातीचार ॥

(१) मिथ्योपदेश—शास्त्रविरुद्ध उपदेश देना अर्थात् उपदेश तो सत्य हो परंतु द्रव्य-क्षेत्र काल-भाव के विरुद्ध हो, धर्मका बाधक हो ॥

(२) रहोभ्याख्यान—किसी की गुप्त बात प्रगट करना अथवा स्त्री-पुरुषों की गुप्त चेष्टा को प्रकट करना ॥

(३) कूटलेखक्रिया—झूठी बातें लिखना या अन्य के नाम से उसकी आज्ञा विना सत्य भी लिखना, झूठी गवाही देना ॥

(४) न्यासापहार—किसी की धरोहर रक्खी हो और वह भूलकर कम रक्खी हुई बतावे या कम मांगे तो कम ही देना ॥

(५) साकार मंत्रभेद—किसी के अभिप्राय को उसकी किसी चेष्टा द्वारा जानकर औरों पर प्रकट करना ॥

बहुधा लोग इन पंच अतीचारोंमें कुछ भी दोष न समझकर और साधारण रीति से लौकिक पद्धति समझकर अतीचार-रूप काम करते हैं परंतु स्मरण रहे कि ये कार्य सत्याणुव्रत को दूषित करनेवाले हैं । इतनाही नहीं किन्तु इन के बार २ वर्ताव करने से सत्याणुव्रत भंग होजाता है । इसलिये इन दोषों को बचाना चाहिये ॥

सत्याणुव्रत की पंचभावना ॥

(१) क्रोधत्याग-क्रोध नहीं करना. यदि किसी बाह्य प्रबल कारण से क्रोध उत्पन्न होजाय तो विवेकपूर्वक उसे दमन करना, मौन धारण करना ॥

(२) लोभत्याग-जिससे असत्य में प्रवृत्ति होती हो, ऐसे लोभको छोड़ना ॥

(३) भयत्याग-जिस से धर्मविरुद्ध, लोकविरुद्ध वचन में प्रवृत्ति हो जाय, ऐसा धन विगड़ने, शरीर बिगड़ने का भय नहीं करना ॥

(४) हास्यत्याग-किसीकी हँसी-मसखरी नहीं करना, हास्य के वचन नहीं कहना ॥

(५) अणुवीची भाषण-जिनसूत्र से विरुद्ध वचन न बोलना ॥

इन पंच भावनाओंकी सदा स्मृति रखने से असत्य भाषण से रक्षा होती और सत्याणुव्रत निर्मल होता है। इसलिये जो पुरुष सत्याणुव्रत को निर्दोष पालना चाहें, वे सदा इन पंच भावनाओं को भावते रहें, जिस से लोक-परलोक में सुख के भागी हों ॥

अचौर्याणुव्रत ॥

"प्रमत्तयोगाददत्तादानं स्तेयम्" कषाय भावयुक्त होकर दूसरे की वस्तु उसके दिये विना या आज्ञा विना लेलेना चोरी कहाती है ॥ चोरी के सर्वथा त्याग से अचौर्य महाव्रत और एकोदेश (स्थूल) त्याग से अणुव्रत होता है ॥ किसी के रक्खेहुए, गिरेहुए, भूलेहुए तथा धरोहर रक्खेहुए द्रव्य को नहीं हरण करना और न उसके मालिक की आज्ञा विना किसी को देदेना, इस प्रकार स्थूल चोरी का त्याग, सो अचौर्य अणुव्रत कहाता है ॥

संसार में धन ग्यारहवां प्राण है, धन के लिये लोग अपने प्राणोंको भी संकट में डालते नहीं डरते। रणसंग्राम, समुद्र,

नदी, पर्वत, गहन-वनादि में जहां प्राणों के नाश की संभावना रहती है, वहां भी धन के लिये प्रवेश करते हैं, यदि चोर-ठगादि लूटने को आवें, तो प्राणदेना कबूल करते हैं, पर धन देना कबूल नहीं करते, इसप्रकार धन को प्राणोंसे भी अधिक प्यारा समझ-ते हैं, इसलिये जो पराया धन हरण करता है सो मानो पराये प्राण ही हरण करता है और आप पापबंध करके अपने आत्मीक ज्ञान-दर्शन प्राणोंका घात करता है। चोरी से इस भव में राज-दंड, जातिदंड, निन्दा होती तथा परभव में नीच गतियों के दुःख भोगने पड़ते हैं ऐसा जानकर दृढ-चित्त, शुद्ध-बुद्धि पुरुषों को उचित है कि दूसरे की भूली हुई अथवा मार्ग में पड़ी हुई वस्तु न लेवें। छल-छंद से किसी का द्रव्य न लेवें। अपने पास किसी की धरोहर रक्खी हुई हो, उसे दबा लेनेकी इच्छा न करें। किसीकी बहुमूल्य वस्तु अल्पमूल्य में न लेवें। क्रोध-मान-माया-लोभ से किसीका द्रव्य न लें और न लेनेवाले को भला कहें॥

गृहस्थ जलाशयों का जल तथा खानिकी मिट्टी या ऐसे फला-दिक जो आम लोगों के भोगोपभोग के लिये नियत किये गये हों, विना दिये ले सक्ता है तथा चरागाह जो आम लोगों के निस्तार के लिये छोड़ दीगई हो, उस में ढोर चरा सक्ता है॥ क्योंकि वह राजाकी तरफ से प्रजाके निस्तार के लिये नियत की गई है, इस में विशेष बात यह है कि किसी के रखाये हुए, रोके हुए, ठेकेपर दिये हुए जल, मिट्टी, फल, घास, फूस आ-दिको स्वामी की आज्ञा के विना लेने से चोरी का दोष लगता है। किसी पुरुष के मरने पर उस के धनका अपने तई वारिस होना निश्चय होते हुए भी उस धनको उस पुरुष के जीतेजी अप-नाना या उसकी मरजी के विना दूसरों को देदेना, किसीकी पंचायती या मुकदमा सांचा अथवा झूठा फैसला करके रिस्वत

लेना, किसीकी बहुमूल्य की वस्तु जान-बूझकर कम मोल में लेलेना, अपने धन-वस्त्रादि में ये हमारा है या नहीं ? ऐसा संशय होते हुए भी लेलेना, ये सब चोरी ही की पर्यायें है, क्योंकि इन सब में प्रमत्तभाव का सद्भाव है । अतएव प्रत्येक गृहस्थ को "जल-मृतिका बिन और कछु नहिं गहै अदत्ता" इस वाक्य के अनुसार अचौर्यव्रत पालन करना चाहिये ॥

अचौर्याणुव्रतके पंच अतीचार ॥

(१) चौरप्रयोग—चोरी के उपाय बताना कि चोरी अमुक २ रीति से कीजाती है या चोरी करनेवालों को सहायता देना ॥

(२) चौरार्थादान—चोरी कियाहुआ पदार्थ ग्रहण करना, मोल लेना ॥

(३) विरुद्धराज्यातिक्रम—विरुद्धराज्य में जाकर अन्यायपूर्वक लैन-दैन करना, राज्य के कानून को तोड़ना, राज्यका महसूल चुराना ॥ पुनः रत्नकरंडश्रावकाचार में, विलोप कहा है अर्थात् राज्य के नियमों को तोड़ना तथा राजाज्ञा के विरुद्ध काम करना ॥

(४)हीनाधिकमानोन्मान—नापने, तौलने के गज-बांटादि कम-बढ़ रखना ॥

(५) प्रतिरूपकव्यवहार—बहुमूल्यकी चीज में अल्प मूल्यकी चीज मिलाकर बहुमूल्य के भाव से बेचना ॥

बहुधा अनसमझ व्यापारी लोग राज्य में माल का महसूल नहीं चुकाते, बेंचने-लेने में कम बढ़ तौलते या दूध में पानी, घी में तेल आदि खोटा खरा मिलाकर बेंचते हैं अथवा झूठे विज्ञापन (इश्तिहार) देकर लोगों को ठगते, मालका नमूना कुछ और बताते और पीछे माल और कुछ देते हैं इत्यादि अनेक

कपट चतुराई करते और इसे व्यापार-धंधा समझते हैं, सो ये सब चोरी का ही रूपान्तर है। अतएव इन पंच अतीचारों को अचौर्य अणुव्रत में दोष उत्पन्न करनेवाले जान त्यागना योग्य है।

अचौर्याणुव्रतकी पंच भावना॥

(१) शून्यागारवास-व्यसनी, दुष्ट, तीव्र कषायी, कलह विसंवाद करनेवाले पुरुषों रहित स्थान में रहना॥

(२) विमोचितावास-जिस मकान में दूसरे का झगड़ा न हो, वहां निराकुलतापूर्वक रहना॥

(३) परोपरोधाकरण-अन्य के स्थान में बलपूर्वक प्रवेश नहीं करना॥

(४) भैक्ष्यशुद्धि-अन्यायोपार्जित द्रव्य द्वारा प्राप्त किया हुआ, तथा अभक्ष्य भोजन का त्याग करना, अपने कर्मानुसार-प्राप्त शुद्ध भोजन को लालसारहित, सन्तोषसहित ग्रहण करना॥

(५) सधर्माविसंवाद-साधर्मी पुरुषों से कलह-विसंवाद नहीं करना॥

इन पंच भावनाओं को सदा स्मरण रखकर अचौर्य अणुव्रत दृढ़ रखना तथा और भी जिन कारणों से अचौर्य व्रत दृढ़ रहे, उन कारणों को सदा मिलाते रहना चाहिये॥

---

४ ब्रह्मचर्याणुव्रत॥

"प्रमत्तयोगान्मैथुनमब्रह्म" प्रमत्तयोग अर्थात् वेदकषायजनित भावयुक्त स्त्री-पुरुषों की रमणक्रिया कुशील कहाता है। इस कुशील के त्यागको ब्रह्मचर्यव्रत कहते हैं॥ यथार्थ में ब्रह्म जो आत्मा उस में ही आत्मा के उपयोग (चैतन्यभाव) की चर्या अर्थात् रमणक्रिया (गमनागमन) सच्चा ब्रह्मचर्य है। उस सच्चे ब्रह्मचर्य अर्थात् आत्मा में उपयोग के स्थिर होनेको बाधक कारण

मुख्यपने स्त्री है इसलिये जब सम्यग्ज्ञानपूर्वक स्त्री से विरक्त होकर कोई पुरुष मुनिव्रत धारण करता है, तभी आत्मस्वरूप में रमनेवाला साधु (आत्मस्वरूपका साधक) कहलाता है । इसी-कारण स्त्री का सर्वथा त्याग करना व्यवहार ब्रह्मचर्य कहागया है ॥ गृहस्थ के इतनी अधिक वेदकषाय की मन्दता न होने से अर्थात् प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होने से वह सर्वथा स्त्री त्याग करने को असमर्थ है ॥ ऐसी हालत में वेद-कषाय सम्बन्धी वेदना की उपशांति के लिये स्वदारसन्तोष धारना अर्थात् देव, गुरु, शास्त्र, एवं पंचों की साक्षीपूर्वक विवाही स्वस्त्रीके सिवाय और सब पर स्त्रियोंका त्याग करना सोही गृहस्थ का ब्रह्मचर्य अणुव्रत है ॥

यद्यपि राजा, जाति तथा कुटुंब के भय से अथवा द्रव्य, क्षेत्र-काल, भाव के अभाव से (योग्यता न मिलने से) लोक में व्य-भिचार रुकाहुआ है अर्थात् इन कारणों से लोग व्यभिचार से-वन नहीं करते, तोभी वह कुशीलत्याग व्रत नहीं कहला सक्ता, क्योंकि इसमें प्रमत्तयोग का अभाव नहीं है ॥ जब इन उप-र्युक्त कारणों के विना सम्यग्ज्ञानपूर्वक कुशील को धर्म का बा-धक जान, पाप के भय से परस्त्री को न तो आप सेवन करे, न दूसरों को सेवन करावे और न परस्त्री-सेवी को भला समझे, केवल अपनी विवाही हुई स्त्री में ही सन्तोष धारण करे, तभी सच्चा स्वदारसन्तोषी एवं कुशीलत्यागी कहलासक्ता है । उसे उचित है कि अपनी स्त्री सिवाय अन्य अपने से छोटी को पुत्री-समान, बराबरवाली को बहिन समान और बड़ी को माता समान जान कदापि विकार भाव न करे ॥

विचार करने की बात है कि, जब कोई पुरुष किसी की स्त्री, मा, बहिन या बेटी की तरफ कुदृष्टि से देखता, हँसता या कुचेष्टा

करता है तब उसके चित्तमें इतना असह्य क्रोध तथा दुःख उत्पन्न होता है कि वह दोपी के मारने-मरने को तय्यार होजाता है, यही बात हरएक पुरुष स्त्री को ध्यान में रखना चाहिये। व्यभिचार सेवन करने से स्वपर द्रव्य भाव-हिंसा होती तथा राजदंड, पंचदंड की प्राप्ति होती है॥ प्रत्यक्ष ही देखो कि व्यभिचार के कारण सैकड़ों स्त्री-पुरुषों के प्राणघात के मुकद्दमें सरकारी अदालतों में नित्यप्रति आते हैं॥ पुनः स्त्री के योनि, कुच, नाभि, कांख आदि स्थानों में सन्मूर्छन, सैनी, पंचेन्द्रिय मनुष्य (जीव) सदा उत्पन्न होते रहते हैं इसलिये स्त्री सेवन से उन प्राणियों का घात होता है, तहां स्वस्त्री के काम के अंगों के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण की समानता होनेसे स्वस्त्रीसेवनमें कम हिंसा और परस्त्री के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण की असमानता होने से परस्त्री सेवन में असंख्यात गुणी द्रव्य-हिंसा होती है। इसीप्रकार काम की मूर्छा अर्थात् लम्पटभाव भी स्वस्त्री सम्बन्ध में बहुत कम और परस्त्री सम्बन्ध में बहुत (उत्कट) होने से अनंतगुणी भावहिंसा होती है इसी कारण परस्त्री की लुब्धता व्यसनों में और स्वस्त्री-सेवन विषयों में कहा गया है। इस प्रकार यह कुशील हिंसा का परिवार एवं महापाप है, जैसे सप्त व्यसनों का मूल जुंआ है उसी प्रकार पंच पापों का उत्पादक यह व्यभिचार है॥

इस दोप से बचने के लिये अन्य स्त्री (वेश्या, दासी, परस्त्री, कुमारिकादि) सेवन का सर्वथा त्याग करना चाहिये, तभी परस्त्री त्याग अथवा स्वस्त्रीसंतोष व्रत पलसक्ता है। कोई २ कुपंडित कहते हैं कि परस्त्री का त्यागी वेश्यासेवन करे तो अतीचार दोपलगता है क्योंकि वेश्या परस्त्री नहीं है उसने किसी के साथ विवाह नहीं किया, सो ऐसा कहना महा अनर्थ एवं पाप का कारण है। वेश्या से बोलने, आने, जाने, देन-लैन रखने से ही शीलव्रत में अतीचार दोप लगता है, उसका सेवन सप्त

व्यसन का मूल, अनेक रोगों व आपदाओं का उत्पादक है। वेश्या को "नगरनारि" कहा है वह एकही परपुरुष की स्त्री नहीं है किन्तु नगर-परनगर सभी स्थानों के पुरुषों के पैसे की स्त्री है, इसी कारण वेश्यासेवन व्यसन को पहिले छोड़ने का आचार्यों ने उपदेश दिया हैपीछे परस्त्री त्याग का। अतएव जिसने वेश्याव्यसन का त्याग किया हो, वही परस्त्रीत्याग एवं स्वदारसन्तोष व्रत धारण करने का अधिकारी होसक्ता है, क्योंकि लघुपाप त्याग, महापाप सेवन करना सर्वथा क्रम-विरुद्ध और अनुचित है, पुनः ऐसी विधिको निरूपण करना भी महापाप है॥

ब्रह्मचर्य अणुव्रत धारक पुरुष को पूर्ण गर्भवती (जिसके ५ माह से अधिक का गर्भ हो) प्रसूतिवाली (जिस स्त्रीके बच्चा उत्पन्न हुए सूतक का काल डेढ़ माह पूर्ण न हुआ हो) रज-स्वला, रोगिणी, बालिका, कुंआरी, अतिवृद्धा स्वस्त्री का भी सेवन न करना चाहिये। चैत्यालय, तीर्थस्थान, पवित्र वा पूज्य क्षेत्र तथा अपवित्र स्थान में स्वस्त्री का भी सेवन न करना चाहिये। अष्टमी, चतुर्दशी, तीनों अष्टान्हिक, सोलह कारण, दशलक्षण, रत्नत्रयादि महा पर्वों एवं शील-संयम पालने के समयों में, सहधर्मियों, राजाओं, महंतपुरुषों एवं इष्टपुरुषों के मरण समय, इन कालों में स्वस्त्री का सेवन भी न करना चाहिये, क्योंकि इससे पापबंध होने सिवाय लोकनिन्दा तथा रोगों की उत्पत्ति होती है॥

वैद्यक ग्रंथों में स्पष्ट लिखा है कि ऋतुधर्म के काल में स्त्री सेवन करने से स्त्री-पुरुष दोनों को धातु-क्षीण, गर्मी, सुजाकादि रोग होना संभव हैं, यदि गर्भ रहजाय तो दुर्गुणी, अल्पायु संतान उत्पन्न होती है॥ शास्त्रों में ऋतुसमय स्त्री से संभाषण करने तक का निषेध है। उसे स्पर्श करने, उसके छू

ए हुए भोजन-पान करनेसे बुद्धि मन्द, मलीन और भ्रष्ट होजाती है, फिर उसे सेवन करना हानिकारक क्यों न हो? अवश्य ही हो॥ इसी प्रकार अल्पवयस्क स्त्री को सेवन करने से स्त्री की आदत बिगड़ जाती और बहुधा व्यभिचारिणी होजाती है॥ रोगिणी तथा अतिवृद्धा स्त्री के सेवन से धातु क्षीण होजाती है॥ स्वस्त्री में अतीव कामसेवन तथा अनंगक्रीड़ा करना प्रगट ही दुःख का कारण है. इससे इन्द्रियों की शिथिलता, स्वप्नदोष, पिंड़लियों में शूल, शरीर की अशक्तता, धातुविकार, प्रदर-रोग, रज-दोष, सन्तानहीनता, बंध्यापना, नपुंसकता आदि दोष उत्पन्न होते हैं, ऐसा जान योग्य प्रवृत्ति करना ही श्रेष्ठ है॥

इस व्रत के विषय में पुरुषों की नांई स्त्रियों को भी स्वसमें परपति की वांछा नहीं करना चाहिये। अपने विवाहित पति की, चाहे वह सुन्दर-सर्वगुणसम्पन्न हो, चाहे रोगी, वृद्ध, कुरूप, लूला, लँगड़ा कैसा भी क्यों न हो, सेवा करना, उसकी आज्ञा में चलना और पतिव्रत-धर्म को निर्दोष पालना चाहिये। स्त्रियों को किसी भी हालत में कभी स्वच्छन्द (स्वतंत्र) नहीं रहना चाहिये, क्योंकि स्वेच्छाचारपूर्वक रहने से व्यभिचारादि अनेक दोषों एवं निन्दाओं का उत्पन्न होना संभव है, अतएव स्त्रियों को बचपन में माता-पिता के आधीन, विवाह होनेपर पति के आधीन, कदाचित् विधवा होजाय तो पुत्रादि कुटुम्बीजनों के आधीन रहना चाहिये। विधवाओं को ब्रह्मचर्य-व्रत धारणपूर्वक आत्मकल्याण में प्रवर्तना चाहिये अथवा उत्तम श्राविका या आर्यिका की दीक्षा लेकर साधर्मी स्त्रियों के संघ में रहकर गुरानी की आज्ञापूर्वक प्रवर्तना चाहिये॥ ऐसी स्त्रियाँ देवों द्वारा स्तुति-पूजा को प्राप्त होतीं और मरणपश्चात् स्वर्ग में उत्तम महर्द्धिक देव होती हैं॥

कुशीलत्याग अणुव्रत के पंचातीचार ॥

(१) परविवाहकरण-अपने पुत्र-पुत्री सिवाय दूसरों के पुत्र-पुत्री की शादी का मेल मिलाना, शादी करना ॥

(२) इत्वरिका परिग्रहीतागमन-व्यभिचारिणी स्त्री जिसका स्वामी हो, उसके घर आना-जाना या उससे बोलने, उठने, बैठने, लैन-दैनका वर्ताव करना ॥

(३) इत्वरिका अपरिग्रहीतागमन-स्वामीरहित व्यभिचारिणी स्त्री के घर आना-जाना, या उस से बोलने उठने-बैठने, लैन-दैनका वर्ताव करना ॥

(४) अनंगक्रीड़ा-कामसेवन के अंगों को छोड़ अन्य अंगों द्वारा क्रीड़ा करना या अन्य क्रियाओं द्वारा कामकी शान्ति करना ॥

(५) कामतीव्राभिनिवेश-स्वस्त्री में भी कामसेवन की अति लम्पटता रखना । द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के विचारे विना कामसेवन करना ॥

सूचना-यहां जो व्याही वा बेव्याही परस्त्री प्रति गमन करना लिखा है, सो गमन शब्दका अर्थ उसके यहां जाना अथवा जघन, स्तन, दांत आदि अंगों का रुचिपूर्वक देखना, प्रेम-पूर्वक वार्तालाप करना, हाथ, भौंह आदि की चेष्टा करना आदि जानना । गमन शब्द का अर्थ सेवन नहीं है ॥

इन पंच अतीचारों के लगने से ब्रह्मचर्य अणुव्रत मलीन होता तथा वार २ लगनेसे क्रमशः नष्ट होजाता है। अतएव इन्हें त्याग निर्दोष ब्रह्मचर्य अणुव्रत पालना चाहिये ॥

ब्रह्मचर्याणुव्रत की पंच भावना ॥

(१) स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग-अन्य की स्त्रियों में राग

उत्पन्न करनेवाली कथा-वार्ता-गीत, सुनने-पढ़ने-कहने का त्याग करना ॥

(२) तन्मनोहरांगनिरीक्षणत्याग-अन्यकी स्त्रियों के मनोहर अंगों को रागभावपूर्वक न देखना ॥

(३) पूर्वरतानुस्मरण-अणुव्रत धारण करने के पहिले अव्रत अवस्था में भोगे हुए भोगों का स्मरण नहीं करना ॥

(४) वृष्येष्टरसत्याग-कामोद्दीपक पुष्ट एवं भरपेट भोजन व रस-मात्रादिक भक्षण न करना ॥

(५) स्वशरीरसंस्कारत्याग-कामी पुरुषों सरीखे कामोद्दीपन करने योग्य शरीर को नहाने, तेल-उवटनादि लगाने, वस्त्रादि पहिरने, शृंगार करने का त्याग करना, सादा पहिनाव-उढ़ाव रखना ॥

इन पंच भावनाओं के सदा चिंतवन करने से परस्त्रीत्याग एवं स्वदारसंतोष व्रत दृढ़ रहता है, इसलिये ब्रह्मचर्य अणुव्रती को इन भावनाओं का सदा चिंतवन करना चाहिये ॥

---

५ परिग्रह-परिमाण अणुव्रत ॥

"प्रमत्तयोगान्मूर्छा परिग्रहः" आत्मा के सिवाय जितनेमात्र रागद्वेषादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, औदारिकादि नोकर्म तथा शरीरसम्बन्धी स्त्री, पुत्र, धन, धान्य, ग्रह, क्षेत्र, वस्त्र, वर्तन आदि चेतन अचेतन पदार्थ हैं, सो सब पर हैं, इन्हें ग्रहण करना व इनसे ममत्वभाव रखना सो परिग्रह है। इस परिग्रह का आवश्यकता के अनुसार परिमाण करना सो परिग्रहपरिमाण व इच्छापरिमाण अणुव्रत है ॥

जीव अनादिकाल से मिथ्यात्व कर्म के उदयवश अपनी आत्माको और इन कर्म-नोकर्म, स्त्री-पुत्रादि परिग्रहों को एक

स्वरूप ही श्रद्धान कररहा है। यद्यपि प्रत्यक्ष देखता है कि मरनेपर स्त्री-पुत्र-धन-धान्यादि साथ नहीं जाते, यहांतक कि आत्मा से एक क्षेत्रावगाहरूप रहनेवाला यह नाशवान् शरीर भी यहीं पड़ा रहजाता है, भाव-कर्म, द्रव्य-कर्म भी आत्मा से भिन्न हैं, जबतक आत्मा भूलवश इनका कर्त्ता बनता है, तबतक चतुर्गति में भ्रमण करताहुआ नानाप्रकार दुःख भोगता है, यथार्थ में ये सब परपदार्थ इस आत्मा को स्वरूप से च्युत करनेवाले हैं। इसीलिये परोपकारी आचार्यों ने भलीभांति समझा २ कर उपदेश दिया है कि "हे भव्यजीवो! तुम जिस परिग्रह को अपना २ कहते हो और जिसके लिये तुम धर्म-अधर्म करते कुछ भी नहीं डरते, वह रंचमात्र भी तुम्हारे साथ जानेवाला नहीं है"। श्रीगुरु के ऐसे सदुपदेश को सुनकर जिन जीवों का अच्छा होनहार है, वे भलीभांति परीक्षापूर्वक उपर्युक्त बातोंपर दृढ़ विश्वास (श्रद्धान) करलेते हैं और चाहते हैं कि कब हम इन परवस्तुओं के मेल से रहित होकर निश्शल्य (सुखी) होवें। ऐसा विचार जो उत्तम पुरुष मुनिव्रत धरने को समर्थ हैं, वे इन परिग्रहों को तृणवत् तुच्छ जान तजकर महाव्रती होजाते हैं और जो पुरुष प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से कीचड़ (दलदल) में फँसे हुए गजराज के समान इस परिग्रहके सर्वथा त्यागने को असमर्थ हैं, वे गृहस्थाश्रम में रहकर अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी योग्यतानुसार क्षेत्र, मकान (वास्तु), चांदी, सोना, धन (पशु), धान्य (अनाज), दासी, दास, वस्त्र, बर्तन इन दशप्रकार के परिग्रहों का प्रमाण करलेते हैं। प्रगट रहे कि जितने अंशों ममत्वबुद्धि (अन्तरंग-परिग्रह) तथा धन धान्यादि बाह्य-परिग्रह घटता है उतनी ही अधिक उपयोगकी स्थिरता आत्मस्वरूप में होती है, जो पारमार्थिक रसास्वादका कारण है ॥

जो परिमाण वर्तमान परिग्रह को घटाकर कियाजाय, सो उत्तम है। जो वर्तमान परिग्रह के बराबर ही परिमाण कियाजाय सो मध्यम है तथा जो वर्तमान परिग्रह से अधिक परिमाण कियाजाय, सो जघन्य परिग्रहपरिमाण व्रत है। यद्यपि यह जघन्य भेद प्रशंसनीय नहीं है तथापि हद्द (सीमा) होजाने से यह भी अधिक तृष्णा में पड़ने से बचाता है। तृष्णा पंचपाप की उत्पादक, आकुलता-व्याकुलता की जड़ महा दुःखदाई है। अतएव तृष्णा घटाने और निश्शल्य होने के लिये परिग्रह प्रमाण करने से बढ़कर और कोई दूसरा उपाय नहीं है। क्योंकि नीतिकारोंका वाक्य है:—

दोहा—गोधन, गजधन, वाजिधन, और रतन धन खान ॥
जब आवत सन्तोष धन, सब धन धूलि समान ॥१॥
चाह घटी चिन्ता गई, मनुआँ बे-परवाह ॥
जिनको कछू न चाहिये, ते शाहनपति शाह ॥ २ ॥

यद्यपि अंतरंग मूर्छा घटाने के लिये बाह्यपरिग्रह घटाया जाता है तथापि बाह्यपरिग्रह घटाने पर भी जो मूर्छा न घटाई जाय तो प्रमत्तयोग के सद्भाव से यथार्थपरिग्रहपरिमाण व्रत नहीं होसक्ता ॥

यहां कोई प्रश्न करे कि अर्हन्त परमेष्ठी के समवसरण छत्र, चामरादि बहुतसी अलौकिक विभूति पाइये है, फिर उन्हें अपरिग्रही, वीतरागी कैसे माना जाय? तिसका समाधान-तीर्थंकर भगवान् गृहस्थपना छोड़, सम्पूर्ण परिग्रह त्याग, वीतरागी हो, आत्मस्वरूप साध, परमात्मा अर्हन्त हुए, तब उन की पूर्वसंचित तीर्थंकर पुण्य-प्रकृति के उदयवश यद्यपि इन्द्रादिक देवों ने समवसरण की रचना किई, अनेक छत्र, चामरादि मंगल-द्रव्यों की योजना किई, तथापि मोह के सर्वथा अभाव से उनके

उस विभूति से कुछ भी ममत्वबुद्धि (मूर्छा) नहीं है । पुनः उनकी वीतरागता का प्रत्यक्ष नमूना यह है कि वे समवसरण-स्थित सिंहासन से अंतरीक्ष (चार अंगुल अधर) विराजमान रहते हैं । इसप्रकार अंतरंग मूर्छा और बाह्य परिग्रहरहित होने से वे पूर्ण वीतरागी हैं ॥

परिग्रहपरिमाण अणुव्रत के पंचातीचार ॥

तत्त्वार्थसूत्र जी में कहा है कि क्षेत्र-वास्तु आदि पांच युग्म अर्थात् दश प्रकार के परिग्रहों का परिमाण बढ़ा लेना, अथवा कोई का परिमाण घटा लेना, कोई का प्रमाण बढ़ा लेना ॥

रत्नकरंड श्रावकाचार में इस प्रकार भी कहे हैं ॥ (१) प्रयोजन से अधिक सवारी रखना. (२) आवश्यकीय वस्तुओं का अतिसंग्रह करना. (३) दूसरों का विभव देख आश्चर्य अथवा इच्छा करना. (४) अतिलोभ करना. (५) मर्यादा से अधिक बोझ लादना ॥

इन पंचातीचारों से परिग्रह-परिमाण व्रत सदोष होता है इसलिये व्रत निर्दोष पालने के निमित्त इन अतीचारों को टालना चाहिये ॥

परिग्रहप्रमाण अणुव्रत की पंच भावना ॥

बहुत पापबंध के कारण अन्याय-अभक्ष्य रूप पांचों इन्द्रियों के विषयों का यावज्जीव त्याग करना । कर्मयोग से मिलेहुए मनोज्ञ विषयों में अति राग व आसक्तता नहीं करना तथा अमनोज्ञ विषयों में द्वेष-घृणा नहीं करना ॥

इन भावनाओं के सदा स्मरण रखने से परिग्रहपरिमाण व्रत में दोष लगने रूप प्रमाद उत्पन्न नहीं होने पाता तथा व्रत में दृढ़ता रहती है ॥

पंचाणुव्रत धारण करनेसे लाभ ॥

सम्यक्ती गृहस्थ हिंसादि पंच-पापों को मोक्षमार्ग के साधनों का विरोधी एवं विघ्नकर्ता जानता है, परंतु गृहस्थाश्रम के फँसाव के कारण विवश हो इन को सर्वथा त्याग नहीं सक्ता, केवल एकोदेश त्याग करसक्ता है॥ इस त्याग से इसे लौकिक, पारलौकिक दोनों प्रकार के लाभ होते हैं॥ यथाः–

लौकिक लाभ ये हैं:—सर्वजन ऐसे पुरुषको धर्मात्मा-प्रामाणिक समझते, इसलिये उसकी इज्जत करते, सर्वप्रकार सेवा सहायता करते और आज्ञा मानते हैं उसका लोक में यश होता है। न्यायप्रवृत्ति के कारण उसका धंधा अच्छा चलता है, जिस से धन सम्पदादि सुखोंकी प्राप्ति होती है। जितने कुछ राज्यसम्बन्धी, जातिसम्बधी दंड तथा लौकिक अपवाद हैं, वे सब इन स्थूल पंच पापों के लिये ही हैं, अतएव इनका त्यागी कदापि राज-पंचों द्वारा दंडित तथा लोकनिंद्य नहीं होसक्ता, ऐसेही पंच पाप के त्यागी (सच्चे ब्राह्मण) शास्त्रोंमें अदंड कहेगये हैं। यदि इन पापों के त्यागका प्रचार लोकमें सर्वत्र होजाय, तो पुलिस, न्यायालय एवं सेनाकी आवश्यक्ता ही न रहे, राजा और प्रजा दोनों आर्थिक, शारीरिक तथा मानसिक कष्टों से बचे रहें। शास्त्रों से विदित होता है कि पूर्वकाल में आर्य-नृपतियों की सभाओं में मुकद्दमों के फैसले होने की जगह पंच-पाप निषेध के उपदेश दिये जाते थे, उस समय के प्रजारक्षक, राज-हितैषी सर्व शुभेच्छु ऋषि, मुनि, त्यागी, ब्रह्मचारी, गृहस्थाचार्य एवं राजनीतिज्ञ पुरुष सर्व साधारण को इन दोषों से बचने का उपदेश देकर राजा-प्रजा का हित करते थे। जहां तहां हरएक मत के देवालयों, मठों, धर्मशालाओं आदि में भी इन दोषों से बचने का उपदेश दिया जाता था, जिसकी थोड़ी बहुत प्रथा अब भी

अपभ्रंशरूप में जीती-जागती दिखाई देती है । इसीकारण उस समय इन पंचपापों की प्रवृत्ति बहुत कम होती थी। उस समय झगड़ों का निपटेरा करने के लिये न्यायालयों (अदालतों) की आवश्यक्ता ही नहीं पड़ती थी, जातीय-पंचायतें स्वयं फ़ैसला करलेती थीं "राजा राज, प्रजा चैन करती थी" ॥

पारलौकिक लाभ ये हैं:—पंच पापों के स्थूल त्याग से बहुत सी प्रमाद-कषायजनित आकुलता-व्याकुलतायें घट जाती हैं, पापबंधहीन होता और शुभ कार्यों में विशेष प्रवृत्ति होकर सातिशय पुण्यबंध होता है जिससे आगामि स्वर्गादि सुखों की और परंपराय शीघ्र ही मोक्षसुख की प्राप्ति होती है ॥

सप्तशीलों का वर्णन ॥

पहिले कह ही आये हैं कि सप्तशीलों में तीन गुणव्रत तो अणुव्रतों को दृढ़ करते, उनकी रक्षा करते और चार शिक्षा-व्रत, मुनिव्रत की शिक्षा देते अर्थात् इन अणुव्रतों को महाव्रतों की सीमातक पहुंचाते, उन से सम्बन्ध कराते हैं ॥

सूत्रकारोंने दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदंडव्रत इन तीनों को गुणव्रतों में तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग इन चारों को शिक्षाव्रतों में कहा है। परन्तु श्रावकाचार ग्रंथोंमें बहुधा भोगोपभोगपरिमाणको गुणव्रतों में और देशव्रत (देशावकाशिक) को शिक्षाव्रतों में कहा है। सो इस में आचार्यों की केवल कथनशैलीका भेद है, अभिप्रायभेद नहीं, क्योंकि दिग्व्रत, अनर्थदंडव्रत और भोगोपभोगपरिमाण तो आरंभिक पंच पापों की हद बांधते और देशविरति तथा अतिथिसंविभाग उस हद को घटाते (क्षीण करते) हैं, पुनः सामायिक-प्रोषधोपवास कुछ काल तक उन स्थूल पापों से

सर्वथा रक्षा करते हैं॥ चारित्रपाहुड़ की टीका में कहा है कि किसी २ आचार्य ने दिग्व्रत, अनर्थदंड, भोगोपभोग-परिमाण ये तीन गुणव्रत। सामायिक, प्रोपधोपवास, अतिथिसंविभाग और समाधिमरण ये चार शिक्षाव्रत कहे हैं। सो ऐसा जान पड़ता है कि वहां दिग्व्रत में देशविरत को गर्भित किया है अथवा भोगोपभोगपरिमाण के नियमों में नित्य प्रमाण होने से देशविरत (देशावकाशिक) इस में भी गर्भित होसक्ता है॥ वसुनन्दिश्रावकाचार में सामायिक, प्रोपधोपवास को व्रतों में न कहकर अलग २ तीसरी, चौथी प्रतिमा में ही कहा है और भोगप्रमाण, उपभोगप्रमाण, अतिथिसंविभाग, सल्लेखना, ये चार शिक्षाव्रत कहे हैं॥ यहां पर श्रीरत्नकरंडश्रावकाचार की पद्धति के अनुसार इनका वर्णन किया जाता है॥

तीन गुणव्रत—१ दिग्व्रत॥

पाप (सावद्य योग) की निवृत्ति के हेतु चार दिशा-पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर। ४ विदिशा-आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशान। १ ऊपर। १ नीचे। इस प्रकार दशों दिशाओं का प्रमाण वन, पर्वत, नगर, नदी, देश आदि चिन्हों द्वारा करके उस के बाहिर सांसारिक विषय-कषाय सम्बन्धी कार्योंके लिये न जाने की यावज्जीव प्रतिज्ञा करना, सो दिग्व्रत कहाता है॥

सूचना—प्रमाण अपनी योग्यता विचारकर करना चाहिये, इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि निरर्थक ही आवश्यकता से अधिक क्षेत्र का प्रमाण न करलिया जाय। सिवाय इस के दिग्व्रती को यह भी उचित है कि जिस क्षेत्र (देश) में जाने से श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र दूषित या भंग होता हो, उस क्षेत्र में भी जाने का त्याग करे।

दिग्व्रतके पंचातीचार ॥

(१) प्रमादवश मर्यादा से अधिक ऊंचा चढ़ जाना ॥

(२) प्रमादवश मर्यादा से अधिक नीचे उतर जाना ॥

(३) प्रमादवश समान भूमिमें दिशा-विदिशाओंकी मर्यादा के बाहिर चले जाना ॥

(४) प्रमादवश क्षेत्रकी मर्यादा बढ़ा लेना ॥

(५) प्रमादवश किई हुई मर्यादा को भूल जाना ॥

लाभ—दिग्व्रत धारण से अणुव्रती को यह बड़ाभारी लाभ होता है कि अपने आने-जाने आदि बर्ताव के क्षेत्र का जितना प्रमाण किया है, उससे बाहिर क्षेत्रकी तृष्णा घटजाती है, मन में उस क्षेत्रसम्बन्धी किसी प्रकार के विकल्प भी उत्पन्न नहीं होते तथा तिस त्यागे हुए क्षेत्र सम्बन्धी सर्वप्रकार त्रस-थावर हिंसाके आस्रव का अभाव होने से वह पुरुष उस क्षेत्र में महाव्रती के समान होजाता है। नोट-यहां महाव्रती उपचार से जानना। इसके प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय है, इसलिये यथार्थ में अणुव्रती ही है॥

---

२ अनर्थदंड-त्याग व्रत ॥

दिशा-विदिशाओंकी मर्यादा पूर्वक जितने क्षेत्र का प्रमाण किया हो, उस में भी प्रयोजन-रहित पाप के कारणों से अथवा प्रयोजन-सहित महापाप (जिन से धर्मकी हानि होती हो या जो धर्मविरुद्ध-लोकविरुद्ध-जातिविरुद्ध हों) के कारणों से विरक्त होना सो अनर्थदंड-त्याग व्रत कहाता है अथवा जिन कार्यों के करने से अपना प्रयोजन कुछ भी न सधता हो या अल्प-सधता हो और जिनका दंड महान् हो अर्थात् नरकादि गतियों में दीर्घदुःख भुगतना पड़े। इस प्रकार की अनर्थदंडरूप

क्रियाओं का त्याग करना, सो अनर्थदंडव्रत कहाता है॥ इसके पांच भेद हैं॥

(१) पापोपदेश—पाप में प्रवृत्ति करानेवाला तथा जीवों को क्लेश पहुंचानेवाला उपदेश देना या वाणिज्य, हिंसा, ठगाई आदिकी कथा (कहानी) कहना, जिससे दूसरोंकी पाप में प्रवृत्ति होजाय॥ जैसे. किसी से कहना कि धान्य खरीद लो। घोड़ा, गाड़ी, भैंस, ऊंटादि रखलो। बाग लगाओ, खेती कराओ, नाव चलाओ, अग्नि लगादो आदि॥

(२) हिंसादान—हिंसा के उपकरण कुल्हाड़ी, तलवार, खंता, अग्नि, हथियार, सांकल आदि दूसरों को मांगे देना* भाड़े देना या दान में देना तथा इनका व्यापार करना॥

(३) अपध्यान—रागद्वेष से दूसरों के वध, बंधन, हानि, नाश होने या करने सम्बन्धी खोटे विचार करना, परस्पर वैर याद करना आदि॥

(४) दुःश्रुति-श्रवण—चित्त में रागद्वेष के बढ़ानेवाले, क्लेश उत्पन्न करानेवाले, काम जागृत करानेवाले, मिथ्याभाव बढ़ानेवाले, आरंभ परिग्रह बढ़ानेवाले, पापमें प्रवृत्ति करानेवाले तथा क्रोधादि कषाय उत्पादक शास्त्रों, पुस्तकों, पत्रादिकों का पठन-पाठन करना, सुनना अथवा इसी प्रकार के किस्से, कहानी कहना॥

(५) प्रमादचर्या—विना प्रयोजन फिरना, दूसरोंको फिराना। पृथ्वी-पानी-अग्नि-वनस्पति आदिका निष्प्रयोजन छेदना, भेदना, घात करना आदि॥

---

* सागारधर्मामृतकी टीकामें "जिनसे व्यवहार हो उनके सिवाय किसीको न देना" ऐसा भी कहा है॥

अनर्थ दंड त्याग व्रतके पंच अतीचार ॥

(१) नीच पुरुषों सरीखे भंडवचन बोलना, कामके व हंसी-मसखरी के वचन कहना ॥

(२) कायकी भंडरूप खोटी चेष्टा करना, हाथ-पांव मटकाना, मुंह चिढ़ाना आदि ॥

(३) व्यर्थ बकवाद करना या छोटीसी बात बहुत आडम्बर बढ़ाकर कहना ॥

(४) बिना विचारे, मन-वचन-काय की प्रवृत्ति करना ॥

(५) अनावश्यक भोगोपभोग सामग्री एकत्र करना या उसका व्यर्थ व्यवहार करना ॥

अनर्थदंड-विरति में दोष लगानेवाले इन पंच अतीचारों को तजना चाहिये, जिससे व्रत दूषित होकर नष्ट न होने पावे ॥

लाभ—अनर्थदंड-त्याग करने से प्रयोजन रहित अथवा अल्प प्रयोजन सहित होनेवाले पापों से बचाव होता है ॥

भोगोपभोग-परिमाण व्रत ॥

रागादि भावोंको मंद करने के लिये परिग्रह-परिमाण व्रत की मर्यादा में भी काल के प्रमाण से भोग-उपभोगका परिमाण करना, अधिक सेवनकी इच्छा न करना, सो भोगोपभोग-परिमाण व्रत कहाता है ॥

जो वस्तु एकबार भोगने बाद, फिर दुबारा भोगने योग्य न हो, उसे भोग कहते हैं । जैसे-भोजन, पान, सुगंध, पुष्पादि ॥

जो वस्तु बार २ भोगने योग्य हो, उसे उपभोग कहते हैं। जैसे-स्त्री, आसन, शय्या, वस्त्र, वाहन, मकानादि ॥

भोगोपभोग का प्रमाण यम-नियम रूप दो प्रकार से होता

है। यावज्जीव त्याग यम और दिन, रात्रि, मास, ऋतु, वर्ष आदि काल की मर्यादा रूप त्याग नियम कहलाता है॥

भोगोपभोगपरिमाण व्रत धारण करने में नीचे लिखी बातों-पर ध्यान देना चाहिये॥

(१) जिन वस्तुओं के भक्षण करने में त्रसजीवों की हिंसा की शंका हो या जिनके आश्रय त्रसजीव रहते हों, उनका भक्षण तजे। जैसे. बेर, नीम-केवड़ा-केतकी-गुलाबादिके पुष्प तथा ऋतु बदलने पर या बादलोंके होने पर पत्तीदार भाजी न खावे॥

(२) ऐसे भोगोपभोग तजे, जिनमें एकेन्द्रिय आदि जीवोंकी हिंसा अधिक और जिह्वाकी लंपटता अल्प हो। जैसे. कन्दमूलादि सप्रतिष्ठित वनस्पतियों का भक्षण तजे॥

यहां प्रकरणानुसार वनस्पति विषयक संक्षिप्त विवरण कहा जाता है॥

वनस्पति के सामान्य रीति से दो भेद हैं। साधारण और प्रत्येक। (१) जिस एक वनस्पति-शरीर के अनंत जीव स्वामी हों, वह साधारण वनस्पति कहाती है॥ (२) जिस एक वनस्पति-शरीर का एकही जीव स्वामी हो, वह प्रत्येक वनस्पति कहाती है॥ इस प्रत्येक के दो भेद हैं॥

(१) अप्रतिष्ठित प्रत्येक—जिस वनस्पति शरीरका एक स्वामी हो तथा जिसके आश्रय कोई भी निगोद शरीर न हो। इसकी पहिचान—जिसमें रेखा-गांठे-संधियें प्रत्यक्ष दिखती हों, जिसमें तंतु हों और जो तोड़ने पर समभंग न टूटे, टेढ़ी-बांकी टूटे॥

(२) सप्रतिष्ठित प्रत्येक—जिस वनस्पति शरीर का स्वामी एक जीव हो तथा अनंत साधारण निगोद-जीव जिसके

आश्रय रहते हों ॥ इसकी पहिचान–जिन में रेखायें, गांठें प्रगट न हुई हों और तोड़ने पर तन्तु न लगे रहें, जो समभंग टूटें ॥

प्रगट रहे कि फल पुष्प, वृक्ष आदि उत्पत्ति समय अंतर्मुहूर्त तक निगोद रहित अप्रतिष्ठित ही रहते हैं । पीछे, उनमें निगोद जीव उत्पन्न होने लगते हैं । जबतक उन में धर-तंतु-शिरा-संधि स्पष्ट न हों या वे तोड़ने से बराबर टूटें, तबतक सप्रतिष्ठित रहते हैं, जब ये लक्षण प्रगट होजाँय, तब उनमें के निगोद जीव चय जाने से वेही अप्रतिष्ठित प्रत्येक हो जाते हैं ॥

इस प्रकार साधारण सहित प्रत्येक अर्थात् सप्रतिष्ठित प्रत्येक के* भक्षण में जीवहिंसा बहुत होती है, तहां कन्द-मूलादि वनस्पति तो प्रायः साधारण निगोद सहित सप्रतिष्ठित ही सदा रहती है। काकड़ी, तरोई, नारंगी, नीबू आदि फलों, तरकारियों या पुष्पों में शिरा-तंतु आदि निकलने पर वे अप्रतिष्ठित प्रत्येक हो जाते हैं+ ॥ हां यह बात दूसरी है कि इनमें किसी के आश्रय त्रस जीव रहते हों ॥

बहुत से साधारण जैनी-गृहस्थ, आखड़ी रूप से अथवा भोगोपभोग-प्रमाण व्रत धारक धार्मिक व्रती गृहस्थ, आरंभ, हिंसा, इन्द्रियों के दर्प तथा मनके संकल्प- विकल्पों के घटाने एवं जिह्वा इन्द्रीका विषय घटाने के लिये अठाई, दशलक्षण, रत्नत्रय, सोलहकारण, अष्टमी, चतुर्दशी आदि पवित्र दिनों (पर्वों) में हरी वनस्पतियां भक्षण करना छोड़ देते हैं। यदि कर्मयोगसे सूखी तरकारी की प्राप्ति होजाय, तो खाते हैं । उनको कोई २ भाई यह कहकर भ्रममें डालते हैं कि जब पंचमी प्रतिमावाला भी हरी को सिझाकर (अचित करके) खा सक्ता है, तो तुम हरी खाना क्यों त्या-

---

* इस सप्रतिष्ठितप्रत्येकको अनंत साधारण-निगोद जीवोंयुक्त होने से साधारण भी कहते हैं। + एक वृक्षमें वृक्षभर का स्वामी एक जीव तथा फूल, पत्ते, फलादि के स्वामी अलग २ जीव भी होते हैं ।

गते हो? सिझाकर तुम भी क्यों नहीं खाते? सो ऐसे भाइयों को विचारना चाहिये कि त्याग करनेवालों ने सचित्त-अचित्त के भांगे से (पांचवीं प्रतिमावालों की तरह) त्याग नहीं किया, हरी के भांगे से त्याग किया है, इसलिये वे हरी को सिझाकर या लवणादि मिलाकर नहीं खासक्ते ॥

(३) प्रकृति विरुद्ध भोगोपभोग तजे, अर्थात् जिन पदार्थोंके भक्षण या उपभोग करने से अपने को रोग तथा क्लेश होता हो, उनका सेवन छोड़े ॥

(४) अनुपसेव्य अर्थात् उत्तम जाति-कुल-धर्म के विरुद्ध भोगोपभोग छोड़े। जैसे. शूद्रका छुआहुआ तथा अशुद्ध स्थान में रक्खाहुआ भोजन। चौके बाहिर की रोटी, दालादि रसोई। कुत्ता-कौआ आदि क्रूर, हिंसक पक्षियोंका स्पर्शा या झूठा किया-हुआ भोजन। मनुष्यों की झूठन आदि। म्लेच्छों सरीखा पहिनाव उढ़ाव, रहन-सहन आदि ॥

(५) बुद्धिको विकाररूप एवं विपर्यय करनेवाली प्रमाद-जनक भांग-तमाखू-गांजा आदि नशीली वस्तुओं का भक्षण तजे ॥

(६) धर्म (चारित्र) को हानि पहुंचानेवाली विदेशी अ-ज्ञात और अपवित्र औषधि आदि पदार्थोंका भक्षण तजे ॥ इसी प्रकार अधिक हिंसा के धंधे जिनमें निर्दयता अधिक और लाभ थोड़ा हो, करना तजे ॥ अयोग्य भोगोपभोगोंको सर्वथा तजे तथा योग्य भोगोपभोगोंका प्रमाण करे। इसके लिये आचार्योंने ग्रंथों में नित्य १७ नियम करने का उपदेश दिया है ॥

श्लोक ॥

भोजने षट्रसे पाने कुङ्कुमादिविलेपने ॥
पुष्पताम्बूलगीतेषु, नृत्यादौ ब्रह्मचर्यके ॥ १ ॥

स्नानभूषणवस्त्रादौ वाहने शयनासने ॥
सचित्तवस्तुसंख्यादौ प्रमाणं भज प्रत्यहं ॥

अर्थ ॥

(१) आज इतने वार भोजन करूंगा (२) छह रसों [दूध, दही, घी, शक्कर-गुड़ आदि मीठा, लौन (नमक) तेल] में से इतने रस खाऊंगा (३) शर्बत या जलपान इतने वार करूंगा (४) चंदन केशर आदि का तिलक, तेल या कुङ्कुमादि का विलेपन इतनेवार करूंगा (५) पुष्प इतने प्रकार के और इतनी वार सूंघूंगा (६) पान-सुपारी-इलायची आदि स्वाद्य पदार्थ इतने वार खाऊंगा (७) गीत सुनूंगा या नहीं (८) नृत्य देखूंगा या नहीं (९) आज ब्रह्मचर्य से रहूंगा या नहीं (१०) आज इतने वार स्नान करूंगा (११) आभूषण (जेवरात) इतने और अमुक २ पहिनूंगा (१२) वस्त्र इतने और अमुक २ पहिनूंगा (१३) गाड़ी-घोड़ा-तांगा, रेल, मोटर-बाइसकिल आदि अमुक २ सवारी करूंगा (१४) बिस्तर-पलंग आदि इतने और अमुक २ पर शयन करूंगा (१५) बेंच, कुरसी, आराम कुरसी, तखत, गादी आदि अमुक २ और इतने आसनों पर बैठूंगा (१६) सचित्त (हरी तरकारी) आज इतनी खाऊंगा (१७) अन्यान्य वस्तुएँ इतनी रक्खूंगा* ॥

इस प्रकार १७ नियम नित्य प्रातःकाल सामायिक किये पीछे ले-और पहिले दिन लियेहुओं को संभाले, यदि किसी में दोष लगाहो, तो उसका शोधन करे, प्रायश्चित्त ले ॥

---

* किसी किसी ग्रन्थमें सत्रहवाँ नियम यह लिखा है कि 'दशों दिशाओंमें इतनी इतनी दूरतक गमन करूँगा ।'

भोगोपभोग-परिमाण व्रतके पंच अतीचार॥

(रत्नकरंड-श्रावकाचार अनुसार)

(१) विषय-भोगों में प्रीति करना, हर्ष मानना॥

(२) पूर्वकाल में भोगे हुए भोगों का स्मरण करना॥

(३) वर्तमान भोग भोगने में अति लम्पटता रखना॥

(४) भविष्य में भोग प्राप्ति की अति तृष्णा करना॥

(५) विषय न भोगने पर भी, विषय भोगने सरीखा अनुभव करना॥

(तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार)

(१) भूल से त्यागी हुई सचित्त *वस्तु भक्षण कर लेना॥

(२) सचित्त से सम्बन्धरूप अर्थात् सचित्त पर रक्खा हुआ या सचित्त से ढँका हुआ भोजन करना॥

(३) सचित्तमिश्रित भोजन करना॥

(४) जो दुःपक्क अर्थात् दुखसे पचे वा अधपका हो अथवा अधिक पककर वेस्वाद या कुरूप होगया हो, ऐसा भोजन करना॥

(५) पुष्टिकारक भोजन करना॥

इन उपर्युक्त अतीचारोंके लगनेसे भोगोपभोग परिमाण व्रत मलीन होकर क्रमशः नष्ट होजाता है इसलिये ये अतीचार बचाना चाहिये॥

लाभ—भोगोपभोगोंके यम-नियम रूप परिमाण करने से विषयोंकी अधिक लम्पटता तथा वांछा घटजाती है, जिससे चित्तकी चंचलता कम पड़ती और स्थिरता बढ़ने से धर्मध्यान में चित्त अच्छीतरह लगता है॥

---

* ज्ञात होता है कि भोगोपभोगपरिमाण व्रत का धारक, सचित्त त्याग के अभ्यास के लिये सचित्त वस्तुओं के भक्षण का भी प्रमाण या नियमरूप त्याग करता है, इसी कारणसे यहां इस प्रकार अतीचार कहे हैं। सचित्तका सर्वथा त्याग होनेसे इन अतीचारोंका अभाव पंचमी-प्रतिमा में होता है॥

चार शिक्षाव्रत । १ देशावकाशिक व्रत ॥

दिग्व्रत द्वारा यावज्जीव प्रमाण किये हुए क्षेत्रको काल के विभाग से घटा २ कर त्याग करना, सो देशव्रत कहाता है ॥

जितने क्षेत्रका यावज्जीव के लिये प्रमाण किया है, उतने में नित्य गमनागमन का काम तो पड़ता ही नहीं, अतएव जितने क्षेत्र में व्यवहार करने से अपना आवश्यकीय कार्य सधे, उतने क्षेत्रका प्रमाण दिन, दो दिन, सप्ताह, पक्ष, मास के लिये स्पष्ट रूप से करले, शेषका त्याग करे, जिससे बाहिर के क्षेत्र में इच्छा का निरोध होकर द्रव्य-भाव हिंसा से रक्षा हो ॥

देशव्रत के पंचातीचार ॥

(१) मर्यादा के क्षेत्र से बाहिर किसी मनुष्य या पदार्थ को भेजना ॥

(२) मर्यादा से बाहिर के पुरुष को शब्द द्वारा सूचना देना ॥

(३) मर्यादा से बाहिर का माल मँगाना ॥

(४) मर्यादा से बाहिर के पुरुष को अपना रूप दिखाकर या इशारे से सूचना देना ॥

(५) मर्यादा से बाहिर के पुरुष को कंकर, पत्थर आदि फेंककर चेतावनी कराना ॥

लाभ—दिग्व्रत के प्रमाण में से जितना क्षेत्र देशव्रत में घटाया जाता है उतने क्षेत्र सम्बन्धी गमनागमन का संकल्प विकल्प तथा आरंभ सम्बन्धी हिंसादि पापोंका अभाव हो-जाता है, जिससे देशव्रतीको त्यागे हुए क्षेत्र में उपचार-महाव्र-तीके समान प्रवृत्ति रहती है ॥

---

२ सामायिक शिक्षाव्रत॥

मन-वचन-काय, कृत-कारित अनुमोदना से, मर्यादा तथा मर्यादा से बाहिर के क्षेत्र में नियत समय तक हिंसादि पंच पापोंका सर्वथा त्याग करना, रागद्वेप रहित होना, सर्व जीवों में समता भाव रखना, संयम में शुभ भावना करना, आर्तरौद्र भावका त्याग करना सो सामायिक शिक्षाव्रत कहाता है॥

सामायिक की निरुक्ति एवं भाव इस प्रकार है कि 'सम' कहिये एकरूप होकर 'आयः' कहिये आगमन, अर्थात् परद्रव्यों से निवृत्त होकर आत्मा में उपयोगकी प्रवृत्ति होना। अथवा 'सम' कहिये रागद्वेप रहित 'आयः' कहिये उपयोगकी प्रवृत्ति सो सामायिक है। भावार्थः-साम्यभाव का होना सो ही सामायिक है। यह नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के भेद से छह प्रकार है। यथाः-इष्ट, अनिष्ट नामों में रागद्वेप न करना। मनोहर, अमनोहर स्त्री-पुरुषादिकी काष्ट, पाषाणादिकी स्थापना में रागद्वेप न करना। मनोज्ञ, अमनोज्ञ नगर, ग्राम, वन आदि क्षेत्रों में रागद्वेप न करना॥ वसंत-ग्रीष्म ऋतु, शुक्ल-कृष्ण-पक्ष आदि कालों में रागद्वेप न करना। जीवों के शुभाशुभ भावों में रागद्वेप न करना॥ इसप्रकार साम्यभावरूप सामायिक के साधन के लिये बाह्य में हिंसादि पंच पापों का त्याग करना और अंतरंग में इष्ट-अनिष्ट वस्तुओं से रागद्वेप त्याग की भावना करना अवश्य है, क्योंकि इन विरोधी कारणों के दूर करने और अनुकूल कारणों के मिलाने से ही साम्यभाव होता है। इस साम्यभाव के होनेपर ही आत्मस्वरूप में चित्त मग्न होता है, जो सामायिक धारण करने का अंतिम साध्य है॥

जब सामायिक १ योग्य द्रव्य (पात्र) २ योग्य क्षेत्र ३ योग्य काल ४ योग्य आसन ५ योग्य विनय ६ मनःशुद्धि ७ वचन-

शुद्धि ८ कायशुद्धि पूर्वक कीजाती है तभी परिणाम में शान्ति-सुख का अनुभव होता है । यदि इन बाह्य-कारणोंकी योग्यता अयोग्यता पर विचार न किया जाय तो सामायिक का यथार्थ फल प्राप्त नहीं होसक्ता, अतएव इनका विशेष स्वरूप वर्णन किया जाता है ॥

(१) योग्य द्रव्य (पात्र)—सामायिक के पूर्ण अधिकारी निर्ग्रंथ मुनिराज ही हैं, उन्हीं के सामायिक संयम होता है, क्योंकि उन्होंने पंचेन्द्रिय तथा मनको वशकर अंतरंग कषायों को निर्बल करडाला है, बाह्य-परिग्रहों को तज, षट्कायकी हिंसा को सर्वथा त्याग करदिया है, जिससे उनके सदाकाल समभाव रहता है ॥ श्रावक (गृहस्थ या गृहत्यागी*) केवल नियत काल तक सामायिक की भावना भावनेवाला सामायिक व्रती या नियत काल तक समताभाव धरनेवाला सामायिक प्रतिमाधारी हो सक्ता है ॥ जिस सामायिक द्वारा मुनि शुद्धोपयोगको प्राप्त होकर, संवरपूर्वक कर्मों की निर्जरा करते और समस्त कर्मोंका क्षय कर मोक्षको प्राप्त होते हैं, उसी सामायिक के प्रारंभिक अभ्यासी श्रावक, शुभोपयोगद्वारा सातिशय पुण्य बंध करके अभ्युदययुक्त स्वर्गसुख भोग, परंपराय मोक्ष के पात्र होसक्ते हैं ॥

(२) योग्य क्षेत्र—जहां कलकलाट शब्द न हो, लोगोंका संघट्ट (भीड़भाड़) न हो । स्त्री, पुरुष, नपुंसक का आना, जाना, ठहरना न हो । गीत-गान आदि की निकटता न हो । डांस, माछर, कीड़ी आदि बाधाकारक जीव-जन्तु न हों । अधिक शीत-उष्ण-वर्षा, पवनादि चित्तको क्षोभ उपजाने वाले तथा

*सागरधर्मामृत तथा धर्मसंग्रहश्रावकाचारमें व्रत-प्रतिमासे ही गृहस्थ और गृहत्यागी दो भेद कहे गये हैं । अर्थात् कोई २ श्रावक ऐसे भी होते हैं कि जो व्रत प्रतिमा धार, गृह छोड़, विचरते हुए, धर्मसाधनमें तत्पर रहते हैं, वे व्रतप्रतिमाधारी गृहत्यागी कहाते हैं ॥

ध्यानसे डिगानेवाले कारण न हों, ऐसे उपद्रव रहित वन-घर-धर्मशाला-मन्दिर या चित्त-शुद्धि के कारण अतिशय क्षेत्र, सिद्ध-क्षेत्र आदि एकान्तस्थान ही सामायिक करने योग्य हैं ॥

(३) योग्य काल—प्रभात, मध्याह्न, संध्या इन तीनों समय उत्कृष्ट ६ घड़ी, मध्यम ४ घड़ी और जघन्य २ घड़ी योग्यतानुसार सामायिक का काल है। इसके सिवाय अधिक काल तक या अतिरिक्त समय में सामायिक करने के लिये कोई निषेध नहीं है। सवेरे ३ घड़ी, २ घड़ी, १ घड़ी रातसे, ३ घड़ी २ घड़ी, १ घड़ी दिन चढ़े तक ॥ मध्याह्न को ३।२।१ घड़ी पहिलेसे ३।२।१ घड़ी पीछेतक ॥ संध्याको ३।२।१ घड़ी पहिले से ३।२।१ घड़ी रात्रि तक सामायिक करना योग्य है। इन समयों में परिणामोंकी विशुद्धता विशेष रहती है ॥

कई ग्रंथों में सामायिक का काल सामान्य रीति से ६ घड़ी कहागया है। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी संस्कृत टीका और दौलत क्रियाकोष में तीनों समय मिलाकर भी ६ घड़ी कहा है। श्रीधर्मसारजी में जघन्य २ घड़ी, मध्यम ४ घड़ी और उत्कृष्ट ६ घड़ी कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि सामायिक व्रत में जघन्य दो घड़ीसे लेकर उत्कृष्ट ६ घड़ी पर्यन्त योग्यतानुसार त्रिकाल सामायिक का काल है ॥

योग्य आसन—काष्ठके पटिये पर, शिलापर, भूमिपर या वालूरेत में पूर्व अथवा उत्तरकी ओर मुख करके पर्यंकासन (पद्मासन) बांधकर या खड़े होकर (खड्गासन) अथवा अर्ध-पद्मासन *या पालथी मारकर, इनमें से जिस आसन से शरी-

* अर्ध-पद्मासन श्रीज्ञानार्णवजी के धर्मध्यान अधिकार में कहा है; परंतु इसका स्वरूप नहीं कहा ॥ दक्षिण प्रान्त में बहुतसी प्रतिमायें ऐसे आसनयुक्त हैं कि जिनके दहिने पांवकी पगतली ऊपर और बांयें पांवकी पगतली नीचे है, लोग इसे अर्ध-पद्मासन कहते हैं ॥

रकी थिरता, परिणामोंकी उज्वलता नियत काल तक रहना संभव हो, उसी आसन से क्षेत्रका प्रमाण करके इन्द्रियों के व्यापार वा विषयों से विरक्त होते हुए, केश, वस्त्रादिको अच्छी तरह बांधकर (जिसमें उन के हिलने से चित्तमें क्षोभ न हो) हस्तांजली जोड़, स्थिर चित्त करके सामायिक, वन्दनादि पाठोंका, पंच-परमेष्ठीका अथवा अपने स्वरूप का चिंतवन करे और उसमें लीन हो ॥

योग्य विनय—सामायिक के आरंभ में पृथ्वीको कोमल वस्त्र या पूंजणी (अमाड़ी की कोमल बुहारी) से बुहार (प्रतिलेखन) कर ईर्यापथ-शुद्धि पूर्वक खड़ा होवे, क्षेत्र-काल का प्रमाण करे तथा ९ वार णमोकार मंत्र पढ़ हाथ जोड़ पृथ्वीपर मस्तक लगाकर नमस्कार करे । पश्चात् चारों दिशाओं में नव २ णमोकार मंत्र कहकर तीन २ आवर्त्ति (दोनों हाथकी अंजुली जोड़ दहिने हाथकी ओरसे तीन वार फिराना) और एक २ शिरोनति (दोनों हाथ जोड़ नमस्कार) करे, तिस पीछे खड़ेही या बैठकर योग्य आसनपूर्वक णमोकार मंत्रका जाप्य करे, पंच परमेष्ठी के स्वरूपका चिंतवन करे, सामायिक पाठ* पढ़े, अनित्यादि द्वादश-अनुप्रेक्षाओं का चिंतवन करे तथा आत्मस्वरूप के चिंतवनपूर्वक ध्यान लगावे और अपना धन्य भाग समझे ॥

सामायिकपाठ के ६ अंग हैं । (१) प्रतिक्रमण अर्थात् जिनेन्द्र देवके सन्मुख अपने द्वारा हुए पापों की क्षमा-प्रार्थना करना । (२) प्रत्याख्यान-आगामि पाप त्याग की भावना करना । (३) सामायिक कर्म-सामायिक के काल तक सब में ममताभाव त्याग, समताभाव धरना । (४) स्तुति-

* संस्कृत प्राकृत पाठ यदि अपनी समझ में न आता हो, तो भाषा पाठही समझ २ कर, मनन करता हुआ पढ़े, जिससे भावों में विशुद्धि उत्पन्न हो ॥

चौबीसों तीर्थंकरों का स्तवन करना। (५) वंदना—किसी एक तीर्थंकरका स्तवन करना। (६) कायोत्सर्ग—काय से ममत्व छोड़ आत्मस्वरूप में लवलीन होना॥

इसप्रकार समभाव पूर्वक चिंतवन करते हुए जब काल पूरा होजाय, तब आरंभ की तरह आवर्तं, शिरोनति तथा नमस्कार पूर्वक सामायिक पूर्ण करे॥

(६) मनःशुद्धि—मनको शुभ तथा शुद्ध विचारों की तरफ झुकावे, आर्त रौद्र ध्यान में दौड़ने से रोककर धर्मध्यान में लगावे। जहांतक संभव हो पंच परमेष्ठी का जाप्य वा अन्य कोई भी पाठ, वचन के बदले मन से स्मरण करावे, ऐसा करने से मन इधर उधर चलायमान नहीं होता॥

(७) वचनशुद्धि—हुंकारादि शब्द न करे, बहुत धीरे २ वा जल्दी २ पाठ न पढ़े, जिस प्रकार अच्छी तरह समझ में आवे, उसी प्रकार समानवृत्ति एवं मधुरस्वर से शुद्ध पाठ पढ़े, धर्म-पाठ सिवाय कोई और वचन न बोले॥

(८) कायशुद्धि—सामायिक करने के पेश्तर स्नान करने, अंग अँगौछने, हाथ-पांव धोने आदिसे जिस प्रकार योग्य हो, यत्नाचार पूर्वक शरीर पवित्र करके, पवित्र वस्त्र पहिन सामायिक में बैठे और सामायिक के समय शिरकंप, हस्तकंप अथवा शरीर के अन्य अंगों को न हिलावे-डुलावे, निश्चल अंग रक्खे। कदाचित् कर्मयोग से सामायिक के समय चेतन-अचेतन कृत उपसर्ग आजाय, तौभी मन-वचन-काय को चलायमान नहीं करता हुआ सहन करे॥

यहां कोई प्रश्न करे कि सामायिक के समय अचानक लघु-शंका-दीर्घशंका की तीव्र बाधा आजाय, तो क्या करना चाहिये? तिसका उत्तर यह है कि प्रथम तो व्रती पुरुषों का खा-

नपान नियमित होने से उनको इसप्रकार की अचानक बाधा होना संभव नहीं, कदाचित् कर्मयोग से ऐसा ही कोई कारण आजाय, तो उसका रोकना या सहना असंभव होने से उस काम से निपटकर, प्रायश्चित्त ले, पुनः सामायिक स्थापन करे॥

सामायिक के पंच अतीचार ॥

(१-२-३) मन, वचन, काय को अशुभ प्रवर्तोना* ॥

(४) सामायिक करने में अनादर करना ॥

(५) सामायिक का समय वा पाठ भूल जाना ॥

अतीचार लगने से सामायिक दूषित होती है, अतएव ऐसी सावधानी रखना चाहिये, जिस से अतीचार दोष न लगें ॥

लाभ—सामायिक के समय क्षेत्र तथा काल का परिमाण करके गृहव्यापार आदि सर्व-पाप योगों का त्याग कर देने से सामायिक करनेवाले गृहस्थके सर्व प्रकार पापास्रव रुककर सातिशय-पुण्यका बंध होता है। उस समय वह उपसर्ग में ओढ़े हुए कपड़ों युक्त मुनि के समान होता है। विशेष क्या कहा जाय, अभव्य भी द्रव्य-सामायिक के प्रभाव से नवम-ग्रैवेयिक पर्यंत जाकर अहमिन्द्र होसक्ता है ॥ सामायिक को भावपूर्वक धारण करने से शान्ति-सुख की प्राप्ति होती है, यह आत्म-तत्त्वकी प्राप्ति अर्थात् परमात्मा होने के लिये मूल कारण है, इसकी पूर्णता ही जीवको निष्कर्म-अवस्था प्राप्त कराती है ॥

---

* असावधानी से मनकी प्रवृत्ति-क्रोध, मान, माया, लोभ, द्रोह, ईर्षा, इन्द्रिय-विषय रूप होना। वचन की प्रवृत्ति अस्पष्ट-उच्चारण, बहुत ठहर २ कर वा अति शीघ्रता पूर्वक पाठ पढ़ना। कायकी प्रवृत्ति-हस्त-पादादि शरीर के अंगों का निश्चल न रखना ॥

२ प्रोषधोपवास—शिक्षाव्रत ॥

अष्टमी-चतुर्दशी के दिन सर्वकाल धर्मसाधन की सुवांछा से सम्पूर्ण पापारंभों से रहित हो, चार प्रकार आहार का त्याग करना सो प्रोपधोपवास कहाता है। इसकी निरुक्ति इस प्रकार है कि प्रोपथ कहिये एकवार आहार अर्थात् धारणे *और पारणे* के दिन एक बार भोजन करना तथा उपवास कहिये अष्टमी-चतुर्दशी पर्वको निराहार रहना-भोजन का त्याग करना इसप्रकार एक पक्षमें अष्टमी-चतुर्दशी दोनों पर्वों में चार प्रकार आहार त्याग, धर्मध्यान करना सो प्रोपधोपवास कहाता है॥ श्री राजवार्तिकजी में प्रोपथ नाम पर्वका कहा है तदनुसार पर्व में इन्द्रियोंके विषयों से विरक्त रहकर चार प्रकार आहार त्याग करना सो ही प्रोपधोपवास है॥

प्रतिदिन अंगीकार किये हुए सामायिक-संस्कार को स्थिर करके सप्तमी एवं त्रयोदशी के दोपहर (भोजन उपरान्त) से समस्त आरंभ-परिग्रह से ममत्व छोड़ देव-गुरु-शास्त्रकी साक्षीपूर्वक प्रोपधोपवास की प्रतिज्ञा लेय, निर्जन- वस्तिका (कुटी, धर्मशालादि) को प्राप्त होवे और सम्पूर्ण सावद्ययोग त्याग, इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होताहुआ, मन-वचन-कायकी गुप्ति सहित, नियतकाल तक व्रतविधान की शुभेच्छा से चार प्रकार आहार का त्याग करे॥

---

* धारणा-उपवासकी प्रतिज्ञा धारण करने का दिन अर्थात् पूर्वदिन॥ पारणा-उपवास पूर्ण करके भोजन करनेका दिन अर्थात् अगला दिन॥

* सामान्य गृहस्थों को दिन में दोवार भोजन करने का अधिकार है। प्रोषधोपवास में धारणे-पारणे के दिन एक २ बार और उपवास के दिन दोवार का भोजन त्यागने से इसे चतुर्थ संज्ञा भी है॥

चार प्रकार आहार के भेद ॥

(१) खाद्य—रोटी, दाल, चांवल, पुड़ी आदि कच्ची-पक्की रसोई ॥

(२) स्वाद्य—पान, सुपारी, इलायची आदि मसाला ॥

(३) लेह्य—रबड़ी आदि चांटने योग्य वस्तु ॥

(४) पेय—दूध, पानी, शर्बत आदि पीने योग्य पदार्थ ॥

अथवा ॥

(१) असन—दाल, भात, रोटी आदि कच्ची रसोई या नित्य भोजन में आनेवाली पक्की रसोई ॥

(२) पान—पानी, दूध, दही, रबड़ी, शर्बत आदि पेय वस्तु ॥

(३) खाद्य*—मोदक, कलाकंदा आदि (जो कभी २ खाने में आते हैं) ॥

(४) स्वाद्य—इलायची, पान, सुपारी मसालादि ॥

बहुधा ग्रंथों में प्रोपधोपवास का काल १६ प्रहर कहा है ॥ श्री धर्मसारजी, ज्ञानानन्दश्रावकाचार तथा दौलत क्रियाकोष में उत्कृष्ट १६ प्रहर, मध्यम १४ प्रहर और जघन्य १२ प्रहर कहा है ॥ स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की संस्कृत टीका में उत्कृष्ट १६ प्रहर, मध्यम १२ प्रहर और जघन्य ८ प्रहर कहा है परन्तु भोजन त्याग अपेक्षा प्रोपधोपवास १२ प्रहर से कम नहीं संभवै है क्योंकि प्रोपधव्रती रात्रि-भोजन का सर्वथा त्यागी है ॥ हां, आठ प्रहरका उपवास पाक्षिक श्रावक की अपेक्षा संभव होसक्ता है ॥ क्योंकि उस के रात्रि को ओषधि, जल तथा स्वाद्य (पान-इलायची आदि) भक्षण करने स-

* दौलत क्रियाकोष के १७ नियमों के प्रकरण में पुष्प-फलको खाद्य में कहा है क्योंकि उससे भी उदरपोषण होसक्ता है ॥

म्बन्धी अतीचार दोप लगना संभव है, इस से वह उपवास के दिन ही प्रातःकाल प्रतिज्ञा करे तो दूसरे दिन के सुबहतक आठ प्रहर का उपवास होसक्ता है। अथवा व्रती भी यदि उपवास के प्रातःकाल ही प्रतिज्ञा ले, तो प्रतिज्ञा अपेक्षा सुबह से सुबहतक ८ प्रहरका उपवास संभव होसक्ता है॥

वसुनन्दि श्रावकाचार में प्रोपधोपवास तीन प्रकार कहा है। यथाः—(१) उत्तम–१६ प्रहर निराहार (२) मध्यम–जल सिवाय तीन प्रकार आहार का त्याग (३) जघन्य–जिस में आमिल लेना अर्थात् एक अन्न पकाकर खाना और प्राशुक जल पीना अथवा मीठा न डालकर कोई एक अन्न खाना वा एक स्थान में बैठकर एक ही वार भोजन करना। परन्तु तीनों प्रकारों में धर्मध्यान सोलह प्रहर तक ही करना॥

सकलकीर्ति श्रावकाचार में कहा है कि प्रोपधोपवास के दिन गर्म (प्राशुक) जल लेने से उपवासका आठवाँ भाग रहजाता है, कपायला जल लेने से अनुपवास होता और अन्न मिश्रित जल लेने से उपवास भंग होजाता है॥

प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में कहा है कि उपवास के काल में जल की १ बुंद भी ग्रहण नहीं करना चाहिये॥

इन उपर्युक्त आधारों पर विचार करने से यही सिद्ध होता है कि प्रोपधोपवास प्रतिमा में तो उत्कृष्ट १६ प्रहरका उपवास कर धर्मध्यान कर्तव्य है। और व्रत प्रतिमा में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार अपनी शक्ति देखकर उत्कृष्ट मध्यम या जघन्य जैसा योग्य हो, प्रोपध-व्रत करे॥

प्रोपधोपवासके दिन स्नान, अंजन, विलेपन, शृंगार नहीं करे। पांव नहीं दबवावे। नवीन भूषण नहीं पहिने। कोमल-शय्या तथा पलंगपर शयन नहीं करे। स्त्री-संसर्ग, आरंभ,

पुष्प, गीत, वादित्र, नृत्य* सुगंध, दीप, धूपादि के प्रयोग तजे फल-फूल-कोंपल छेदन आदि थावर-हिंसा न करे। आलस्य रहित, धर्मका अति लालची होता हुआ धर्मशास्त्रों का स्वाध्याय श्रवणादि करे-करावे, ज्ञान-ध्यान में तत्पर रहे॥

प्रोषधव्रत करने की रीति यह है कि उपवास के धारणे के दिन साधारण भोजन करे, ऐसा न विचारे कि कल उपवास करना है इसलिये गरिष्ट वा अधिक भोजन करूं। पश्चात् प्रोषधोपवास की प्रतिज्ञा कर पठन-पाठन, सामायिकादि धर्मकार्य करे, रात्रिको निद्रा जीतता हुआ पवित्र संथारे पर अल्प निद्रा ले और पठन-पाठादि धर्मध्यान करता रहे। उपवास के दिन प्रातःकाल सामायिक करने पीछे प्राशुकजल से प्रातःकाल सम्वन्धी क्रियाओं से निवृत्त हो, प्राशुक द्रव्यों से जिनेश्वर देवकी पूजन करें†। दिन तथा रात्रि सामायिक, धर्मचर्चा, स्वाध्याय, पठन-पाठादि में व्यतीत करे। उपवास के दूसरे दिन भी दोपहर तक पूजन स्वाध्याय आदि धर्मध्यान करे। पश्चात् पात्रदान पूर्वक नियमित- शुद्ध भोजन करे, लोलुपता वश धर्मध्यान को भुलानेवाला, प्रमाद तथा उन्माद को

---

* दीप, धूपादि चढ़ाने का वा धर्म सम्बन्धी गीत, नृत्य, वादित्र, तिलक करने आदि का निषेध नहीं॥

† धर्मसंग्रहश्रावकाचार में प्रोषध व्रत में लिखा है कि उपवास के दिन अष्ट द्रव्यों से पूजन करे। दौलत क्रियाकोषादि कई ग्रंथों में धारणे पारणे के दिन पूजन करना और उपवास के दिन ध्यान-स्वाध्याय करना ही कहा है। सागारधर्मामृत में कहा है कि प्रोषध-व्रती भावपूजन करे तथा प्राशुक (निर्जन्तु) द्रव्यों से द्रव्यपूजन भी करे। पुरुपार्थसिद्धयुपाय में उपवास के दिन प्राशुक द्रव्य से पूजन करना लिखा है। इन सब से यही तात्पर्य निकलता है कि प्रोषधोपवास के दिन ध्यान-स्वाध्याय की मुख्यतापूर्वक, सावधानी से प्राशुक द्रव्यों द्वारा यदि कोई चाहे तो पूजन भी करे, न चाहे तो न करे, ध्यान-स्वाध्याय अवश्य ही करे॥

उत्पन्न करनेवाला गरिष्ठ अथवा अधिक भोजन न करे, क्योंकि प्रोपधोपवास करने का मुख्य प्रयोजन तो यही है कि जिन से परिणाम निर्मल, धर्म-ध्यान रूप, शान्त और उत्साहरूप रहें। शिथिल, आलसी, उन्माद रूप न हों तथा क्षुधादि परीषह सहने का अभ्यास पड़जाने से आगे मुनिव्रत में परीषह आनेपर समभाव बने रहें॥

प्रोपधोपवास में समस्त आरंभों का त्याग कहा है, इस से पाप क्रिया सम्बधी आरंभों का ही निषेध जानना, धार्मिक कार्यों का नहीं। तो भी पूजन के लिये शरीरकी पवित्रता (स्नान) तिलक, गान भजन, नृत्यादि सभी धर्मकार्य बहुत यत्नाचार पूर्वक करना चाहिये, जिस से पुण्यकी प्राप्ति हो और पापका अंश भी न आने पावे॥

जो स्त्री वा पुरुष उपवास धारण करके गृहकार्य के मोहवश गृहस्थी-सम्बन्धी पापारंभ करते अथवा जो दूसरों की देखादेखी या कषायवश उपवास ठान, संक्लेश-परिणामयुक्त रोगीवत् काल गवाँते हैं, वे केवल शरीरको शोषण करते हैं, उनके लेशमात्र भी कर्म हलके नहीं पड़ते। गृहस्थ को उपवास के दिन आरंभ, विषय-कषाय एवं आहारका त्याग करके धर्म सेवन करने से ही पुण्यबंध के साथ २ संवर पूर्वक निर्जरा होती है॥ इसलिये बुद्धिमान गृहस्थों को इसी प्रकार उपवास करना योग्य है॥

प्रोषधोपवास के पांच अतीचार॥

(१) विना देखे-शोधे पूजा के उपकरण, शास्त्र, संस्तरादि ग्रहण करना॥

(२) विना देखे-शोधे मल-मूत्रादि मोचन करना॥

(३) विना देखे-शोधे संस्तर (बिछौना) बिछाना॥

(४) भूख, प्यास के क्लेश से उत्साहहीन होकर उपवास में निरादररूप परिणाम करना ॥

(५) उपवास योग्य क्रियाओंका भूलजाना ॥

प्रगट रहे कि इन उपर्युक्त अतीचारों के लगने से प्रोपधोपवास मलिन होता है अतएव इन दोषों को सदा ध्यान में रखकर दोषों से रक्षा करना चाहिये ॥

लाभ—प्रोपधोपवास के दिन भोगोपभोग एवं आरंभ का त्याग रहने से हिंसा का लेश भी नहीं होता । वचन गुप्ति होने (मौनावलम्बी रहने) अथवा आवश्यक्तानुसार धर्मरूप अल्प-भाषण करने से असत्य का दूषण नहीं आता । अदत्तादान के सर्वथा त्याग से चोरी का दोष नहीं आता । मैथुनके सर्वथा त्याग से ब्रह्मचर्य व्रत पलता और शरीरादि परिग्रहों से निर्ममत्व होने से परिग्रह—रहितपना होता है । इसलिये प्रोपधोपवास करनेवाला गृहस्थ उस दिन सर्व सावद्ययोग के त्याग होने से उपचार महाव्रती है । पुनः प्रोपधोपवास के धारण करने से शरीर नीरोग रहता, शरीर की शक्ति बढ़ती, सातिशय पुण्यबंध होकर उत्कृष्ट-सांसारिक सुखोंकी प्राप्तिपूर्वक पारमार्थिक (मोक्ष) सुखकी प्राप्ति होती है ॥

---

४ अतिथि—संविभाग शिक्षाव्रत ॥

दाता, पात्र दोनों के रत्नत्रय धर्मकी वृद्धिके निमित्त सम्यक्त्वादि गुणोंयुक्त, गृहरहित साधु-मुनि आदि पात्रों का प्रत्युपकार रहित अर्थात् बदले में उपकार की वांछा न करते हुए योग्य वैयावृत्ति करना, सो अतिथिसंविभाग या सत्पात्र-दान कहाता है ॥

जो सत्पुरुष पूर्णज्ञानकी सिद्धिके निमित्तभूत शरीर की स्थिति के लिये, बिना बुलाये ईर्यापथ शोधते हुए, बिना तिथि

निश्चय किये श्रावकों के गृह भोजन निमित्त आवें, सो अतिथि कहाते हैं। यह वृत्ति अट्ठाईस मूलगुणधारी मुनियों में तथा उत्कृष्ट प्रतिमाधारी ऐलक-क्षुल्लकों में पाई जाती है, क्योंकि इन के स्थिति एवं विहार करने की तिथि निश्चित नहीं रहती। ऐसे उत्तम पात्रों को द्वारापेक्षण आदि यथायोग्य नवधा-भक्ति पूर्वक अपने भोजनमें से विभाग कर आहार ओषधि, पात्रादि दान देना। यदि उपर्युक्त प्रकार अतिथि का संयोग न मिले तो मध्यम तथा जघन्य पात्रों एवं अन्य साधर्मियोंका यथायोग्य आदर-पूर्वक चार प्रकार दान द्वारा वैयावृत्य करना या दुखितों-भुक्षितों को करुणाबुद्धि पूर्वक दान देना, यह सब अतिथि-संविभाग है॥

धर्मसाध्य की सिद्धिके लिये आगम में चार प्रकार के दान निरूपण किये गये हैं। १ ओषधिदान २ शास्त्रदान ३ अभयदान ४ आहारदान॥

योग्य पात्रको आहार-ओषधि-शास्त्र (ज्ञान) तथा अभय दान में से जिस समय जिसकी आवश्यकता हो, उसको उस समय उसी प्रकारका दान देना योग्य है। इस से दातार तथा पात्र दोनोंके रत्नत्रय की प्राप्ति, वृद्धि और रक्षा होती है इसी कारण ऐसा दान सत्पात्र-दान या सुदान कहाता है॥ पात्र, दातार, द्रव्य, तथा देनेकी विधि के भेद से दान के फल में विशेषता होती है, इस कारण इन चारों का विशेष रूपसे वर्णन किया जाता है॥

१ पात्रका वर्णन॥

दान की प्रवृत्ति करने के योग्य पात्र (स्थान) ७ प्रकार के हैं॥ यथाः—(१) पूजा (२) प्रतिष्ठा (३) तीर्थयात्रा (४) पात्रदत्ति (५) समदत्ति (६) दयादत्ति (७) सर्वदत्ति॥

(१) पूजा–अपनी शक्ति के अनुसार जलचंदनादि अष्ट-द्रव्यों या एक, दो आदि द्रव्यों से देव, शास्त्र, गुरु तथा सोलह कारण, दशलक्षण आदि आत्मगुणोंकी पूजा करना। जिनमन्दिर में पूजन के वर्तन, चंदोवा, छत्र, चामरादि धर्मोपकरण चढ़ाना॥

(२) प्रतिष्ठा–जिस ग्राम में जैनी भाइयों का समूह अच्छा हो और धर्मसाधन के निमित्त जिनमन्दिर न हो, वहां जिनमन्दिर बनवाना। भगवानके विम्बकी प्रतिष्ठा कराके पधराना । यदि ग्राम छोटा हो, जैनी भाइयों के १०–५ ही घर हों, तो चैत्यालय बनाना, तथा प्रतिष्ठित–मूर्ति दूसरे स्थानसे लाकर, या किसी स्थानकी प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठा करा लाकर विराजमान करना, अथवा प्राचीन-मन्दिर जीर्ण होगया हो तो उसका जीर्णोद्धार कराना, क्योंकि नूतन मन्दिर बँधाने की अपेक्षा जीर्णोद्धार में परिणामोंकी विशेष उज्ज्वलता होने से १०० गुणा अधिक पुण्य होता है, ऐसा प्रतिष्ठापाठादि ग्रंथोंमें कहा है ॥

(३) तीर्थयात्रा–गृह जंजालों की चिन्ता छोड़ सिद्ध-क्षेत्रों, अतिशय क्षेत्रोंके दर्शन-वंदना करना, शक्ति हो तो संघ निकालना, आप पवित्र क्षेत्रों में जाकर निर्मल परिणामोंयुक्त धर्मसाधन करना तथा अन्य साधर्मी मंडलीको कराना। इससे सातिशय तीव्र पुण्यबंध होता है ॥

(४) पात्रदत्ति–सामान्य रीति से पात्र तीन प्रकार के होते हैं। सुपात्र, कुपात्र और अपात्र ॥ यहां पात्रदत्ति से सुपात्र ही का अभिप्राय जानना चाहिये, क्योंकि पात्र का लक्षण यह कहा है कि जो सम्यक्त्व और चारित्र युक्त हो और दाता-दान के प्रेरकों एवं अनुमोदकों को नौका की तरह संसार सागर से पार करे। सो ये लक्षण सुपात्र में ही पाये जाते हैं अतएव

सुपात्र ही दान देने योग्य हैं। ये तीन प्रकार के होते हैं। यथा:— उत्तम. मुनि-अर्यिका। मध्यम. श्रावक-श्राविका। जघन्य. अव्रत-सम्यग्दृष्टी (इनके स्वरुपाचरण चारित्र होता है)॥

भाव-सम्यक्त्व रहित केवल बाह्य-चारित्र के धारक द्रव्य-लिंगी मुनि तथा द्रव्यलिंगी श्रावक वा द्रव्यसम्यक्दृष्टी कुपात्र कहाते हैं॥ जिसके सूक्ष्म (अप्रगट) मिथ्यात्व हो, उसे तो हम तुम छद्मस्थ जान ही नहीं सके, इसलिये उस में सुपात्र के समान प्रवृत्ति होती है, परन्तु जिसके स्थूल (प्रगट) द्रव्यमिथ्यात्व हो और बाह्य जिनधर्म में कहे हुए भेषका धारी हो, तो वह कुपात्र है॥ (यहां व्यवहार में व्यवहार-सम्यक्त्व अथवा मिथ्यात्वकी अपेक्षा जाननी)॥

जो सम्यक्त्व, चारित्र दोनों से भ्रष्ट हो, ऐसे मिथ्यादृष्टी भेषी, अपात्र को सर्वथा दान देना योग्य नहीं॥

(५) समदत्ति—जो अपने समान साधर्मी गृहस्थ असाता कर्म के उदयसे दुखी हों, उनकी धन-वस्त्रादि से यथायोग्य सहायता करना॥

(६) दयादत्ति—दुखित-भुखित जीवों को अन्न-वस्त्रादि से सहायता करना॥

(७) सर्वदत्ति वा अन्वयदत्ति—अपने पुत्र भाई या गोत्री आदि को धनादि सर्वस्व सौंप परिग्रह से निर्ममत्व हो, उत्तम-श्रावक के व्रत या मुनिव्रत अंगीकार करना॥

२ दातार का वर्णन॥

पूजा-प्रतिष्ठा तथा पात्रदत्ति के अधिकारी द्विजवर्ण*

---

*जो यज्ञोपवीत धारण करनेके अधिकारी हैं वे द्विजवर्ण कहाते हैं॥ द्विजवर्ण में भी कोढ़ी, रोगी आदि जिनका निषेध समवसरण-विधानमें किया गया है या जो जाति-पतित हों, वे इन सत्कर्मों के करने के अधिकारी नहीं हैं॥

(ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) ही हैं, क्योंकि सत्पात्रोंको द्विजवर्ण के गृह ही आहार लेने की आज्ञा है, शूद्र के गृह नहीं (मूलाचार) । शेष समदत्ति आदि चारदान अपनी २ योग्यतानुसार हरकोई करसक्ता है । भावार्थः—स्पर्श शूद्र दर्शन करते समय एकाध द्रव्य चढ़ानेरूप द्रव्यपूजा का तथा तीर्थयात्रा समदत्ति और दयादत्ति का अधिकारी है । वह द्विजवर्ण की नाँई अभिषेकपूर्वक पंच प्रकारी (आह्वानन, स्थापन, सन्निधिकरण, पूजन, विसर्जन) पूजनका अधिकारी नहीं है । अस्पर्श-शूद्र मन्दिर के बाहिर से *दर्शन करसक्ता है और अपनी समानतावालों के साथ समदत्ति वा दयादत्ति करसक्ता है ॥

सम्यग्दृष्टी चारित्रवान् दातार ही दान देने का पात्र है । क्योंकि विना धर्मात्मा हुए सत्पात्र-दान नहीं हो सक्ता । अन्य के न तो सच्ची त्यागबुद्धि ही होसक्ती है और न पात्र-दान-द्रव्यादि का बोध होसक्ता है ॥ दातार के ५ भूषण हैं । (१) आनन्दपूर्वक दान देना (२) आदरपूर्वक दान देना (३) प्रियवचनपूर्वक दान देना (४) निर्मल भावपूर्वक दान देना (५) दान देकर अपना धन्य भाग्य मानना ॥ दातार के पांच दूषण हैं । (१) विलम्बसे दान देना (२) उदास होकर दान देना (३) दुर्वचन कहकर दान देना (४) निरादरपूर्वक दान देना (५) दान दिये पीछे पछताना ॥ दातार के सप्तगुण हैं ॥ (१) दान के योग्य यही पात्र है, ऐसा दृढ़ परिणाम सो श्रद्धागुण है (२) प्रमादरहितपना सो शक्तिगुण है (३) पात्र के गुणों में आदर सो भक्तिगुण है (४)

* इसी अभिप्राय की सिद्धि के लिये कई जगह अब भी प्राचीन मंदिरों के शिखरोंपर विराजमान वा दरवाजोंकी चौखटोंपर उकेरे हुए जिनबिम्ब दिखाई देते हैं तथा कई जगह नूतन मन्दिरों में हाल में भी इसी तरह दर्शन करने का सुभीता है ॥

दानकी पद्धति का जानना सो विवेक या विज्ञानगुण है (५) दान देने की सामर्थ्य सो अलुब्धतागुण है (६) सहनशीलता सो क्षमागुण है (७) भले प्रकार दान देनेका स्वभाव सो त्यागगुण है ॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में इस प्रकार भी दातारके ७ गुण कहे हैं। (१) फलकी अपेक्षारहितपना (२) क्षमावानपना (३) निष्कपटीपना (४) ईर्षारहितपना (५) खेदभावरहितपना (६) हर्षभावयुक्त पना (७) निरभिमानीपना। ये दोनों प्रकार के गुण बहुधा एक से ही हैं और ज्ञानी तथा श्रद्धावान् दातारों में अवश्य ही पाये जाते हैं॥

३ दान देने योग्य द्रव्यका वर्णन ॥

पूजा, प्रतिष्ठा, यात्रा करने में सामान्य रीति से उसके योग्य द्रव्य व्यय होता है। समदत्ति में अपने समान गृहस्थ को वा जघन्य पात्रको धन, वस्त्र, ज्ञान के उपकरण एवं ओषधि आदिकी सहायता करके धर्म में लगाते वा स्थिर करते हैं। दयादत्ति में दुखितों-भुखितोंको अन्न, वस्त्र ओषधि आदि देते हैं। मध्यम पात्रको उसके योग्य धन, वस्त्र आदि देते हैं। आर्यिका को सफेद साड़ी, पीछी, कमंडल तथा मुनिको केवल पीछी-कमंडल ही देते हैं. सभी पात्रों को शरीर की स्थिरता निमित्त शुद्ध आहार, रोग के निवारणार्थ ओषधि वा ज्ञानकी वृद्धि के लिये पुस्तक (शास्त्र) देते हैं। दान में देनेवाली सभी वस्तुयें यद्यपि सामान्य रीति से धर्मवृद्धि करनेवाली हैं, तौ भी दातार को इस बात का पूरा २ ध्यान रखना चाहिये कि पात्र को दान देने का पदार्थ अथवा पूजा-प्रतिष्ठादि में काम आने की वस्तु शुद्ध-निर्जीव व निरवद्य (निर्दोष) हो। मुनि-आर्यिका, श्रावक-श्राविका को दीजानेवाली वस्तु स्वाध्याय-ध्यान, तप की वृद्धि करनेवाली हो, आलस, उन्माद, विकार व अभिमान

की उत्पन्न करनेवाली न हो। विवेकपूर्वक दान देने से ही दातार-पात्र दोनों के धर्मवृद्धि और परंपराय सच्चे-सुख की प्राप्ति होती है ॥

अन्यमतों में गऊ, स्त्री, हाथी, घोड़ा, रथ, मकान, सोना, तिल, दासी और भूमि ये दश प्रकार के दान कहे हैं। सो ये रागद्वेषादि भावों के बढ़ानेवाले, पंच पापों में प्रवृत्ति करानेवाले आलस्य, प्रमाद, उन्मत्तता, रोगादि के मूल हैं। आत्महित के बाधक, संसार के बढ़ानेवाले और मोक्षमार्ग से विमुख करनेवाले हैं। इन से दातृ-पात्र दोनों के धर्म की हानि होती है। इसलिये ये कुदान कभी भूलकर भी न करना चाहिये। इनका लेना-देना धर्म का अंग नहीं है, इन के देने-लेने में धर्म मानना मिथ्या है, ऐसा प्रश्नोत्तर-श्रावकाचार तथा पद्मनंदिपच्चीसी आदि ग्रंथों में स्पष्टरूप से कहा है। सागारधर्मामृत में भी कहा है कि नैष्ठिक-श्रावक को भूमि आदि दश प्रकार के दान भूलकर भी नहीं देना चाहिये, क्योंकि इस से सम्यक्त्व का घात तथा हिंसा होती है। अतएव जब सम्यक्त्व का भी घात होता है तो ये दश प्रकार के दान सम्यक्त्वी को भी नहीं देना चाहिये ॥

---

४ दान देने की विधि ॥

पूजा, प्रतिष्ठा, यात्रा में जो द्रव्यव्यय वा उत्तम क्रियाएँ कीजाँय, वे उत्कृष्ट परिणामोंपूर्वक, परमार्थबुद्धि से, शास्त्रोक्त-पद्धतिसहित, विनययुक्त, धर्मप्रभावना के अभिप्राय से कीजाँय ॥

पात्रदत्ति—उत्तमपात्र (मुनि) को प्राशुक-शुद्ध आहार नवधाभक्तियुक्त (विधिपूर्वक) देकर अपना धन्यभाग मानना

चाहिये । दातार को नित्य भोजनसमय रसोई तयार करके, सब आरंभ तजि, सर्व भोजन-सामग्री शुद्ध स्थान में रख, प्राशुक जल से भराहुआ, ढँकाहुआ लोटा लेकर अपने द्वारपर पात्र हेरने के लिये णमोकार मंत्र जपते हुए खड़ा होना योग्य है । दान के बिना गृहस्थ का चूल्हा-चौका मशान समान है, क्योंकि यत्नाचार करते हुए भी उस में नित्य छह काय के हजारों जीव जलते हैं । अतएव आहारदान देने से ही गृहस्थ का चौका सफल है । उपर्युक्त प्रकार पात्र हेरने की द्वारापेक्षण संज्ञा है । जब मुनि अपने द्वार के सन्मुख आवें, तो "स्वामिन्! अत्र तिष्ठ तिष्ठ अन्न-जल शुद्ध" ऐसा कहकर आदरपूर्वक अपने गृह में अतिथि को प्रवेश करावे, इस को प्रतिग्रहण या पड़गाहना कहते हैं ॥ पश्चात् पात्र को उच्चस्थान अर्थात् पाटला (चौकी) पर स्थित करे, प्राशुक जल से चरण धोवे (अंग पोंछे), अष्ट द्रव्य से पूजन करे, अष्टांग* नमस्कार करे, मनःशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, और भोजनशुद्धि+ करे । इस प्रकार नवधाभक्ति एवं शुद्धिपूर्वक सर्व प्रकार के भोज्य पदार्थ अलग २ कटोरी में रखकर थाली में लेय मुनिराज के सन्मुख खड़ा

---

*दोहा. शिर, नितम्ब, उर, पीठ, कर, जुगल जुगल पद टेक ॥
अष्ट अंग ये तन विषैं, और उपंग अनेक ॥ १ ॥

+ भोजन शुद्धि में द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव की शुद्धि पर ध्यान रखना चाहिये अर्थात् भोजन के पदार्थ शुद्ध मर्यादीक तथा रसोई बनाने की सामग्री, बर्तन, लकड़ी वगैरह शुद्ध निर्जन्तु होना चाहिये । रसोई बनानेवाला रसोई के बनानेकी विधि का ज्ञाता, धर्मबुद्धि हो । रसोई करने का तथा आहार देने का स्थान, चँदोवा सहित, मिट्टी से लिपा हुआ, स्वच्छ, निर्जन्तु होना चाहिये । रसोई ठीक समय पर तय्यार होकर सामायिक के पेश्तर २ (दश और ग्यारह बजे के बीच में) देना चाहिये । पवित्र और उत्साहित चित्त होकर अपनी योग्यतानुसार, अपनी गृहस्थी के लिये तय्यार हुए भोजन में से पात्र दान करे, पात्र के निमित्त न बनावे । आहार में कोई भी पदार्थ सचित्त न हो ॥

होवे और ग्रास बना बना कर उन की हस्तांजली में देवे (वृद्ध विद्वानों का वाक्य है कि अन्न के एक ग्रास बाद हस्तांजली में प्राशुक जल का एक ग्रास देवे)। मुनि उत्कृष्ट ३२ ग्रास लेते हैं। जब भोजन कर चुकें, और ग्रास हस्त में न लें, तब जल के ग्रास देवे तथा उनका मुंह-हाथ अच्छी तरह धोवे, पोंछे। कमंडल को धोकर-साफकर प्राशुक जल* भरदेवे। यह बात ध्यान में रहे कि मुनिराज तथा उत्कृष्ट श्रावक के पधारने से भोजन करलेने के समयतक घर में दलना, पीसना, रसोई आदि कोई भी आरंभसम्बन्धी काम तथा अंतराय होने सरीखे काम न करे॥ यदि कमंडल, पीछी या शास्त्र की आवश्यकता देखे, तो बहुत आदर एवं विनयपूर्वक देवे। यह मुनि के आहारदान की विधि है॥ आर्यिका भी उत्तम पात्र हैं, वे बैठकर मुनि की नाँई करपात्र आहार करती हैं सो उन को भी उन के योग्य आदर-भक्तिपूर्वक आहार दान करे, पीछी, कमंडल, सफेद साड़ी की अवश्यकता देखे तो देवे, यदि पात्र को कोई रोग हो, तो भोजन के साथ या अलग, जैसा योग्य हो ओषधि देवे॥

मध्यम पात्र एलक बैठ कर करपात्र में और क्षुल्लक पात्र में लेकर भोजन करते हैं (इस की विधि ग्यारहवीं प्रतिमा में स्पष्ट कही है)। इन को इन के योग्य तथा ब्रह्मचारी या व्रती श्रावक को उन के योग्य प्रतिग्रहण करके आदर, यथायोग्य विनय एवं भक्तिपूर्वक आहार दान करे। वस्त्र, पिछौरी, लँगोटी, कमंडल, पीछी, शास्त्र आदि जो उन को चाहिये सो उन के योग्य देवे, कमंडल तथा धातुपात्र में प्राशुक जल भर देवे।

---

* जल एक उनाली आवे ऐसा गर्म होने पर उतार कर ठंडा करले यही जल भोजन के समय देने तथा कमंडल में भरने के काम लावे॥

इन को अष्टांग नमस्कार या पूजन करने की आम्नाय नहीं है । पूजन और नमस्कार की विधि तो केवल निर्ग्रंथ-मुनियों के लिये ही कही गई है ॥

(नोट) दशवीं ग्याहरवीं प्रतिमावालों को तथा मुनिराज को उन के निमित्त बना हुआ "उद्देशिक आहार" नहीं देना चाहिये; अपने घर में जो नियमित आहार बने, उसी में से देना चाहिये ॥

समदत्ति—सामान्य आदर-सत्कार एवं हर्षपूर्वक अपने बराबरी के साधर्मियों की सहायता धन-वस्त्र, स्थानादि से करना चाहिये, अपना बड़प्पन बताना, अभिमान करना और उन का निरादर करना योग्य नहीं, क्योंकि धर्मपद्धति की मुख्यतापूर्वक उन की सहायता कीजाती है ॥

दयादत्ति—दुखित-भुखित जीवों को दयापूर्वक औषधि, अन्न, वस्त्र देना योग्य है । नकद पैसा न देना चाहिये । नकद देने से वे लोभ के वश पैसा एकत्र करते जाते और उनका सदुपयोग नहीं करते, जिस से वह द्रव्य व्यर्थ जाता, अथवा दुरुपयोग करते हैं जिस से उल्टा पाप लगता है । हट्टे-कट्टे, मिथ्यात्वी, दुर्गुणी, मस्त लोगों को दान देना दयादत्ति नहीं, किन्तु पापदत्ति है । इन को दान देने के बदले धन को अंध-कूप में डालदेना अच्छा है ॥ दातार को चाहिये कि बहुत विवेकपूर्वक अपने परिश्रम एवं न्याय से कमाये हुए द्रव्य का सदुपयोग करे ॥

आहार के ४६ दोष ॥

यहां आहारदान का प्रकरण आया है, इसलिये दातृ-पात्र दोनों के जानने तथा दोषों से बचने के लिये आहारसम्बंधी ४६ दोषों का वर्णन श्री मूलाचार जी के अनुसार किया जाता है ॥

सोलह उद्गम दोष—जो दातार और पात्र दोनों के अभिप्राय से आहार में उत्पन्न होते हैं। यथाः—(१) षट्काय के जीवों के वधद्वारा आहार निपजाना सो अधःकर्म नामक महान् दोष है (२) साधु का नाम लेकर भोजन तय्यार करना सो उद्देशिक दोष है (३) संयमी को देख भोजन बनाने का आरंभ करना सो अध्यधि दोष है (४) प्राशुक भोजन में अप्राशुक भोजन मिलाना सो पूति दोष है (५) संयमी के भोजन में असंयमी के योग्य भोजन का मिलाना सो मिश्र दोष है (६) रसोई के स्थान से अन्यत्र आपके वा पर के स्थान में रक्खा हुआ भोजन लाकर देना सो स्थापित दोष है (७) यक्ष-नागादि के पूजन निमित्त बना हुआ भोजन देना सो बलि दोष है (८) पात्र को पड़गाहे पीछे काल की हानि-वृद्धि करना अथवा नवधाभक्ति में शीघ्रता वा विलंब करना सो प्रावर्तित दोष है (९) अंधेरा जान मंडप आदि को प्रकाश रूप करना सो प्राविशकरण दोष है (१०) आपके वस्तु नहीं, पर की उधार लाकर देना, सो प्रामिशिक दोष है (११) अपनी वस्तु के बदले दूसरे गृहस्थ से वस्तु लाकर देना सो परिवर्तक दोष है (१२) तत्काल देशांतर से आई हुई वस्तु देना सो अभिघट दोष है (१३) बँधी वा छांदा लगी हुई वस्तु को खोल कर देना, सो उद्भिन्न दोष है (१४) रसोई के स्थान से ऊपर की मंजिल में रक्खीहुई वस्तु निसरणी पर चढ़, निकालकर देना सो मालारोहण दोष है (१५) उद्वेग-त्रास-भय का कारण भोजन देना सो अच्छेद्य दोष है (१६) दातार असमर्थ हो, सो अनिसार्थ दोष है॥

सोलह उत्पादन दोष—जो पात्र के आश्रय उत्पन्न होते हैं॥ यथाः—(१) गृहस्थ को मंजन-मंडन-क्रीडनादि धात्री-

दोष का उपदेश देकर आहार ग्रहण करना सो धात्री दोष है (२) दातार को परदेश के समाचार कह, आहार ग्रहण करना सो दूत दोष है (३) अष्टांगनिमित्त-ज्ञान बताय, आहार ग्रहण करना सो निमित्त दोष है (४) अपना जाति-कुल-तपश्चरण बताय आहार ग्रहण करना सो आजीवक दोष है (५) दातार के अनुकूल बातें कर, आहार लेना सो वनीपक दोष है (६) दातार को औषधि बताय आहार लेना सो चिकित्सा दोष है (७,८,९,१०) क्रोध, मान, माया, लोभ-पूर्वक आहार लेना सो क्रोध, मान, माया, लोभ दोष है (११) भोजन के पूर्व दातार की प्रशंसा करना सो पूर्वस्तुति दोष है (१२) आहार किये पीछे स्तुति करना सो पश्चात्-स्तुति दोष है (१३) आकाशगामिनी आदि विद्या बताय भोजन करना सो विद्या दोष है (१४) सर्प, बिच्छू आदि का मंत्र बताय आहार लेना सो मंत्रदोष है (१५) शरीर की शोभा (पुष्टता) निमित्त चूर्णादि बताय आहार ग्रहण करना सो चूर्णदोष है (१६) अवश को वश करने का उपाय बता कर आहार लेना सो मूलकर्म दोष है॥

चतुर्दश आहार सम्बन्धी दोष—(१) यह भोजन योग्य है या अयोग्य? खाद्य है या अखाद्य? ऐसी शंकायुक्त आहार ग्रहण करना सो शंकित दोषयुक्त है (२) सचिक्कण हाथ या बर्तन पर रक्खा हुआ भोजन ग्रहण करना सो म्रक्षित दोषयुक्त है (३) सचित्त पत्रादि पर रक्खा हुआ भोजन करना सो निक्षिप्त दोषयुक्त है (४) सचित्त-पत्रादि करि ढँका हुआ भोजन करना सो पिहित दोषयुक्त है (५) दान देने की शीघ्रता करि अपने वस्त्र को नहीं सँभालना या भोजन को देखे बिना देना सो संव्यवहरण दोषयुक्त है (६) सूतकादि-युक्त अशुद्ध आहार लेना सो दायक दोषयुक्त है (७) सचित्त

करि मिला आहार लेना सो उन्मिश्रदोप युक्त है (८) अग्नि करि परिपूर्ण नहीं पका वा जला हुआ भोजन अथवा तिल-तंदुल हरड़ करि स्पर्श-रस-गंध-वर्ण बिना बदला जल लेना सो अपरिणत दोषयुक्त है (९) गेरू, हरताल, खड़ी, आदि अप्रासुक द्रव्य से लिप्त बर्तन द्वारा दियाहुआ आहार लेना सो लिप्त दोषयुक्त है (१०) दातार द्वारा पात्र के हस्त में स्थापित्त किया हुआ आहार पाणिपात्र में से गिरता हो अथवा पाणिपात्र में आये हुए आहार को छोड़ और आहार लेकर ग्रहण करना सो परित्यजन दोषयुक्त है (११) शीतल-भोजन में उष्ण या उष्ण-भोजन में शीतल भोजन अथवा जल मिलाना सो संयोजन दोषयुक्त है (१२) गृद्धिता करि प्रमाण से अधिक भोजन करना सो अप्रमाण दोषयुक्त है (१३) गृद्धितायुक्त आहार करना सो अंगार दोषयुक्त है (१४) भोजन प्रकृति विरुद्ध है ऐसे ग्लानियुक्त भोजन करना सो धूम दोषयुक्त है ॥

दान का फल ॥

निर्दोष एवं विधिपूर्वक पात्रदान करने से गृहस्थों के आरंभ सम्बन्धी षट्कर्म-जनित पाप क्षय होजाते और सातिशय पुण्य का संचय होता है। तपस्वी-मुनियों को नमस्कार करने से उच्चगोत्र का बंध होता, दान देने से दानान्तरायका क्षयोपशम होता और भक्ति करने से सुन्दर रूप और स्तुति करने से कीर्ति होती है। पात्र को दिया हुआ दान उत्तम फल युक्त वृक्ष के समान सुखदाई और मनवांछित फल को उत्पन्न करनेवाला होता है। दान के फल से मिथ्यादृष्टी भोगभूमि के सुख, सम्यक्दृष्टी स्वर्ग के सुख भोगता हुआ परंपराय मोक्ष पाता है। दान के फल की महिमा यहां तक है कि तीर्थंकर-भगवान को प्रथम पारणा करानेवाला तद्भवमोक्षगामी होता है।

कुपात्र-दान के फल से कुभोग भूमि के सुख तथा समदृष्टि और दयादत्ति से पुण्य का बंध होकर स्वर्ग के सुख मिलते हैं। इस के विपरीत अपात्रों को दान देना पाप बंध करनेवाला उलटा दुखदाई है क्योंकि इस से मिथ्यात्व तथा पाप की वृद्धि होती है जिस से दाता और पात्र दोनों को नीच गति की प्राप्ति होती है॥

यहां पर यह प्रश्न उत्पन्न होसक्ता है कि इस कलिकाल में योग्य-पात्र की प्राप्ति तो दुर्लभ होगई, फिर हम किसकी वैया-वृत्ति करें? किस को दान देवें? तिसका समाधान यह है-कि यदि उत्तम पात्र न मिले तो मध्यम तथा जघन्य पात्रों की यथायोग्य सेवा-सहाय करो, उन के श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र की वृद्धि का पूरा २ यत्न करो, जिस से वे उत्तम पात्र बनने के उत्साही हों। इस के सिवाय पंच-परमेष्ठी गर्भित जिनबिम्ब की पूजन करो जो उत्तम दान एवं उत्कृष्ट वैयावृत्य के फल को देनेवाली है॥

जिनेन्द्रपूजन करने का अभिप्राय केवल वैयावृत्य और दान द्वारा पुण्य बंध करके स्वर्गसुखों की प्राप्ति करना मात्रही नहीं है, किन्तु चित्तवृत्ति को संसार से फेरकर, वीतराग रूप करके धर्मध्यान, शुक्लध्यान में लगाकर परमात्मपने की प्राप्ति करना है। जिस प्रकार किसी सांसारिक कार्य को समुचित रीति से करने से वह सफल होता है, उसी प्रकार अनुभव-पूर्वक एकाग्र चित्त करके पंच-परमेष्ठी के दर्शन, पूजन, वंदना करने से मोक्ष सरीखे अलौकिक सुख की प्राप्ति होसक्ती है। ऐसा जानकर प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है कि यथाशक्ति नित्य धार्मिक षट्-कर्मों में प्रवृत्ति करे, सोही शास्त्रों में कहा है। श्लोक—देवपूजा गुरूपास्ति स्वाध्यायःसंयमस्तपः॥

दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ॥ १ ॥ अर्थ—गृहस्थों को, देवपूजा, गुरु-उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये षट्कर्म नित्य करना चाहिये ॥

जैनियों का मूर्तिपूजन ।

वर्तमान में कितनेक मत ऐसे भी है जो मूर्तिपूजनका निषेध करते हैं। वे मूर्तिपूजनका अभिप्राय समझे बिना मूर्तिपूजकों को बुतपरस्त अर्थात् पाषाणपूजक ठहराते हैं। उनको यह बात ज्ञात नहीं है कि मूर्ति अर्थात् स्थापना-सत्य माने बिना, सांसारिक एवं पारमार्थिक कोई भी कार्य नहीं चल सक्ते। प्रत्यक्षही देखो कि अक्षर जो लिखे जाते हैं, वे जिस पदार्थके द्योतक याने मूर्ति स्वरूप हों, उसी पदार्थका ज्ञान उन अक्षरोंके देखनेसे होता और तदनुसार ही हर्ष-विषाद होता है। जैसे. निन्दा या गाली के द्योतक अक्षरों को पढ़कर अप्रसन्नता और प्रशंसारूप अक्षरों को पढ़कर चित्तमें प्रसन्नता होती है अथवा फोटो की तसवीर या पत्थर की स्त्री-पुरुष की सुन्दर मूर्ति देखकर मन प्रसन्न होता और कुरूप-डरावनी मूर्ति को देखनेसे भय और घृणा उत्पन्न होती है। जिस प्रकार नकशे के बिना केवल भूगोल की पुस्तक पढ़नेसे यथार्थ ज्ञान नहीं होता, उसीप्रकार मूर्तिके बिना सांसारिक एवं पारमार्थिक कार्यों का समुचित्त रीति से बोध तथा उन में प्रवृत्ति नहीं होसक्ती, इसके लिये इतना ही कहना बस होगा कि मूर्तिनिषेधक लोग भी फोटो (तसवीर) तथा स्मारक मूर्तियों के द्वारा असली पदार्थ का बोध करते हैं और तदनुसार ही बर्ताव करते हैं। अब विचारने की बात केवल इतनी ही है कि मोक्षमार्ग के प्रकरण में मूर्ति किस की और किस आकार की होना चाहिये और उस की पूजन करने का

अभिप्राय क्या होना चाहिये। इत्यादि बातों को भलीभांति जाने विना मूर्तिपूजन से जो लाभ होना चाहिये, सो कदापि नहीं होसक्ता, इसलिये इस विषय को भलीभांति जानना जरूरी है। इस के लिये इतनाही कहना बस होगा कि यदि सूक्ष्मदृष्टि से जैनियों के मूर्ति स्थापन एवं मूर्तिपूजन सम्बन्धी अभिप्राय ध्यान में लाये जांय, तो कदाचित् भी कोई उन्हें बुतपरस्त नहीं कहसक्ता, किन्तु उन्हें पूर्ण तत्त्वज्ञानी, सत्य-खोजी और सच्चा मुमुक्षु कहसक्ता है। अतएव यहां जैनमत सम्बन्धी मूर्ति-पूजन का अभिप्राय संक्षिप्तरूप से कहा जाता है॥

प्रगट रहे कि मूर्तिपूजा के विषय में जैनियों के उद्देश्य और सिद्धान्त ये हैं कि जिन महात्माओं ने संसार अर्थात् जन्म-मरण की परिपाटी को बढ़ानेवाले, रागद्वेष को उत्पन्न करनेवाले विषयकषायों को त्याग दिया और परम वीतरागता (शांति) अंगीकार किई, जिन्होंने अशुभ-शुभ दोनों प्रकार के कर्मों को संसार-बंधन के लिये बेड़ी सदृश जान त्याग दिया, जिन्होंने एकाग्र-ध्यान (समाधि) के बल से सर्वज्ञ पद को प्राप्त किया और शुद्धात्मस्वरूप-परमात्मा हुए। ऐसे सर्वज्ञ, परमात्मा, कर्मशत्रु-विजेता वीरों की ध्यान-मुद्रा का सदा स्मरण होता रहे, उन के सद्गुणों के प्राप्त करने की सदा इच्छा उत्पन्न होती रहे, जैनी लोग इसी अभिप्राय से उन की तादृश (उन्हीं के समान) विरागतापूर्ण मूर्ति स्थापन करते हैं। उन का सिद्धान्त है कि ऐसी मूर्ति के दर्शन द्वारा परमात्मा के गुण चिंतवन करना और उनके समान सद्गुणी बनने की इच्छा करना ही आत्मोन्नति का मूल साधन है॥

अन्यमतावलम्बी मूर्तिपूजन का इस प्रकार असली अभिप्राय "आत्मीक उन्नति" के जाने विना जैनियों को मूर्तिपूजक कह-कर उन की निन्दा करते हैं। परन्तु अपनी तरफ़ नहीं देखते

कि आप स्वतः सांसारिक बुतपरस्त बनरहे हैं जो सांसारिक कार्यों (युद्धादि वा द्रव्यदान) द्वारा किंचित् प्रसिद्ध पुरुषोंकी मूर्ति, फोटो आदि की स्थापना कर उनकी स्तुति-प्रशंसा करते तथा उनकी मूर्ति पर फूल, माला आदि चढ़ाते हैं ॥

यह बात भी ध्यानमें लाने योग्य है कि जैनी लोग मूर्तिके दर्शन, पूजन करते हुए पाषाण, पीतल आदि की स्तुति नहीं करते, कि "हे पाषाण या पीतलकी मूर्ति ! तू अमुक खानिसे निकाली जाकर अमुक कारीगर के द्वारा इतने मूल्यमें अमुक जगह तय्यार कराई जाकर हमलोगों के द्वारा स्थापित होकर पूज्य मानीगई है" किन्तु वे लोग संसारविरक्त मोक्षगामी परमात्माकी तदाकृति मूर्तिके आश्रय उसके सद्गुणों की स्तुति तथा पूजन करते और उसीके समान मोक्ष प्राप्त करनेकी भावना करते हैं । वे उन मोक्षमार्गी सच्चे वीरों की मूर्ति के दर्शन करके यह शिक्षा लेते हैं कि यह मुद्रा ध्यान करने की है, जब हम संसार, शरीर, भोगोंसे सर्वथा विरक्त होकर इस नग्न दिगम्बर मूर्ति सरीखे ध्यानारूढ़ होंगे, तभी अपने आत्मस्वरूपमें लीन होकर शान्तिरस का आस्वादन कर सकेंगे, अन्यथा नहीं। पुनः उनके मनमें वीतराग मूर्ति के देखनेसे इस प्रकार शुद्धात्मस्वरूपके ध्यान की भावना उत्पन्न होती है कि मेरे आत्मा में जब तक रागद्वेषरूप मल लगा हुआ है तब तक ही संसार में भ्रमण करता नानाप्रकार दुखी होता हुआ जन्म-मरण कर रहाहूं, जिस समय रागद्वेष विकार मुझसे दूर हो जायगा, उस समय मैं अपने स्वरूप में ऐसा निश्चल लीन होजाऊंगा, जैसी कि ये पाषाण की वीतराग मूर्ति ध्यानस्थ है ॥

प्रगट रहे कि जैनमतमें मूर्ति चाहे पद्मासन हो, चाहे खड्गासन किन्तु, स्त्री-वस्त्र-शस्त्र-आभूषण आदि परिग्रह रहित, नासाग्रदृष्टि,

पूर्ण वैराग्यसूचक, नग्न दिगम्बर, ध्यानारूढ़ होती है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि मोक्ष प्राप्तिके लिये ऐसी शान्त अवस्था धारण करना बहुधा सभी मतावलम्बी स्वीकार करते हैं॥

यहां कोई कहे कि वीतराग सर्वज्ञकी मूर्ति के नित्य अभिषेक (प्रक्षाल) पूर्वक पूजन करने की क्या आवश्यकता है? तिसका समाधान—इस विषयमें जैनमत का विज्ञान बहुत विज्ञता से भराहुआ है। मूर्ति के प्रक्षाल करने का अंतरंग अभिप्राय तो यह है कि ऐसी पवित्र ध्यानस्थ-मुद्राके अति निकटवर्ती होनेसे उसकी वीतरागता पूर्णरूप से दरशाती है। उसके स्पर्श करने से चित्त आल्हादित होता मानो साक्षात् अर्हतदेव का ही स्पर्शन किया और चरणोदक लगाने से मस्तक तथा सम्पूर्ण शरीर पवित्र होकर मनमें साक्षात् तीर्थंकर भगवानके अभिषेक करने सरीखी भावना उत्पन्न होती है। पुनः प्रक्षाल-करनेका बाह्य कारण ये भी है कि मूर्तिपर कूड़ा, कचरा, जाला, मैल, दाग न लगने पावे क्योंकि आच्छादन होने से मूर्तिकी वीतरागता बिगड़ती और स्पष्ट-दर्शन में बाधा आती है॥

गृहस्थों को गृह सम्बन्धी जंजालों के कारण अनेक संकल्प, विकल्प उत्पन्न होते रहते हैं, जिस से एकाएकी आत्मध्यान में उनका चित्त एकाग्र नहीं होसक्ता, इसलिये उन्हें सांसारिक अशुभ आलंबनों के त्यागने और पारमार्थिक शुभ आलंबनों में लगने की बड़ी भारी आवश्यकता है। अतएव गृहस्थ को जिन-पूजा से बढ़कर दूसरा कोई प्रबल धार्मिक अवलम्बन नहीं है, इसी कारण शास्त्रों में गृहस्थ को धार्मिक षट्कर्मों के आरंभ में ही देवपूजन करने का उपदेश है। पूजन करने से पूजन के द्रव्य एकत्र करने, धोने, चढ़ाने, पाठ-मंत्रादि बोलने, पूज्य परमेष्ठी के गुणों के चिंतवन करने

में जितने समय तक चित्त लगा रहता है, उतने काल तक परिणाम पुण्यरूप रहते, सांसारिक विषय-कषाय की ओर चित्त नहीं जाने पाता, जिस से महान पुण्य बंध और पाप की हानि होती है तथा उतने काल तक संयम (इन्द्रियों का जीतना) और तप (इच्छा का निरोध) होता है। जिस से आत्मीक शक्तियां सबल और निर्मल होती हैं ॥

जैनमत में अष्टद्रव्य (जल, सुगंध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल) से पूजन करने की आज्ञा है। इनको परमात्मा या गुरु के सन्मुख चढ़ाने का अभिप्राय, पूजकों के सांसारिक तापों के दूर करने की इच्छा है। इसी हेतु से ये अष्टद्रव्य पृथक् २ मंत्रों द्वारा परमात्मा के सन्मुख क्षेपण किये जाते हैं और भावना किई जाती है कि "इन जल, सुगंध, अक्षतादि द्रव्यों को हमने अनादिकाल से सेवन किया, परंतु हमारे तृषा, क्षुधादि सांसारिक-ताप दूर नहीं हुए। अतएव हे प्रभू! ये द्रव्य आप के सन्मुख क्षेपण कर चाहते हैं कि आप की तरह हम भी क्षुधा, तृषा, मोह, अज्ञानादि दोषों से रहित होकर आप सरीखी निर्दोष और उत्कृष्ट दशा को प्राप्त होवें"

इस विषय में श्री रत्नकरंडश्रावकाचार में श्रीमान् पंडित सदासुखजी ने भी इस प्रकार कहा है॥ यहां कोई आशंका करे कि भगवान अरिहंत तो आयु पूर्ण करि लोक के अग्रभाग मोक्षस्थान में जा विराजे हैं, धातु-पाषाण के स्थापना रूप प्रतिबिम्ब में आते नहीं, अपना पूजन-स्तवन चाहते नहीं, अपने अनंत ज्ञान, अनन्त सुख में लीन तिष्ठे हैं, किसी का उपकार, अपकार करते नहीं, पूजन-स्तवनादि करनेवाले से राग और निन्दा करनेवाले से द्वेष करते नहीं॥ अपना पूजन-स्तवन तो मान कषाय करि संतापित, अपनी बड़ाई का इच्छुक, स्तवन

करने से संतुष्ट होनेवाला, ऐसा संसारी (रागी-द्वेषी) होय सो चाहे। तो फिर किस प्रयोजन से उन की पूजन कीजाती है? ताका समाधान--जो भगवान् वीतराग तो पूजन-स्तवन चाहते नहीं, परन्तु गृहस्थ का परिणाम शुद्ध-आत्मस्वरूप की भावना में तो लगता नहीं, साम्यभावरूप रहता नहीं, निरालंब ठहरता नहीं, इसलिये परमात्म-भावना का अवलम्बन कर वीतराग स्वरूप के धातु, पाषाणमय प्रतिबिम्ब में संकल्प करि परमात्मा का ध्यान-स्तवन-पूजन कियाजाता है। उस समय कषायादि संकल्प के अभाव से, दुर्ध्यान के छूटने से, परिणामों की विशुद्धता के प्रभाव से देव, मनुष्य, तिर्यन्च तीन शुभ आयु बिना शेष कर्मों की स्थिति घट जाती है तथा पुन्यरूप कर्म प्रकृतियों में रस बढ़ जाता, और पाप प्रकृतियों का रस सूख जाता है। भावार्थ. पापकर्म का नाश होकर सातिशय पुण्यकर्म का उपार्जन होता है॥

फिर यह भी विचारने की बात है कि यथार्थ में पुण्य-पाप के बंध के कारण तो अपने शुभाशुभ भाव हैं। और यह नियम है कि जैसा बाह्य अवलंबन मिलता, बहुधा तैसे ही भाव होते हैं। यद्यपि भगवान् वीतराग मूर्तिमें आते जाते नहीं, किसी का उपकार-अपकार करते नहीं, तोभी उनकी वीतराग मूर्ति का ध्यान-पूजन-नामस्मरण करना, राग-द्वेष नाशने को निमित्त कारण है इससे जीव का परम उपकार होता है। जिसप्रकार अचेतन सुवर्ण, मणि, माणिक्य, रूपा, महल, वन, बाग, नगर, पाषाण, कर्दम, मशान आदि देखने, नाम स्मरण करने, अनुभव करनेसे राग द्वेष उत्पन्न होता, वैसे ही जिनेंद्र की परमशान्त मुद्रा के दर्शन से ज्ञानी पुरुषों के वीतरागता उत्पन्न होती है। संसार में जितने मात्र मत हैं, सब वीतरागता ही को मोक्षमार्ग

बताते हैं अतएव मोक्ष के इच्छुक पुरुषोंको पंचपरमेष्ठी की पूजन, दर्शन, स्तवन, वंदना नित्य करना उचित है ॥

पुनः पूजनमें जो जल, चंदन, अक्षतादि जो चढ़ाया जाता है सो भगवान भक्षण करते नहीं, पूजा किये विना अपूज्य रहते नहीं, वासना लेते नहीं, जैसे राजा की भेंट नजर निछरावल करके आनंद मानते हैं उसी प्रकार भगवान अरिहंत के सन्मुख (अग्रभाग) में हर्षपूर्वक अष्ट द्रव्योंका अर्घ उतारण किया जाता है ॥

पूजन के योग्य नव देव हैं:—१ अरिहंत २ सिद्ध ३ आचार्य ४ उपाध्याय ५ सर्वसाधु ६ जिनवाणी ७ जिनधर्म ८ जिनप्रतिमा ९ जिनमन्दिर । सो अरिहंत प्रतिविम्ब में ही ये नव देव गर्भित होजाते हैं, क्योंकि आचार्य, उपाध्याय, साधु तो अरिहंत ही की पूर्व अवस्था है और सिद्ध होते हैं सो अर्हत पूर्वक ही होते हैं। अरिहंत की वाणी सो जिनवचन, और वाणी द्वारा प्रगट हुआ जो वस्तु—स्वरूप सो जिनधर्म है । अर्हत का विम्ब सो जिनप्रतिमा और वह जहां तिष्टै, सो जिनालय है। इस प्रकार नव देव गर्भित जिनविम्ब तथा उनके ऋषभादि नाम, सम्मेद शिखरादि क्षेत्र, पंचकल्याणादि काल और रत्नत्रय, दशलक्षण धर्म, षोड़शकारणादि भाव (गुण) नित्य ही पूजने योग्य हैं। पवित्र जल को झारी में धारण करके अर्हत प्रतिविम्ब के अग्रभागमें ऐसा ध्यान करे कि "हे जन्म—जरा—मरण को जीतनेवाले जिनेन्द्र! मैं जन्म, जरा, मरणरूप त्रिदोपके नाशार्थ, आपके चरणारविन्द की अग्रभूमि में जल की तीन धारा क्षेपण करूंहूं, आपका चरण—शरण ही इन दोषों के नाश होनेको कारण है"। इत्यादि आठोंद्रव्यों के चढ़ानेके पद बोल कर भावसहित भगवानके अग्रभागमें द्रव्य चढ़ावे ॥ इस प्रकार देश—काल की यो-

ग्यतानुसार पवित्र निर्जन्तु एकादि अष्ट द्रव्यसे पूजन करे, परिणामोंको परमेष्ठीके ध्यान में युक्त करे, स्तवन पढ़े, नमस्कार करे ॥

जिसप्रकार जैनेतर लोग परमात्मा में भूख, तृषा, सोने, जागने आदि दोषों की कल्पना कर उन की निवृत्ति के लिये जल, चंदनादि से पूजन करते हैं, वैसा अभिप्राय जैनियों का नहीं है। क्योंकि परमात्मा (उत्कृष्ट आत्मा) के न तो ये उपाधियां ही हैं न इनका उपचार है। जैनमत की पूजा केवल परमार्थिक सिद्धि के लिये ही है उस के पूर्ण अभिप्राय पूजा के प्रत्येक पद के पढ़ने से भलीभांति झलकते हैं। जो अलौकिक और सच्चे सुख के साधक हैं ॥

यद्यपि जिन पूजा करने में पुण्यरूप शुभ परिणामों के रहने से उन के फलस्वरूप सांसारिक सुख-सम्पदा की स्वयमेव ही प्राप्ति होती है, तथापि सांसारिक भोग-सम्पदा की इच्छा से धर्म साधन करना जिनमत का उद्देश नहीं है, क्योंकि विषय भोगों की वांछा करने से उल्टा पुण्य का अंश हीन होता है। अतएव सांसारिक सुखों की इच्छा रहित होकर अपने आत्मीक सुख की प्राप्ति के लिये ही परमात्मा की पूजन करना सन्मार्ग है, जिनमत का पवित्र उद्देश है ॥

यहां कोई सन्देह करे कि जब जैनमतका उद्देश "अहिंसा धर्म" है और आरंभ करने में थोड़ी या बहुत हिंसा होनी ही है। तो फिर पूजनके आरंभका उपदेश क्यों? तिसका समाधान-आरंभयुक्त द्रव्यपूजन आदि शुभ कार्य गृहस्थ करते हैं, आरंभ-त्यागी मुनि कदापि नहीं करते। तौभी "त्रस हिंसा को त्यागि वृथा थावर न सँघारे" के अनुसार पूजादि सम्पूर्ण क्रियाओं में गृहस्थों को अति यत्नाचार सहित प्रवर्तने की आज्ञा है जिस में बुद्धिपूर्वक-पाप अल्प भी न हो और पुण्य विशेष हो। यद्यपि

सम्यग्ज्ञानी गृहस्थ शुद्धोपयोग को ही इष्ट समझता है तथापि गृहस्थपने में अशुभ त्याग शुभ में प्रवृत्ति होना ही संभव है ॥

प्रत्येक गृहस्थ को पूजन या दर्शन करने के लिये अपनी शक्ति अनुसार थोड़ा-बहुत द्रव्य अवश्यमेव अपने घर से लेजाना चाहिये, खाली हाथ महात्माओं के दर्शनों को जाना योग्य नहीं। दर्शन के समय जो एक-दो आदि द्रव्य चढ़ाये जाते हैं सामान्यतः उस का नाम भी पूजन है। सोही प्रथमानुयोग शास्त्रों में जहां तहां तिर्यंचों एवं शूद्रों द्वारा पुष्प-फलादि चढ़ाकर पूजन करना लिखा है ॥ इस अभिप्राय को लेकर बिना चरणानुयोग की सम्मति के शूद्रादिक को भी पंचांगी पूजन करने का अधिकारी ठहराना ठीक नहीं, यद्यपि सामान्य रीति से पूजन (आदर) करने के सभी अधिकारी हैं तथापि शास्त्राज्ञानुसार प्रत्येकको अपने २ पदस्थ के अनुसार इसका सम्पादन करना चाहिये, अस्पर्शशूद्र केवल दर्शन ही करे। स्पर्शशूद्र एकादि द्रव्य चढ़ाकर दर्शन करे। द्विजवर्ण अभिषेकपूर्वक पंचप्रकारी पूजन करे ॥

जो द्रव्य ममत्वरहित होकर उन महात्माओं के सन्मुख क्षेपण किया जाता है वह अति निर्मल है इसलिये उसे "निर्माल्यद्रव्य" कहते हैं। उस द्रव्य पर चढ़ानेवाले का कुछ भी अधिकार या स्वामित्व स्वतः लेने या किसी को देने का नहीं रहता, इसलिये उस को चाहे सो लेजावे, परंतु अपने तईं किसी भी रीति से अपनाना अत्यंत अयोग्य और पापजनक है। ऐसा करने से इसी भव में कुष्टादि रोग, दरिद्रादि दुःख प्राप्त होते और भविष्य के लिये तीव्र पाप का बंध होता है ॥

यहां कोई प्रश्न करे कि भगवत के सन्मुख चढ़ाये हुए द्रव्य को ग्रहण करने से महापाप क्यों होता है? तिस का उत्तर-

भगवत् को चढ़ाया हुआ द्रव्य यद्यपि महापवित्र, मस्तक पर चढ़ाने योग्य हैं तथापि अपनाने योग्य नहीं है क्योंकि निर्ममत्व होकर (त्याग करके) महात्माओं के सन्मुख अर्पण किया गया है इसलिये अलीन के अधिकारी बनना महापाप का कार्य है॥

दान के विषय में विचारणीय बात॥

यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव देखकर जिस समय धर्मके जिस अंग की न्यूनता दिखाई दे, उस समय उसीको पुष्ट करे, जिससे श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र की वृद्धि हो। एक समय ऐसा था जबकि राजप्रबंध ठीक २ न होने से लूट-खसोट का डर रहता था और लोग अबकी तरह अकेले या दोचार आदमी मिलकर यात्रा को नहीं जा सक्ते थे। उस समय धर्मात्मा-श्रीमान् लोग सर्वप्रकार रक्षा का प्रबंध करके यात्राके लिये संघ निकालते थे, निर्धनोंको मार्ग व्यय देते तथा संघ के सभी लोगों की यथोचित सहायता करते हुए आप धर्मसाधन करते और सर्व संघ को धर्मसाधन कराते थे॥ पश्चात् एक समय ऐसा आया जब धर्मद्रोहियों के द्वारा जैनमन्दिरों, जैनमूर्तियों, जैनशास्त्रों की हानि होने लगी। तब धार्मिक धनाढ्योंने मन्दिरों, मूर्तियों, शास्त्रों की कमी देखकर मन्दिर बनाने, मूर्तियों की प्रतिष्ठा कराने और शास्त्र-भंडार स्थापन करने की ओर रुख फेरा। अब वह समय आ-गया है कि यात्राका मार्ग अति सुलभ होगया है, मन्दिर-मूर्ति-प्रतिष्ठा आवश्यकता से कई गुणी अधिक होचुकी, शास्त्र-भंडार भी छोटे-बड़े जहां तहां मौजूद हैं। इस समय सबसे अधिक आवश्यक्ता सच्चरित्र जैन विद्वान् बनाकर उनके द्वारा

जैनधर्म के तत्त्वोंके सर्वसाधारण में प्रचलित करने तथा धर्मसे अनजान लोगों को धर्मस्वरूप बताकर सच्चे जैनी बनाने की वा प्राचीन ग्रंथों की खोजकर उनके जीर्णोद्धार करने तथा सुलभतासे मिलने के प्रयत्न करने की है इसलिये हरएक धर्मोत्साही पुरुष को मुख्यतापूर्वक विद्यावृद्धि, चारित्र सुधार और धर्म के प्रचार में अपनी योग्यतानुसार तन, मन, धन लगाना चाहिये। यद्यपि हाल में लोगों की दृष्टि विद्यावृद्धि की ओर कुछ २ झुकने लगी है और प्रयत्न भी होने लगा है। परन्तु चारित्र जो दिन २ हीन हो रहा है उसके सुधार की ओर पूरी २ उपेक्षा होरही है। लोग यद्यपि अभीतक जातिभय और लोक-भय एवं धर्मलज्जा से खुलासा तौर पर अभक्ष्य भक्षण करने और दुराचारमें प्रवृतने से डरते हैं, तथापि सत्संग के अभाव और कुसंग के प्रभावसे उस ओर लोगों की रुचि बहुत बढ़-रही है। बहुत लोगों ने गुप्तरूप से ऐश-आराम, आलस्य, लोभ, विषयलम्पटता के वशीभूत होकर शास्त्रोक्त आचार-विचारोंको सर्वथा छोड़ ही दिया है यदि ऐसे नाजुक समयमें चारित्र सुधार की ओर उन्नतिशील, धर्मात्मा या धनाढ्य पुरुष ध्यान नहीं देवेंगे, तो थोड़े ही दिनों में जातिबंधन टूटकर वर्णभेद मिटने और लोगों के प्रत्यक्ष रीति से मांसभक्षी, मदिरापानी आदि व्यसनों युक्त होजाने की आशंका है॥ देखिये! इस अभक्ष्य-भक्षण और असदाचार के प्रभाव से ही दिन २ देश में अनेक रोगों की वृद्धि होरही है, लोग अशक्त और पौरुष-हीन होते जाते हैं, धर्म की रुचि घटती जा रही है, मुनि-अर्यि-का एवं उत्कृष्ट श्रावकों के होने का मार्ग बंद सा हो रहा है, जिस से धर्म की मूर्ति दिन २ क्षीण होती जा रही है, अतएव धर्मज्ञ एवं धर्मोत्साही पुरुषों को सदाचार के प्रचार में कटिबद्ध

होना चाहिये, सिवाय इसके धर्म के अन्य अंग मन्दिर, यात्रा, पूजा, प्रतिष्ठादि की भी आवश्यकतानुसार गौणतापूर्वक सम्हाल करना चाहिये। प्राचीन जिनमंदिरों-धर्मशालाओं का जीर्णोद्धार, तीर्थक्षेत्रों, जिनमन्दिरों, सरस्वतीभंडारों का प्रबंध, प्राचीन ग्रंथों की खोज और उन का जीर्णोद्धार, अनाथ जैनी भाइयों को आजीविका की स्थिरतापूर्वक धर्मसाधन के सन्मुख करना आदि धर्म के अंगों को भी दृढ़ करते रहना चाहिये॥

पात्रदान के पंचातीचार* ॥

(१) दान में दी जानेवाली वस्तु हरित पत्र में रखना (२) हरित पत्र से ढांकना (३) अनादर से दान देना (४) दान की विधि भूलजाना या दान देने की सुधि न रखना (५) ईर्षा बुद्धि से दान देना॥

प्रगट रहे कि ये अतीचार पात्र के आहार दान की मुख्यता से कहे गये हैं अतएव अतीचार बचाने और अतिथि-संविभाग व्रत को निर्दोष पालने के लिये दातार सम्बंधी जो ७ दोष बताये गये हैं उन को न लगने देना चाहिये॥

लाभ—अतिथि-संविभाग अर्थात् दान देने से लोभादि कषायों की मंदता होती तथा धर्म और धर्मात्मा में अनुराग रूप परिणाम होने से तीव्र पुण्यबंध होता है पुनः पात्र के शरीर की स्थिरता होने से धर्मसाधन होकर उसे भी स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति होती है॥

---

* तत्त्वार्थ सूत्र जी में अनादर की जगह परव्यपदेश अर्थात् दूसरे से भोजन देने को कहकर आप और काम में लगजाना और दान की सुधि भूलजाने की जगह आहार का समय टाल आहार देना कहा है सो इन दोनों का प्रयोजन एक ही है केवल शब्द मात्र का अन्तर है॥

व्रती श्रावक के टालने योग्य अन्तराय* ॥

(१) देखने के—१ गीलाचर्म २ हड्डी ३ मांस ४ चार अंगुल रक्त की धार ५ मदिरा ६ विष्टा ७ जीवहिंसा ८ गीली पीव (राध) ९ बड़ा पंचेन्द्री मराहुआ जानवर (मुर्दा) १० मूत्र, इन के देखने से अंतराय होता है ॥

(२) स्पर्श के—१चर्मादि अपवित्र पदार्थ २ पंचेन्द्री बड़ा पशु ३ अव्रती पुरुष+ ४ रजस्वला स्त्री ५ रोम या केश ६ पंख ७ नख ८ आखड़ी भंग करनेवाले पुरुष या शूद्र का स्पर्श होजाय अथवा अपने शरीर या हाथ से कोई छोटा-बड़ा त्रसजीव अचानक मरजाय या मरे हुए का स्पर्श होजाय तो अन्तराय होता है ॥

(३) सुनने के—१मांस २ मदिरा ३ अस्थि ४ मरण होने की आवाज ५ अग्नि लगने आदि उत्पात के शब्द ६ अति कठोर "इस को मारो-काटो आदि" शब्द ७ करुणाजनक रोने का शब्द ८ स्वचक्र-परचक्र के गमन का शब्द ९ रोग की तीव्रता का शब्द १० धर्मात्मा पुरुष के उपसर्ग के समाचार ११ मनुष्य के मरने के समाचार १२ नाक-कान छिदने (कटने) का शब्द १३ चांडाल का शब्द १४ जिनबिम्ब, जिनधर्म और धर्मात्मा के अविनय का शब्द १५ किसी अपराधी के फांसी के समाचार । इन के सुनने से अन्तराय होता है ॥

---

* सिद्धभक्ति किये पीछे अंतराय माना जाता है (२) जिस के दोवार भोजन करने का नियम हो, वह अन्तराय होने पर अंतर्मुहूर्त पीछे पुनः भोजन कर सक्ता है, ऐसा श्री ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने त्रिवर्णाचार के आधार से अपने "गृहस्थ धर्म" में लिखा है ॥

+ जिसका लिंग तथा भ्रष्ट आचरण हो, जो जिनधर्मरहित हो, सप्तव्यसन सेवन करनेवाला तथा अष्ट मूलगुणरहित हो, सो अव्रती जानना ॥

(४) मन के संकल्प के—भोजन करते समय ऐसा विचार उत्पन्न हो, कि यह अमुक भोज्य पदार्थ चाम-मांस-हाड़-रक्त-मदिरा-मल-मूत्र-आदि निषिद्ध पदार्थ सरीखा है, ऐसी ग्लानि होने अथवा भोजन समय मल-मूत्र करने की शंका होनेसे अंतराय होता है ॥

(५) भोजन के—यदि कोई त्यागाहुआ पदार्थ भोजन (खाने) करने में आजाय तो भोजन तजे ॥

व्रती श्रावक के करने योग्य विशेष क्रियाएँ ॥

(१) विशेष हिंसा के, निंद्य तथा निर्दयता के धंधे न आप करे, न औरों को करावे, और न इन की दलाली करे । यथाः—लाख-मोम-गोंद-लोहा-शोरा-सीसा-हथियार-जूता बेचना आदि । खात का ठेका लेना-वृक्ष काटना-घास काटना-तेल पेरना-हलवाईगीरी करना-वनकटी करना आदि । शराब-गांजा-अफीम आदि मादक पदार्थों का ठेका लेना-बेचना । गाड़ी, घोड़ा आदि के किराये का धंधा करना ॥

यद्यपि व्रतप्रतिमा में केवल संकल्पी त्रस-हिंसा का त्याग होता है, आरंभी का नहीं । तथापि अयत्नाचार पूर्वक होनेवाली आरंभी हिंसा भी संकल्पीके भाव को उत्पन्न करती है, ऐसा शास्त्रों का वाक्य है । जैसे, राज्य करना क्षत्रीका आरंभ है अत-एव प्रजा की रक्षा के लिये युद्ध करना, इस प्रकार की विरोधी हिंसा का त्याग करना उसके लिये अशक्य है, तथापि इसमें यत्नाचार का अत्यंत अभाव है । महान् आरंभ और हिंसा का कारण है । युद्धकर्त्ता से सामायिक, प्रोषधादि व्रतोंका निर्विघ्न और यथायोग्य पालन होना असंभव है, इसलिये व्रती स्वतः अपने तई युद्ध न करे, सेनापति, कुटम्बी, भृत्यादि जो युद्ध

करने योग्य हों, सो करें ॥ इसी प्रकार प्रचुर आरंभ और हिंसा का मूल खेती का धंधा है, इस में भी सदाचार का अभाव आदि युद्ध के सदृश सभी दोष उत्पन्न होते हैं अतएव व्रती पुरुष खेती अपने हाथसे न करे, जिसके परंपराय से होती आई हो, वह खेत बेंचे, अपने कुटुम्बी, भृत्यजन आदि से करावे अथवा इस धंधे को छोड़कर और कोई हिंसारहित धंधा करे। सागार-धर्मामृतमें ऐसाभी कहा है कि जघन्य श्रावक अपने तथा अन्य के द्वारा पशुओंका ताड़न-पीड़नादि न करे। और कृषीमें यह बात मुख्यपनेसे होती ही है अतएव खेती करना व्रतीके योग्य नहीं है ॥

यहां कोई सन्देह करे, कि कृषी-वाणिज्यादि आरंभ का त्याग जब अष्टमी प्रतिमामें कहा है तो व्रत प्रतिमा में इसका निषेध कैसा? तिसका समाधान—जैसे छठी प्रतिमामें रात्रिभुक्ति त्याग कहा है तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि पांचवीं प्रतिमा वाला रात्रिभोजन करता होगा, नहीं २ रात्रिभोजन का त्याग तो प्रथम प्रतिमा में ही होचुका है, छठी में तो केवल कारित-अनुमोदना सम्बन्धी अतीचारों का त्याग होता है। इसी प्रकार पंचमी प्रतिमा में बीज, कंद, मूलादि सचित्त भक्षण का त्याग कहा है इससे कोई ऐसा न समझले, कि चौथी प्रतिमावाला कन्दमूल खाता होगा. नहीं२, इनका त्याग दर्शनप्रतिमा के २२ अभक्ष्य में तथा रहा-सहा व्रतप्रतिमा के अनर्थदंडत्याग व्रत में होचुका है, यहां पंचमी प्रतिमा में तो केवल सचित्त का त्याग कराया है। इन दोनों दृष्टान्तोंसे भलीभांति समझमें आजायगा कि सप्तमी प्रतिमावाला ब्रह्मचारी होकर कदापि अपने हाथ से खेती नहीं करता, भला वह सचित्तत्यागी, रात्रिभुक्तित्यागी, ब्रह्मचारी होकर हल-बखर लेकर खेत जोते और प्रत्यक्ष छोटे-

बड़े हिलते-चलते त्रस जीवोंका निर्भयता पूर्वक घात करे, यह कैसे संभव होसक्ता है? कदापि नहीं ॥

इस में संदेह नहीं कि अल्प आरंभी, अल्प परिग्रही श्रावक ही भावशुद्धिपूर्वक अणुव्रतों का पालन करसक्ता है। कषाय मंद होकर जिस२ प्रकार प्रतिमा बढ़ती जाती है वैसे २ ही इन्द्रियों के विषय, आरंभ, परिग्रह घटते जाते हैं। यहां कोई प्रश्न करे कि जिस का धंधा ही खेती या युद्ध का हो, वह क्या करे? तिस का समाधान—जो परिणामों की विशुद्धतापूर्वक अहिंसादि अणुव्रत, सामायिक आदि शील पालना चाहे तो खुद अपने हाथ से ऐसे दीर्घ हिंसा एवं आरंभ के कार्य न करे, अपने कुटुम्बी, परिकर, नौकर-चाकरों को करने दे और आप ऐसे धंधे छोड़ अल्प आरंभ-अल्प परिग्रह के धंधे करे ॥

(२) आंखों दीखते त्रस जीवों का घात न करे। जितने कार्य गृहसम्बन्धी या धर्मसम्बन्धी व्रती के करने योग्य हों, सब में यत्नाचार पूर्वक देख-शोधकर प्रवृत्ति करे, क्योंकि अयत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करनेसे हिंसा न होते हुए भी हिंसा सम्बन्धी पापास्रव होता है ॥

(३) एक जीव को मारडालने से बहुत जीवों की रक्षा होती है, ऐसा मानकर सर्प, बिच्छू, सिंहादि हिंसक जीवों को न मारे। प्रश्नोत्तरश्रावकाचार में स्पष्ट कहा है कि व्रत प्रतिमा-वाला शत्रु को भी मुकी-लाठी आदि से नहीं मारता तो सिंहा-दि का मारना कैसे संभवे? कदापि नहीं ॥ इसी प्रकार देव, गुरु, धर्म के निमित्त भी कभी भूलकर हिंसा न करना चाहिये और न दुखी जीवों को दुख से छूटजाने के अभिप्राय से मारना चाहिये ॥

(४) सदा उठते-बैठते-चलते-फिरते कोई भी कार्य करते

इस बात का विचार रखना चाहिये कि मेरे ही समान सब जीवों को सुख-दुख व्यापता है, इसलिये जिस प्रकार रोजगार धंधों में हिंसा, झूठ आदि की प्रवृत्ति कम होती देखे, उसी तरह शरीर तथा कुटुम्ब का पालन करता हुआ प्रवर्ते, इसीलिये व्रती श्रावक को "अल्पसावद्यआर्य" संज्ञा है। सागारधर्मामृत में भी कहा है कि व्रती अल्पसावद्ययुक्त आजीविका करे॥

(५) हिंसा तथा व्रतभंग से बचानेवाली नीचे लिखी बातों पर ध्यान देवे. (१) रात्रिका बनाया हुआ भोजन भक्षण न करे (२) जाति-बिरादरी के बड़े २ जिम्मणों (ज्योंनारों, दावतों, गोटों) में भोजन न करे, क्योंकि वहां शुद्ध-अशुद्ध, भक्ष्य-अभक्ष्य, मर्याद-अमर्याद, छनापानी-अनछनापानी आदि बातों का कुछ भी विचार नहीं रहता (३) रसोई बनाते या जीमते वक्त शुद्ध, धोयाहुआ वस्त्र पहिने (दौ. क्रि. को.) (४) नीचजाति तथा निकृष्ट धंधे करनेवालों से लेन-देन, बैठक-उठक आदि व्यवहार न रक्खे (५) बाग-बगीचे में भोजन अथवा गोट न करे (६) पशु-मनुष्यादि का युद्ध न देखे (७) फूल न तोड़े (८) जलक्रीड़ा न करे (९) रात्रि को खेलकूद तथा व्यर्थ दौड़-भाग न करे (१०) जहां बहुत स्त्रियां एकत्र होकर विषय-कषाय बढ़ानेवाले गीत-गान करती हों ऐसे मेले में न जावे और न विषय-कषायवर्धक नाटक खेलादि देखे (११) होली न खेले (१२) गाली न देवे, हँसी-मसखरी न करे (१३) चमड़े के जूते न पहिने (१४) ऊनी वस्त्र न पहिने (१५) हड्डी के बटन आदि पदार्थ काम में न लावे (१६) धोबी से कपड़े न धुलावे* (१७) पानी के नलों के डाँटों में यदि चमड़े का पर्दा लगा रहता हो तो नल का पानी दर्शन

* अगर कपड़े धोना हो तो जलस्थान से अलग छनेपानी से धोवे॥

प्रतिमाधारी को न पीना चाहिये। यदि चमड़ा न लगा हो और जीवाणी (बिलछानी) डालने का मुभीता न हो तो व्रत-प्रतिमाधारी न पीवे, क्योंकि जीवाणी उसी जल स्थान में डाले बिना त्रस हिंसा का दोष आता है (१८) धर्मसंग्रहश्रावकाचार में कहा है कि व्रती अनछने जल से स्नान तथा शौच न करे (१९) व्रती श्रावक उत्तम वंश अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य के हाथ का भराहुआ जल पीवे, जो विधिपूर्वक जल छानना जानता हो (दौ. क्रि. को.) (२०) दो घड़ी दिन रहे से दो घड़ी दिन चढ़ेतक हिंसा की निवृत्ति के लिये आहार-पानी न लेवे (२१) जिस देश या क्षेत्र में व्रतभंग होता हो वहां न जावे (२२) व्रती मौनसहित* अन्तराय टाल भोजन करे (२३) दर्शन-पूजन-दानपूर्वक भोजन करे (२४) रात को स्नान न करे इस में विशेष त्रस हिंसा होती है (दौ. क्रि. को.) (२५) व्रत प्रतिमा से लेकर ११ वीं, प्रतिमा तक रात्रि को एकान्तस्थान में नग्न ध्यान धरसक्ता है। दिन को तथा सर्व स्त्री-पुरुषों के आने जाने के स्थान में नग्न ध्यान न धरे (पीयूषवर्षश्रावकाचार) ॥

व्रती श्रावक सात जगह मौन रखे—(१) भोजन-पान (२) स्नान (३) मलमोचन (पेशाब-पाखाना) (४) मैथुन (५) वमन (६) पूजन (७) सामायिक के समय। तथा ७ जगह चँदेवा बांधे—(१) चूल्हा अर्थात् रोटी बनाने की

---

* व्रती श्रावक को भोजन के समय कोई भी चीज लेने के लिये सैन, खांस, हुंकार, हाथपांव आदि का इशारा न करना चाहिये, नहीं करने के लिये इशारा करने की रोक नहीं है ॥ मौन रखने तथा अंतराय पालने से जिह्वाइन्द्री वश होती, संतोष भावना पलती, वैराग्य दृढ़ होना, संयम पलना, भिक्षा फिर करने से एषणा समिति पलती तथा वचन की सिद्धि आदि अनेक अतिशय लाभ होते हैं ॥

जगह तथा भोजन करने की जगह (२) परिंडा (घिनौंची) पर (३) घट्टी (आटा-चक्की) पर (४) ऊखली पर (५) अनाज आदि रसोई के सामान साफ करने की जगह पर (६) सोने बैठने की जगह पर (७) सामायिक-स्वाध्याय करने की जगह पर ॥

(१) अस्पर्श शूद्रों के दर्शन प्रतिमातक होसक्ती है, वे व्रत प्रतिमा पालन नहीं करसक्ते, क्योंकि उन के धंधे ऐसे निकृष्ट, हिंसायुक्त तथा मानसिक वासनायें ऐसी असंस्कृत (संस्कार-रहित) होती हैं जिस से वे व्रत धारण करने को समर्थ नहीं होसक्ते* । यद्यपि प्रथमानुयोग के ग्रंथों में कई अस्पर्श शूद्रों के व्रत पालने का वर्णन आया है सो उस पर जब अच्छी तरह पूर्वापर विचार किया जाता है, तो निश्चय होता है कि यह बात सामान्य रीति से कोई एक आखड़ी पालने की अपेक्षा कहीगई है अथवा दर्शन प्रतिमा में कहे अनुसार स्थूल-पापों के त्यागरूप व्रतों के धारण करने की अपेक्षा कही गई है। ऐसे ही अभिप्राय को लेकर जल छानकर पीने की मुख्यता प्रगट करने के लिये पं. सदासुखजीने श्रीरत्नकरंड श्रा. चा. की भाषा टीका में लिखा है कि "खेती करते हुए हजारों मन अनछना पानी खेतों में पिलावे, परन्तु आप एक बूंद भी अन-छना पाणी न पीवे" सो ऐसा सामान्य व्रत दर्शन प्रतिमा में ही संभवै है ॥ इसीप्रकार कई जगह अव्रतियों को श्रावक या श्रावकोत्तम कहा है सो सामान्यरीतिसे छद्मस्थ ज्ञानगोचर मि-थ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्य के त्यागकी अपेक्षा जानना चाहिये ॥

---

* इसीप्रकार स्पर्श-शूद्र ऐलक तथा मुनि-वृत्ति धारण नहीं करसक्ते । पूर्व मह-र्षियों ने अपने सूक्ष्मदर्शी ज्ञान-नेत्र द्वारा जिस द्रव्य में जिस क्षेत्र-काल के आश्रय जितने उत्कृष्ट या निकृष्ट भाव होने की शक्ति देखी, उतने ही भाव के साधन निमित्त उसी मर्यादा तक बाह्य क्रियाचरणों (व्रतों) के धारण करने का उपदेश दिया है ॥

(२) तत्त्वार्थबोध तथा दौलत कि. को. में कहा है कि तिर्यंच मध्यम व्रत प्रतिमा पालन करसक्ता है सो उसका भाव ये है कि वो सामान्यरीति से व्रत पालन करसक्ता है अर्थात् छनेहुए पानी और शुद्ध आहार की जगह डाहला पानी तथा सूखे तृण, पत्ते खाकर अपना व्रत निर्वाह करसक्ता है इस से विशेष व्रत पालने को असमर्थ है ॥

(३) सागार-धर्मामृत तथा धर्मसंग्रह-श्रावकाचार आदि में कहा है कि गृहत्यागी व्रती, पंचाणुव्रत को मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना इन नव भंगों से पालन करसक्ता है परंतु गृहवासी व्रती मन-वचन-काय, कृत-कारित इन छह ही भंगों से पालन करसक्ता है, उसके अनुमोदना सम्बन्धी त्याग दशवीं प्रतिमा में होता है । इस से ऐसा प्रगट होता है कि व्रत प्रतिमा से भी यदि कोई गृहत्यागी होना चाहे तो हो-सक्ता है । यह गृहत्यागी-व्रती सादे, वैराग्यसूचक वस्त्र पहिने, जिस से दूसरे लोग उसे गृहत्यागी जान योग्य सहायता-सेवा-इत्यादि करें । चौमासा करे, विशेष गमनागमन न करे, क्योंकि गृहस्थों के तो कुटुम्बपालन के लिये उद्योग-आरंभ करने के कारण सदा गमनागमन तथा विशेष कर बरसात में जहां तहां जाने-आने सम्बन्धी विशेष हिंसा होती है परंतु गृहत्यागी के गृहारंभ रहा नहीं, इसलिये कारण के अभाव होने से कार्य का अभाव होना ही चाहिये ॥ यहां कोई प्रश्न करे कि गृह-त्यागी भोजनादि निर्वाह कैसे करे ? तिस का समाधान—जो विना दीनता दिखाये, विना भिक्षा मांगे, भोजन-वस्त्र प्राप्त होने की अपनी (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की) योग्यता देखे, तो गृहत्यागी होवे । सिवाय इस के सप्तमी प्रतिमा तक स्नानसम्ब-न्धी आरंभ कर सक्ता और अष्टमी प्रतिमातक रुपया पैसा पास

रखसक्ता है, इसलिये जो कोई आदरपूर्वक भोजन-वस्त्रादि देवे तो ले लेवे, नहीं तो आप अपने दामों से आवश्यक वस्तु आदि मोल ले लेवे तथा अपने हाथ से रसोई बनाकर भोजन करे, परंतु दूसरों के सन्मुख दीनता न दिखाता फिरे और न अनादरपूर्वक भोजनवस्त्रादि ग्रहण करे, क्योंकि जैनमत में सिंहवृत्तिरूप त्याग का उपदेश है, इस लिये जिस प्रकार धर्म की हँसी वा निन्दा न हो, परिणाम उत्कृष्ट एवं उत्साहरूप रहें, उसी प्रकार योग्यतानुसार धर्मसाधन करे ॥

व्रतप्रतिमा धारण करने से लाभ ॥

पंचाणुव्रत धारण के लाभ बताते हुए कह ही चुके हैं कि व्रतों के धारण करने से लोक में प्रामाणिकता (विश्वास), यश, बड़प्पन, सुख, समृद्धि की प्राप्ति होती है, किसी प्रकार सामाजिक, राजनैतिक आपदायें* नहीं आसक्तीं। समाज में वेश्या-नृत्य, आतिशबाजी, फिजूल खर्ची, कन्याविक्रय, जालसाजी आदि हानिकारक कुरीतियां नहीं रह सक्तीं. पुनः गुणव्रतों-शिक्षाव्रतों के भलीभांति पालन करने से ऊपर की प्रतिमाओं का धारण करना सहज होजाता है। पापअंश घटता और पुण्यअंश बधता है, धर्म की निकटता एवं शान्तिसुख की प्राप्ति होती है। तीव्र सातिशय पुण्यबंध होकर परलोक में उत्कृष्ट सांसारिक अभ्युदयों की प्राप्ति होती और अन्त में निराकुलित सुख के पुंज मोक्षपद की प्राप्ति होती है ॥

---

* पिनलकोड (ताजीरातहिन्द) की कोई दफअ् नहीं लग सक्ती ॥

तृतीय सामायिक प्रतिमा ॥

सामायिक व्रत में कह ही आये हैं कि रागद्वेष रहित होकर शुद्धात्मस्वरूप में उपयोग को स्थिर करना सो यथार्थ सामायिक है। इस सामायिक की सिद्धि के लिये श्रावक अवस्थामें द्वादश अनुप्रेक्षा, पंच परमेष्ठी, आत्मा के स्वभाव-विभावोंका चिंतवन एवं आत्मस्वरूप में उपयोग स्थिर करने का अभ्यास करना, सो सामायिक प्रतिमा है ॥

सामायिक के आदि-अन्त में एक २ नमस्कार, चारों दिशाओं में नव २ णमोकारमंत्र सहित तीन २ आवृत्ति, एक २ शिरोनति (प्रणाम) करे, शरीर से निर्ममत्व होता हुआ सब जीवों से समताभाव रक्खे, आर्त्त-रौद्र ध्यान तजे और खड्गासन या पद्मासन में से कोई एक आसन मांडे, मन-वचन-काय के तीनों योगों की निर्दोष-प्रवृत्ति सहित प्रभात-मध्याह्न-सायं-काल तीनों संध्याओं में नियमपूर्वक नियत समय पर तथा नियत समय तक निरतीचार सामायिक करे, इस प्रकार आत्म-हित के लिये परिणामों की विशुद्धिता का इच्छुक सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक कहाता है ॥

सामायिक बाधारहित स्थान में करे, सामायिक के समय अल्प वस्त्र रक्खे, शरीर, मस्तक, गला सीधा तथा स्थिर रक्खे, दोनों पांवों में चार अंगुल का अंतर रखकर काष्ठवत् स्थिर खड़ा होवे या पद्मासन से बैठे, इधर-उधर न देखे, नासाग्रदृष्टि रखताहुआ सामायिक में चित्त लगावे ॥

सामायिक के प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, सामायिक, स्तुति, वन्दना, कायोत्सर्ग इन षट्कर्मों को भले प्रकार सम्हाले, इनका

अनुभव करे, तप* संयम का अभ्यास करे । जिस प्रकार सामायिक संयम के योग्य-पात्र मुनि हैं परंतु श्रावक भी योग्यतानुसार अभ्यासरूप सामायिक करते हैं, उसी प्रकार तप-संयम के योग्य-पात्र तो मुनि ही हैं तथापि इन का यथासंभव अभ्यास श्रावकों को भी करना चाहिये ॥

यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि सामायिक-व्रत और सामायिक प्रतिमा में क्या अन्तर है? तिसका समाधान-शिक्षाव्रत में समय की मर्यादा अथवा शाम-सुबह-दोपहर को नियमित समय से कुछ आगे-पीछे, काल का अंतर पड़ने सम्बन्धी दोष आता था, अथवा सामायिक व्रती कदाचित् (कभी) कारण विशेष से प्रातःकाल, संध्याकाल दो ही समय सामायिक करता था परंतु यहां प्रतिमारूप होने से नियमपूर्वक त्रिकाल यथावत् सामायिक करता है। सामायिक व्रत में लगनेवाले

---

* सांसारिक विषयों की इच्छारहित होकर आत्माको तपाना (निर्मल करना) सो तप है. तप बाह्य-अंतरंग दो प्रकार के हैं। बाह्य तप १ अनशन (उपवास)। २ ऊनोदर (भूख से कम खाना)। ३ वृत्तिपरिसंख्यान (यथाशक्ति गृहस्थ के योग्य अटपटी आखड़ी लेना)। ४ रसपरित्याग (घी, शक्कर, दूध, दही, नमक, तेल इन छहों रसों में से कोई एक दो आदि रस छोड़ना)। ५ विविक्त शय्यासन (जहां ध्यान-स्वाध्याय में विघ्न के कारण न हो, ऐसे स्थान में सोना, बैठना)। ६ कायक्लेश (कायोत्सर्ग करना, शीत उष्णादि परीषह सहना) ॥

अंतरंग तप-१ प्रायश्चित्त-(लगे हुए दोषों को दंड लेकर निर्मल करना)। २ विनय-(सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तप तथा उन के धारकों का विनय करना)। ३ वैयावृत्त्य-(चार प्रकार संघ की सेवा-सहायता करना)। ४ स्वाध्याय-(शास्त्रों का यथारीति अध्ययन करना)। ५ व्युत्सर्ग (शरीर से ममत्व छोड़ना)। ६ ध्यान-(आत्म-चिंतन करना, धर्म-ध्यान करना) ॥

इन्द्रियों को विषयों से रोकते हुए छः काय के जीवों की रक्षा करना सो संयम है ॥ वह दो प्रकारका है। (१) इन्द्रियसंयम अर्थात् स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु-श्रोत्र-मन इन छहों को वश करना। (२) प्राणि संयम अर्थात् पृथ्वीकाय-जलकाय-अग्निकाय-वायुकाय-वनस्पतिकाय-त्रसकाय के जीवों की रक्षा करना ॥

उपर्युक्त दोष ऐसे नहीं थे, जिन से सामायिक व्रत भंग होजाय, केवल सूक्ष्म-मलरूप थे, सो यहां उन का अभाव हुआ। भावार्थ. सामायिक प्रतिमावाला निर्दोष सामायिक करे। पुनः नीचे कहे-हुए ३२ दोष न लगावे, उपसर्ग आने पर भी प्रतिज्ञा से न टले और रागद्वेषरहित हुआ सहन करे ॥

सामायिक सम्बन्धी ३२ दोष ॥

(१) अनादर से सामायिक न करे (२) गर्व से सामायिक न करे (३) मान-बड़ाई के लिये सामायिक न करे (४) दूसरे जीवों को पीड़ा उपजाता हुआ सामायिक न करे (५) हिलता हुआ सामायिक न करे (६) शरीर को टेढ़ा रखता-हुआ सामायिक न करे (७) कछुवे की नांई शरीर को संकोचता हुआ सामायिक न करे (८) सामायिक के समय मछली की नांई नीचा ऊंचा न हो (९) मन में दुष्टता न रक्खे (१०) जैनमत की आम्नाय के विरुद्ध सामायिक न करे (११) भययुक्त सामायिक न करे (१२) ग्लानि सहित सामायिक न करे (१३) मन में ऋद्धिगौरव रखता हुआ सामायिक न करे (१४) जाति कुल का गर्व रखता हुआ सामायिक न करे (१५) चोर की नांई छिपताहुआ सामायिक की क्रिया न करे (१६) सामायिक का काल व्यतीत होने पीछे सामायिक न करे अर्थात् समय पर करे (१७) दुष्टतायुक्त सामायिक न करे (१८) दूसरे को भय उपजाता हुआ सामायिक न करे (१९) सामायिक के समय सावद्य वचन न बोले (२०) परकी निंदा न करे (२१) भौंह चढ़ाय सामायिक न करे (२२) मन में संकुचता हुआ सामायिक न करे (२३) दशों दिशाओं में इधर उधर अवलोकन करता हुआ सामायिक न करे (२४)

स्थान के देखे शोधे विना सामायिक को न बैठे (२५) जिस तिस प्रकार सामायिक का काल पूरा न करे (२६) सामायिक की सामग्री लँगोटी-पूँजणी-क्षेत्र आदि के मिलने पर या न मिलने पर सामायिक में नागा न करे (२७) वांछायुक्त हुआ सामायिक न करे (२८) सामायिक का पाठ हीन न पढ़े अथवा सामायिक का काल पूरा हुआ विना न उठे (२९) खंडित पाठ न पढ़े (३०) गूंगे की नांई न बोले (३१) मैंढ़क की नांई ऊंचे स्वर से टर्र २ न बोले (३२) चित्त चलायमान न करे ॥

सामायिक करनेवाला अपने साम्यभाव के निमित्त द्रव्य-क्षेत्र काल-भाव अनुकूल मिलावे, साम्यभाव के बाधक कारणों को दूरही से छोड़े, जैसा कि सामायिक व्रत में विस्तार से कहा गया है ॥

रेल, मोटर, जहाज़ आदि जिसका चलना, ठहरना अपने आधीन न हो, ऐसी पराधीन सवारी में बैठकर मुसाफिरी करने से सामायिक की प्रतिज्ञा का नियमित रूप से पालन होना असंभव है। सामायिक के समय पराधीन-सवारी चलते रहने से क्षेत्र का कोई प्रमाण नहीं रहसक्ता, सामायिक की प्रतिज्ञायें सर्वथा प्रकार नहीं पलसक्ती और न अपने द्वारा होनेवाली हिंसा रुकसक्ती है। मुसाफिर उतरते, बैठते, लड़ते भिड़ते धक्कियाते हैं तथा सवारी के चलने में भी धक्के लगते हैं जिससे मन, वचन, काय की थिरता (निश्चलता) नहीं रहसक्ती। इसप्रकार साम्यभाव के बाधक अनेक कारण उपस्थित होते हैं ॥ उपर्युक्त पराधीन सवारियों में बैठने से चाहे नाममात्र सामायिक भलेही कर लीजाय, परन्तु सामायिक रूप क्रिया का जो फल होना चाहिये, सो कुछ भी नहीं होता। अतएव या तो सामायिक का काल छोड़ अन्य समय ऐसी सवारीद्वारा गमनागमन करे या अपनी

घरू (स्वतंत्र) सवारी रक्खे। अथवा जो बहु-आरंभी, बहु-परिग्रही होने के कारण पराधीन सवारी छोड़ने को असमर्थ हो, जिसको समय-बेसमय अचानक ही यहां-वहां जाना पड़ता हो, वह व्रत प्रतिमा ही धारण कर यथाशक्य सामायिक व्रत का पालन करे क्योंकि विना परिणामों की निर्मलता के नाममात्र सामायिक प्रतिमा धारण करलेने से तो कुछ लाभ नहीं। यहां तो परिणामों की निर्मलता नित्य नियमित रूप से ही नहीं, किन्तु उन्नति रूप होना चाहिये। यही अंतर यथार्थ में सामायिक व्रत और सामायिक प्रतिमा में है। धर्म धारण करना आत्म कल्याण के लिये है, ख्याति-लाभ पूजा के लिये नहीं है। अतएव जिसप्रकार विषय-कषाय घटने की तथा परिणामों में वीतरागता और शान्ति उत्पन्न होने की पद्धति आचार्यों ने वताई है, उसे ध्यान में रखकर धर्मसाधन करना मुमुक्षुओंका परम कर्तव्य है॥

लाभ-सामायिक प्रतिमा धारण करने से प्रतिदिन त्रिकाल, उत्कृष्ट छह २ घड़ीतक हिंसादि पापास्रव रुकते, और आत्म-विचार, तत्त्वविचार में चित्त स्थिर होता है, जिससे सातिशय पुण्यबंध होकर स्वयमेव ही सांसारिक तथा पारमार्थिक सुखों की प्राप्ति होती है॥

चतुर्थ प्रोषध प्रतिमा॥

प्रोषध-शिक्षाव्रत में प्रोषधोपवास की विधि विस्तारपूर्वक वर्णन करही आये हैं, सो ही सब क्रिया यहां समझना चाहिये। यद्यपि वहां पर भी सब दोष न लगने की पूरी खबरदारी रक्खी जाती थी, तो भी कारण विशेष से प्रोषध-व्रत में एक-वार उष्ण-जल लेने अथवा एकासना करने की भी प्रतिज्ञा लेकर

तदनुसार ही व्रत पालन किया जाता था, अब यहां प्रोषध प्रतिमा प्रतिज्ञा रूप है, इसलिये परीषह-उपसर्ग आने पर भी शक्ति को न छिपाकर प्रत्येक अष्टमी-चतुर्दशी को यथाशक्य उत्कृष्ट-मध्यम-जघन्य प्रोषधोपवास कर सामायिकवत् १६ प्रहर तक आहार, आरंभ, विषय, कषाय रहित होकर उत्कृष्ट प्रवृत्ति करना चाहिये ॥

प्रोषधोपवास के दिन यथासंभव मन-वचन-काय की प्रवृत्ति रोके, यदि प्रवृत्ति करना ही पड़े तो शुभ और समिति रूप करे। हरएक वस्तु देख-शोधकर उठावे-धरे। मल, मूत्र का त्याग ऐसे स्थान में करे, जहां जीवों को बाधा न हो और न नये जीव उपजें ॥

लाभ-प्रोषध-प्रतिमा के धारण करने से नित्य-नैमित्तिक सामायिक के काल के अतिरिक्त एक माह में चार दिन का समय निराकुलतापूर्वक धर्मध्यान करने तथा आत्मस्वरूप में उपयोग लगाने के लिये और भी मिलता है, जिस से पाप अंश की कमी और पुण्य अंश की वृद्धि होती है। यह क्रिया मोक्ष-मार्ग की पूरी सहकारिणी है ॥

पंचमी सचित्त-त्याग प्रतिमा ॥

जो दयालु पुरुष कच्चे (सचित्त) कन्द, मूल, फल, शाक, शाखा, करीर (अंकुर अथवा गाभा) पुष्प, बीज आदि भक्षण करने का त्याग करता है सो सचित्तत्याग प्रतिमाधारी कहाता है ॥

सचित्तभक्षण का त्याग स्वदया (आत्मदया) परदया एवं जिह्वा वश करने अथवा अन्य २ इन्द्रियों के दमनार्थ किया जाता है। जो सचित्त त्यागी हैं, वे श्री जिनेंद्रदेव की आज्ञा और प्राणियों की दया पालते हुए धर्म में तत्पर होते हुए अति कठिनता से जीती जानेवाली रसना-इन्द्री को वश करते हैं ॥

कच्ची वनस्पति, कच्चा जल और बीज* इन सब सचित्त पदार्थों को अचित्त होने पर भक्षण करने का अभिप्राय यही है कि जिस से स्थावर काय के जीव भी भक्षण करने में न आवें और अचित्त-पदार्थों के भक्षण करने का रसना इन्द्रिय का स्वभाव पड़जाय। इसीलिये जल को गर्म करके अथवा तिक्त द्रव्य डालकर, तरकारी को सुखाकर, सिझाकर या छोटे २ टुकड़े करके उस में सर्वाङ्ग तिक्त द्रव्य का असर पहुंचाकर तथा बीज को बांटकर या पीसकर अचित्त करके खाते हैं ॥

यहां "कन्द-मूलादि सचित्त भक्षण न करें" ऐसा कहा है। इस से कोई ऐसा न समझ ले कि चौथी प्रतिमावाला सचित्त कन्द-मूल खाता होगा, इसलिये पंचमी प्रतिमावाले के लिये इस अनंत काय (कन्द-मूलादि) को अचित्त करके भक्षण करने की विधि बताई है। नहीं २ ! कन्द-मूलादि अनंतकाय या पुष्पादि त्रसजीवों करके सशंकित वनस्पतियों का त्याग तो भोगोपभोग परिमाण व्रत में ही हो चुकता है; यहां तो केवल सचित्त त्याग और अचित्त भक्षण की विधि होने से सामान्य रीति से कन्द-मूल-पुष्प-फलादि सभी सचित्त वनस्पतियों के नाममात्र आचार्यों ने कहे हैं ॥ पुनः सचित्तत्यागी ने पहिले भोगोपभोग परिमाण व्रत में जितनी सचित्त-वस्तुओं के भक्षण करने का प्रमाण किया हो, उन्हीं को अचित्त हुई खावे और जिनका अचित्त-सचित्त दोनों भंगों से त्याग करदिया हो, उन को अचित्त भी न खावे। इसी अभिप्राय को लेकर सकल-कीर्ति श्रावकाचार में कहा है कि सचित्तत्यागी, भोगोप-भोगपरिमाण व्रत में त्याग किये हुई वनस्पतियों को अचित्त भी न खावे ॥

* सूखा बीज योनिभूत होनेसे शास्त्रों में उसे सचित्त कहा गया है, और हरा बीज तो सचित्त है ही ॥

प्राशुक (अचित्त) करने की विधि ॥

गाथाः—सुक्कं, पक्कं, तत्तं आमललवणेहि मिस्सियं दव्वं ॥
जं जंतेणय छिण्णं, तं सव्वं फासुयं भणियं ॥ १ ॥

अर्थ—सूखाहुआ, अग्नि तथा धूप द्वारा पकाहुआ, गर्महुआ, खटाई-लवण मिश्रित हुआ, यंत्रद्वारा छिन्न-भिन्न अर्थात् टुकडे २ हुआ, पिसा हुआ, दला हुआ, रगड़ा या बांटा हुआ, निचोड़ा हुआ ये सब आचार्यों द्वारा प्राशुक कहेगये हैं ॥

(नोट) सचित्तत्यागी धूप द्वारा पकेहुए फलों में गुठली (बीज) सचित्त होने के कारण, फलों में से अलग हुआ गूदा भक्षण करते हैं। यदि गूदा सशंकित सचित्त हो तो छिन्नभिन्न हुआ तथा लवणादि तिक्तद्रव्य-मिश्रित हुआ खाते हैं ॥

सचित्तत्यागी अपने हाथ से यत्नाचारपूर्वक रसोई बनासक्ता अर्थात् अन्न-जल-सागादि सामग्री अचित्त करके खासक्ता है क्योंकि इस प्रतिमा में केवल जिह्वा इन्द्रिय की लोलुपता घटाने का मुख्योद्देश है, आरंभ त्याग का नहीं। ज्ञानानंदश्रावकाचार में भी कहा है कि "सचित्त भक्षण करने का त्याग तो पंचमी प्रतिमाधारी के होता है और शरीरादिक से स्पर्श करने का त्याग मुनि के होता है" इससे सिद्ध हुआ कि इस प्रतिमा में सचित्तभक्षण मात्र का त्याग है। तौ भी सागारधर्मामृत और धर्मसंग्रहश्रावकाचार में कहा है कि "सचित्त त्यागी, सचित्त वस्तुका भक्षण करना तो दूर रहे किन्तु पाँवसे भी न छूवे, पृथ्वी, अग्नि, पवन कायादि की दया पाले"। क्रियाकोषों में भी कहा है कि "हाथ पांव धोने को सचित्त मिट्टी न लेवे"। इन उपर्युक्त वाक्यों से यद्यपि परस्पर विरोधसा जान पड़ता है, तथापि विचार करने से यही सिद्ध होता है कि अपने प्रयोजन

के वश रसोई बनासक्ता है। जल, अन्न, साग-तरकारी आदि प्रासुक करके भक्षण करसक्ता है। क्योंकि यहां आरंभ का त्याग नहीं है, तौभी निरर्थक एकेन्द्री की भी हिंसा नहीं करता॥

सचित्तत्यागी रसोई में ऊपर से नमक डालकर न खावे क्योंकि नमक सदा सचित्त कहागया है। मिट्टी से दांत न मले, सूखा फल भी बीज सहित न खावे, क्योंकि उसमें बीज सचित्त होता है। पुनः सचित्त-त्यागी किसी प्रकार का सचित्त दूसरों को भी न खिलावे, ऐसा स्वा० का० अनुप्रेक्षा और गमाधितंत्र में कहा है॥

लाभ-सचितत्याग प्रतिमा धारण करने से जिह्वा इन्द्रिय वश होती, दया पलती। वात-पित्त-कफ का प्रकोप न होनेसे शरीर नीरोग रहता। शारीरिक-शक्ति बढ़ती, कामवासना मन्द पड़ती जिससे चित्त की चंचलता घटती है। अतएव सचित्त त्याग, पुण्यबंध का कारण तथा धर्मध्यान में सहकारी होने से परंपराय मोक्ष की प्राप्ति का भी निमित्त कारण है॥

छट्ठी रात्रिभुक्ति-त्याग प्रतिमा॥

इस प्रतिमा का शास्त्रों में दो प्रकार से वर्णन किया गया है। एक तो कृत-कारित-अनुमोदना से रात्रिभोजन का त्याग करना। दूसरे दिन को स्त्री-सेवन का त्याग करना। ये दोनों प्रकार के त्यागी रात्रिभुक्तित्यागी कहाते हैं। इनका स्पष्ट स्वरूप इस प्रकार है॥

(१) यद्यपि मांस-दोष की अपेक्षा दर्शन प्रतिमा में और बहु-आरंभजनित त्रस-हिंसा की अपेक्षा व्रत प्रतिमा में रात्रिको खाद्य-स्वाद्यादि चारों प्रकार के आहार का अतीचारों सहित त्याग होजाता है तथापि पुत्र-पौत्रादि कुटुम्बी

तथा अन्यजनों के निमित्त से कारित-अनुमोदनासम्बन्धी जो दोष आते हैं, उन के यथावत्-त्याग की प्रतिज्ञा यहां होती है। अथवा श्री ज्ञानानन्द-श्रावकाचार में ऐसा भी कहा है कि स्पर्श-शूद्र की अपेक्षा रात्रि-भोजन सम्बन्धी सब प्रकार के अतीचारों का त्याग यहां होता है। रात्रिभुक्त त्यागी अपने पुत्रादि कुटुम्बियों तथा घर आये हुए पाहुनों को भी रात्रि भोजन नहीं कराता, न करते हुओं की अनुमोदना करता है। यहां तक कि रात्रि को भोजन-अन्नादि दान भी नहीं करता (वर्द्धमानपुराण) ॥

(२) इस प्रतिमावाला मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से दिन को स्त्री सेवन का त्यागी होता है। इस से कोई ऐसा न समझ ले कि पांचवीं प्रतिमावाला दिन को स्त्री सेवन करता होगा, नहीं! वहां तक इस सम्बन्धी कोई सूक्ष्म-अतीचाररूप दूषण लगते थे, यहां उन का भी त्याग हुआ (क्रियन. क्रि. को.) ॥ सागारधर्मामृत में स्पष्ट कहा है कि इस प्रतिमावाला स्त्री के ऋतुमती होनेपर चतुर्थ-स्नान के पीछे, सन्तानोत्पत्ति के निमित्त रात्रि को कदाचित् ही सेवन करता है। यह अत्यन्त विरक्त, काम-इन्द्रिय दमन करनेवाला होता है ॥

स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा की संस्कृत टीका में यह भी कहा है कि इस प्रतिमावाला रात्रिको गृहसम्बन्धी व्यापार, लेन-देन, वाणिज्य-व्यवहार वा गृहस्थीसम्बन्धी चूल्हा, चक्की आदि षट्कर्मों का आरंभ न करे अर्थात् सावद्य (पाप के) व्यापारों को छोड़े। दौलत-क्रियाकोष में रात्रि को मौन करना भी कहा है। सो उस का भाव ऐसा भासता है कि भोजन-व्यापारादि सम्बन्धी विकथा न करे, धर्मचर्चा का निषेध नहीं। समाधितंत्र में कहा है कि रात्रि को गमन न करे। सो यहां भी धर्मकार्य के लिये

यत्नाचार-पूर्वक गमन का निषेध न जानना, अन्य सांसारिक कार्यों के लिये गमनागमन का निषेध जानना॥

लाभ—जो पुरुष इस प्रकार निरतीचार रात्रिभोजनत्याग करता है, उस को रात्रिभोजनसम्बन्धी सम्पूर्ण पापास्रव रुक जाने और संयमरूप रहने से पुण्य का बंध होता है, पुनः दिन को कामसेवन सम्बन्धी दोषों के निवारण करने से शारीरिक बल, तेज, कान्ति बढ़ती और वीर्यान्तराय का विशेष क्षयोपशम होकर ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण करने में सहायता पहुंचती है॥

सप्तमी ब्रह्मचर्य प्रतिमा॥

जो ज्ञानी पुरुष, स्त्री के शरीर को मल का बीजभूत, मल को उत्पन्न करनेवाला, मलप्रवाही, दुर्गंधयुक्त, लज्जाजनक निश्चय करता हुआ सर्व प्रकार की स्त्रियों में मन-वचन-काय कृत-कारित-अनुमोदना से कामसेवन तथा तत्सम्बन्धी अतीचारों का त्याग करता और ब्रह्मचर्य की दीक्षा में आरूढ़ होता है, सो ही ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यप्रतिमाधारी कहाता है॥

ब्रह्मचारी के चेतन-अचेतन सर्व प्रकार की स्त्रियों से उत्पन्न हुए मैथुन के दोषों के त्याग से नीचे लिखे अनुसार शीलके अठारह हजार भेद होते हैं। यद्यपि इन दोषों का त्याग पाक्षिक अवस्था से ही आरंभ होजाता है, तथापि स्त्रीसेवन का सर्वथा त्याग न होने से यथार्थ ब्रह्मचर्य नाम नहीं पासक्ता, निरतीचार त्याग इसी प्रतिमा में होता है। यहां वेद कषाय की इतनी मन्दता हो जाती है कि जिस से कामवेदनासम्बन्धी मूर्छा उत्पन्न ही नहीं होती। यही मंदता क्रमशः बढ़ते २ नवमें गुणस्थान में वेदकषाय का सर्वथा अभाव होजाता है, जिससे आत्मा वेदकषायजनित कुशील की मलिनता से रहित हो जाती है॥

शीलके १८००० भेद ॥

देवी-मनुष्यनी-तिर्यंचनी तीन प्रकार की चेतन स्त्रियों को, मन-वचन-काय तीनों योगों करके, कृत-कारित-अनुमोदना द्वारा, स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु-श्रोत्र पंचेन्द्रियों के वशीभूत होकर, आहार-भय-मैथुन परिग्रह चार संज्ञाओं युक्त, द्रव्य भाव दो प्रकार से, अनंतानुबंधी आदि सोलह कषाय करके सेवन करने से (३×३×३×५×४×२×१६) १७२८० भेदरूप दोष चेतन-स्त्रीसम्बन्धी कुशील के होते हैं ॥

चित्र या लेप (मिट्टी) की-काष्ठ की-पाषाण की बनी हुई तीन प्रकार की अचेतन स्त्रियों को मन-काय* दो योगों द्वारा कृत-कारित अनुमोदना करके, पंच इन्द्रियों के वशीभूत, ४ संज्ञायुक्त, द्रव्य-भाव दो प्रकार सेवन करने से (३×२×३×५×४×२) ७२० भेदरूप दोष अचेतन-स्त्री-सम्बन्धी कुशीलके होते हैं ॥

इस प्रकार चेतन-अचेतन दोनों-सम्बन्धी अठारह हजार कुशील के भेद हुए। इन भेदों द्वारा लगते हुये कुशील के दोषों का जैसा २ त्याग होता जाता है, वैसे २ ही शीलगुण प्राप्त होते जाते हैं ॥

यहां चेतन-स्त्रीसम्बन्धी भेदों में प्रश्न उत्पन्न होता है कि देवांगना का मनुष्य के कायद्वारा सेवन कैसे संभवे? तिस का समाधान-कोई देवांगना किसी मनुष्यके पास किसी

---

* अष्टपाहुड के शीलपाहुड की टीका में स्पष्ट कहा है कि अचेतन स्त्री के वचन नहीं होता, इस से कोई उस से कुशीलसम्बन्धी वचन नहीं कहता ॥ पुनः चर्चा समाधान में अचेतन स्त्री सम्बन्धी भंग इस प्रकार भी कहे हैं। चित्राम-काष्ठ-पाषाण की तीन प्रकार स्त्रियों को, मन करि, कृत-कारित-अनुमोदना करि, पंचेन्द्री के वश, १६ कषाय युक्त होकर विषय की वांछा से (३×१×३×५×१६) ७२० भेद होते हैं ॥

कारण विशेष से आवे, जैसा कि रामचंद्रजी के पास सीता का जीव सीतेन्द्र देवांगना का रूप धारण कर आया था, या कोई मनुष्य मंत्रवल से किसी देवांगना को वश करे और परिणाम विगड़ने से आलिंगन करे या पकड़ लेवे, तो धातु उपधातु रहित वैक्रियक शरीर और औदारिक शरीर का संभोग असंभव होते हुए भी स्पर्शन मात्र से काय सम्बन्धी कुशील का दोष आना संभव होसक्ता है॥

यहां दूसरा प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि अचेतन स्त्री-सम्बन्धी भेदों में चित्राम-काष्ठ-पाषाण की स्त्रियोंका त्याग कराया, सो इन से कुशीलसेवन कैसे संभव होसक्ता है? तिसका समाधान केवल स्त्री सेवन करना ही कुशील नहीं है किन्तु मूर्छापूर्वक मन-वचन-काय की कुशील सेवनरूप प्रवृत्ति होने से भी कुशील का दोष आता है॥

शीलव्रत की नव वाड़ि॥

ब्रह्मचर्यव्रत को निर्दोष पालन करने के लिये नीचे लिखी हुई शील की रक्षक नव वाड़ों की रक्षा करना अवश्य है, जैसे वाड़ि खेत की रक्षा करती, तैसे ही ये नव वाड़ि शील की रक्षा करती हैं। अन्यथा इन के भंग करने से शीलव्रत का भंग होना संभव है॥

कवित्त—तिय थल वास, प्रेम रुचि निरखन, देख रीझ भाखन मधु वैन॥ पूरव भोग केलि रसचिंतन, गरुय अहार लेत चित चैन॥ कर शुचि तन शृंगार बनावत, तिय पर्यंक मध्य सुख सैन॥ मन्मथ-कथा, उदर भर भोजन, ये नव वाड़ि जान मत जैन॥ १॥

अर्थ—(१) स्त्रियों के सहवास में न रहना (२) स्त्रियों को प्रेम रुचिसे न देखना (३) स्त्रियों से रीझकर मीठे २ वचन न

बोलना (४) पूर्वकाल में भोगे हुए भोगों का चिंतवन न करना (५) गरिष्ठ आहार नहीं करना (६) शृंगार-विलेपन करि शरीर सुन्दर न बनाना (७) स्त्रियों की सेज पर न सोना (८) काम-कथा न करना (९) भरपेट भोजन न करना, ये शील की रक्षक ९ बाड़ि जैनमत में कही हैं।

इसी प्रकार श्रीज्ञानार्णवजी में भी ब्रह्मचारी को नीचे लिखे हुए मैथुन के १० दोष टालने का उपदेश है। (१) शरीर का शृंगार करना (२) पुष्ट रस सेवन करना (३) गीत, नृत्य, वादित्र, देखना-सुनना (४) स्त्रियों की संगति करना (५) स्त्रियों में किसी प्रकार काम-भोगसम्बन्धी संकल्प करना (६) स्त्रियों के मनोहर अंगों को देखना (७) स्त्री के अंगों के देखने का संस्कार हृदय में रखना (८) पूर्व में किये हुए भोगों का स्मरण करना (९) आगामी काम-भोगों की वांछा करना (१०) वीर्य-पतन करना॥

ब्रह्मचर्यसम्बन्धी विशेष बातें॥

ब्रह्मचारी को शील की रक्षा निमित्त नीचे लिखी बातों पर ध्यान देकर वर्तना चाहिये॥

(१) भूलकर भी स्त्रियों के सहवास में न रहे (२) जहां स्त्रियां एकत्र होकर रागभावरूप गान करती हों ऐसे मेलों में न जावे (३) स्त्रियों के मनोहर अंग न देखे (४) प्रेमभाव-पूर्वक स्त्रियों से वार्तालाप न करे (५) पूर्वकाल में भोगे हुए भोगों का स्मरण न करे (६) कामोद्दीपक, गरिष्ठ, और भर-पेट* भोजन न करे (७) शौकीनों की नांई मल २ कर न

* ब्रह्मचारी को नित्य एक बार भोजन करना योग्य है जलपान का नियम रक्खे। अन्यमतों में भी ब्राह्मण को दिन में एक बार भोजन करना कहा है। उस का अभिप्राय यही है कि "ब्रह्मचारी नित्य एकवार भोजन करे"॥

नहावे, साधारण रीति से शरीर की शुद्धतामात्र नहावे (८) शौक से कांच में मुंह आदि न देखे (९) शरीर का साज-शृंगार न करे (१०) रागभाव उत्पन्न करनेवाले सुन्दर २ चटकीले-चमकीले, रंगीन, अंगा, पगड़ी आदि वस्त्र तथा आभरण न पहिने सादे-उदासीनता सूचक वस्त्राभरण पहिने (११) शौक के वास्ते कपड़े के भी जूते न पहिने, छतरी न लगावे* (१२) सुगंध, तेल, फुलेल, अतर, विलेपनादि कामोत्तेजक पदार्थों के सूंघने-लगाने का त्याग करे (१३) चेहरे पर सुन्दरता लाने के लिये रुचिपूर्वक सम्हाल २ कर बाल न बनवावे, यत्नाचार पूर्वक साधारण रीति से क्षौर करावे, गृहत्यागी हो तो सम्पूर्ण डाढ़ी, मूंछ, माथे के बालों का मुंडन करावे, केवल चोटी मात्र रक्खे (१४) स्त्रियों की सेज पर न बैठे (१५) स्त्रियों के नृत्य-गायनादि न देखे-सुने (१६) कामकथा तथा रागभाव पूर्वक स्त्रियों सम्बधी चर्चा न करे (१७) मन में कामविकार चेष्टा न करे (१८) वचन से कामविकाररूप वार्ता नै कहे (१९) काय से कामविकार चेष्टा न करे (२०) किसी की हँसी दिल्लगी न करे (२१) शृंगार, हास्य, कामरूप कथा कहानी न कहे और न ऐसे काव्य-नाटक-उपन्यासादि पढ़े-सुने (२२) पलंग पर या कोमल विस्तर पर न सोवे, साधारण वस्त्र-भूमि-चटाई आदि सामान्य-विस्तर पर सोवे (२३) आरामकुरसी-गद्दे-तकिये आदि कोमल, आराम देनेवाले आसन पर न बैठे (२४) अपने विस्तर पर अन्य किसी को न सुलावे, अकेला ही सोवे (२५) ताम्बूल केशरादि कामोद्दीपक वस्तुयें न खावे (२६) उदासीनता-

* चमड़े के जूते पहिनने का त्याग तो दूसरी प्रतिमा में हो गया था। यहां कपड़े के जूते भी शौक से न पहिने, अगर पहिने तो उदासीनरूप पहिने॥ और अष्टमी प्रतिमा में जूता-छतरी का सर्वथा त्याग करे॥

पूर्वक अल्पारंभ रक्खे (२७) स्त्रीवाचक सवारी हथिनी, घोड़ी, ऊंटनी आदिपर न बैठे (२८) वस्त्र अपने हाथ से धो लेवे और बहुत मलीन होने पर उन्हें अलगकर दूसरे ग्रहण करे (२९) पाखाने पर पाखाना तथा मूत्र पर मूत्र मोचन न करे क्योंकि इस में स्त्रीसंगमादिवत् हिंसा है। जहांतक संभव हो व्रत-प्रतिमा ही से इसे तजे और गृहत्यागी व्रती तो अवश्य ही तजे (३०) काष्ठादि की दंतौन न करे सामान्य रीति से कुरला करे (धर्मसं. श्रा.) (३१) दांतों में मिस्सी, आंखोंमें अंजन शौक से न लगावे, औषधि रूप त्याग नहीं है॥

इस प्रकार ब्रह्मचर्य प्रतिमावाला बाह्य विरागरूप रहे और अंतरंग विकार भावों को तजे॥

सागारधर्मामृत तथा स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि ग्रंथों में नीचे लिखे अनुसार पांच प्रकार के ब्रह्मचारी कहे हैं, इन में से सप्तमी प्रतिमावाला नैष्ठिक ब्रह्मचारी जानना। क्योंकि यह ब्रह्मचर्य को धारण कर फिर त्यागता नहीं तथा ऊपर की प्रतिमाओं के धारण करने का इच्छुक रहता है। शेष चार प्रकार के ब्रह्मचारी, नियमित-काल (विद्या पढ़ने) तक ही ब्रह्मचारी रहकर पीछे उसे त्याग गृहस्थाश्रम स्वीकार करते हैं॥

(१) उपनयन ब्रह्मचारी-जो यज्ञोपवीत लेकर ब्रह्मचर्य-युक्त हो, विद्याध्ययन करे, शास्त्रपाठी होकर पश्चात् गृहस्थाश्रम धारण करे। इसका विशेष वर्णन श्री आदिपुराण में इस प्रकार है॥ "जिनभाषित क्रिया के समूह कर, अंतरंग की शुद्धता-पूर्वक यज्ञोपवीत धारे। भलीभांति पढ़ा है जिनसूत्र जाने। यज्ञोपवीत धारण के भेष और व्रत-दीक्षा का देव-गुरुकी साक्षी से विधिवत् प्रतिपालक होय। भेष-शुक्ल वस्त्र और यज्ञोपवीत। देवपूजादि-षट्कर्म ये व्रत और शास्त्रोक्त श्रावक के व्रत सो

दीक्षा है। इस से ज्ञात होता है कि दर्शनप्रतिमा के नियमों को धारण करनेवाला ही यज्ञोपवीत का अधिकारी है। जबतक पढ़े, सिर नंगा, चोटी में गांठ, गले में जनोई, कटि में तीन तागे का डोरा, पवित्र उज्वल धोती पहिरे तथा १ दुपट्टा ओढ़े, इसके सिवाय और कोई वस्त्राभूषण न पहिने, पढ़ने पीछे गृहस्थ बने॥"

(२) अदीक्षित ब्रह्मचारी—जो किसी भेष को धारण किये बिना ही ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याभ्यास करे, पश्चात् गृहस्थ बने॥

(३) अवलम्ब ब्रह्मचारी—जो क्षुल्लक सरीखा रूप धारण कर के विद्याभ्यास करे, पश्चात् गृहस्थाश्रमी हो। इस से मालूम होता है कि किसी को क्षुल्लक विद्वान् के पास रहकर विद्या पढ़ना हो, तो उसी सरीखा भेष बनाकर भी पढ़सक्ता है और पढ़ने पीछे गृहस्थाश्रमी होसक्ता है॥

(४) गूढ़ ब्रह्मचारी—जो बाल्यावस्था में मुनि भेष धारण कर मुनियों के पास पढ़े, पश्चात् माता, पिता, बंधुओं के आग्रह से व कठिन क्षुधा, तृषादि परीषहों के न सहसकने के कारण आप से व राजादि के द्वारा प्रेरित होकर गृहस्थाश्रमी बने। इस से मालूम होता है कि किसी को मुनियों के संघ में रहकर विद्या पढ़ना हो, तो उन सरीखा भेष बनाकर भी पढ़सक्ता है और पढ़ने पीछे गृहस्थाश्रमी हो सक्ता है॥

(५) नैष्ठिक ब्रह्मचारी—जिसने आजन्म ब्रह्मचर्य अंगीकार किया हो, जो चोटी यज्ञोपवीत युक्त श्वेत या लाल वस्त्र धारण करे, कटि में कोपीन रक्खे, देवपूजादि धर्मध्यान में निरंतर सावधान रहे। ये भिक्षावृत्ति, अभिक्षावृत्ति से दो प्रकार के होते हैं (सा. ध.)। यहां ऐसा जान पड़ता है कि गृहवासी-ब्रह्मचारी भिक्षावृत्ति नहीं करते, जो गृहत्यागी हैं, वे ही भिक्षा-वृत्तिपूर्वक आहार ग्रहण करते हैं॥

वर्तमान में जोगी-कनफड़ा-ब्रह्मदंडी आदि अन्यमत के भेषी लाल (गेरुवां) वस्त्र धारण कर भेष बनाते हैं, इस से जैनधर्म के ब्रह्मचारी को ऐसा भेप धारण करना सन्देहजनक होता है। सिवाय इस के आदिपुराण में सफेद वस्त्र धारण करना भी तो लिखा है, अतएव सफेद वस्त्र धारण करना ही श्रेष्ठ है ॥

सागारधर्मामृत में नैष्ठिक ब्रह्मचारी को चोटीमात्र रखना, एक वस्त्र ओढ़ना तथा लँगोटी लगाना कहा है। पार्श्वनाथ पुराण में डाढ़ी-मूछ-माथे का मुंडन क्षुल्लक करावे, ऐसा कहा है। समाधितंत्र में परिग्रह त्यागी को सादे वस्त्र पहिरने की और अनुमति त्यागी को धोती-दुपट्टा तथा पोत्या रखने की आज्ञा है। इन सब उपर्युक्त बातों पर सूक्ष्मरीति पूर्वक विचार करने से स्पष्ट होता है, कि गृहत्यागी-ब्रह्मचारी चोटी मात्र रक्खे, लँगोटी लगावे तथा एक वस्त्र ओढ़नेका नियम पालन करे और गृहवासी-ब्रह्मचारी जब अष्टमी, नवमी दशवीं प्रतिमा में गृहत्यागी हो अथवा क्षुल्लक हो, तब इस प्रकार का भेष धारण करे। परन्तु जबतक गृह में रहे तबतक सादे वस्त्र पहिरे, डाढ़ी-मूछ-माथे के बाल घुंटावे या न घुंटावे, उदासीन रूप रहे। आदिनाथपुराण में चोटी रखनेवाले ब्रह्मचारी को भिक्षा-भोजी कहा है, इस से भी सिद्ध होता है कि भिक्षाभोजी भेष रक्खे और गृहवासी वैराग्ययुक्त सादे वस्त्र पहिने ॥

लाभ-स्त्रियों के वशवर्तीपना होनेसे अंतरंग में दाह और पाप की वृद्धि होती है, सुख-शांति का नाश होता है। अतएव जो धार्मिक पुरुष, स्त्री सम्बन्धी पराधीनता छोड़ दुर्जय काम को जीत ब्रह्मचर्य पालते हैं, वेही सच्चे साहसी सुभट हैं। युद्ध में प्राण विसर्जन करनेवाले शूर उनके साम्हने तुच्छ हैं, क्योंकि ऐसे

युद्ध-शूर काम द्वारा जीते हुए हैं, अतएव इस जगजयी काम-सुभट को जिन ब्रह्मचारियों ने जीता, वे ही मोक्षमार्गी महा सुभट, धन्य हैं। इस ब्रह्मचर्य के प्रभाव से वीर्यान्तराय कर्म का विशेष क्षयोपशम होकर आत्मशक्ति बढ़ती, तप-उपवासादि परीषह सहज ही जीती जातीं, गृहस्थाश्रम सम्बन्धी आकुलता घटती, परिग्रह की तृष्णा घटती, इन्द्रियाँ वश होतीं, यहांतक कि वाक्-शक्ति स्फुरायमान हो जाती है। ध्यान करने में अडिग चित्त लगता, और अतिशय पुण्यबंधके साथ २ कर्मों की निर्जरा विशेष होती, जिस से मोक्षनगर निकट हो जाता है ॥

अष्टमी आरंभत्याग प्रतिमा ॥

जो श्रावक हिंसा से अति भयभीत होकर आरंभ* को परिणामों में विकलता उत्पन्न करनेवाला जान गृहसम्बन्धी सम्पूर्ण आरंभ स्वयं नहीं करता और न दूसरों से कराता है, सो आरंभत्याग प्रतिमाधारी है। इसके मन-वचन-काय, कृत-कारित से गृहसम्बन्धी पापारंभ का त्याग होता है, अनुमोदना (अनुमति) का त्याग नहीं होता। अनुमोदनाका अर्थ सम्मति सलाह या अभिप्राय देना है, आज्ञा देना नहीं है। यथाः—"यह काम तुमने भला किया या बुरा किया" "इसमें हानि होगी, इसमें लाभ होगा" आदि। यदि पुत्रादि व कुटुम्बी, घर के कामकाज की वा व्यापार सम्बन्धी सलाह पूंछे तो सम्मतिरूप उसके हानि-लाभ बता देवे, परन्तु उस काम के करने की प्रेरणा न करे। यदि भोजन सम्बन्ध में पूंछें, तो अपनी त्याग-आखड़ी बता-देवे या अनिष्ट हानिकारक वस्तुओं का निषेध कर देवे परन्तु अमुक २ वस्तु बनाना, ऐसी आज्ञा न देवे ॥

---

*जिन क्रियाओं में षट्काय के जीवों की हिंसा हो, सो आरंभ है ॥

आरंभत्यागी हिंसासे भयभीत हो सन्तोष धारण कर धन-सम्पदासे ममत्व घटाता हुआ सर्व प्रकारके व्यापार-धंधे करना छोड़े तथा गृहारंभ नहीं करे। भावार्थः—गृहसम्बन्धी षट्कर्म अर्थात् पीसना, दलना, कूटना, छड़ना, रसोई बनाना, बुहारना, झाड़ना, जल भरना आदि गृहारंभ तथा व्यापार-धंधे आदि आजीवी आरंभ नहीं करे। उद्यमी-आरंभी दोनों प्रकारकी हिंसा तजे ॥

यहां यत्नाचारपूर्वक पूजनादि सम्बन्धी अल्पारंभ का त्याग नहीं है (सा. ध.) तथा यह भी कहा है कि ये पूजा आदि धर्मकार्य हिंसायुक्त न हों, क्योंकि धर्मारंभ प्राणिवधका अंग नहीं है, धर्मारंभ वही है जहां प्राणिरक्षा संभवे। भावार्थः—जल भरना, द्रव्य धोना आदि आरंभ न करे। द्रव्य चढ़ावे-पूजा करे॥

यहां कोई सन्देह करे कि जब आरंभ-त्याग प्रतिमामें सेवा-कृषि-वाणिज्यादि आरंभ का त्याग हुआ है तो सप्तमी प्रतिमा तक कृषि तथा युद्ध सम्बन्धी आरंभ करता होगा? तिसका समाधानः—यह बात संभव नहीं होती कि सचित्त भक्षण को त्याग, ब्रह्मचर्य धार, उदासीन अवस्था अंगीकार कर स्वयं हल-बखरसे खेत जोते-बोवे या युद्ध करके सहस्रों जीवोंका आंखों देखते घात करे। श्री सर्वार्थसिद्धि टीकामें भाषाटीकाकार पं. जयचंदजीने कहा है कि कुटुम्बके शामिल रहनेसे यहांतक कुछ अतीचार दोष लगते थे, सो यहां उनका यथावत् त्याग हुआ। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारक का सामान्य गृहस्थों की नाँईं अन्य व्यापार धंधों में भी संलग्न रहना संभव नहीं क्योंकि जैसी २ कषाय घटती जाती है तदनुसार ही आरंभ भी घटता जाता है ॥

आरंभत्यागी अपने हाथ से भोजन बनाता नहीं, और न दूसरों से कहकर बनवाता है। अपने घर या पराये घर

न्योंताहुआ जीमने को जाता है और जिह्वा इन्द्रिय के स्वाद में आसक्त न होता हुआ लघु भोजन करता है॥

आरंभत्यागीको चाहिये कि अपने गृहमें जो द्रव्य हो, उस में अपनी इच्छानुसार कुटुम्बका योग्य विभाग करके अपने योग्य आप ग्रहण करे, अन्य धनसे ममत्त्व तजे और नया धन उपार्जन नहीं करे, अपने पासके धनको दान-पुण्य-यात्रादि धर्म-कार्यों में लगावे। यदि भाग्य-योगसे अपने पास का धन चोरी चलाजाय, नष्ट हो जाय, तो कर्मोदयका ऋण चुका जान सन्तोष करे, आकुल-व्याकुल न हो॥

यहां कोई प्रश्न करे कि धन पास रक्खे, तो धंधा करेही करे अथवा रोटी बनावे-बनवावे ही, नहीं तो धन रखने से क्या प्रयोजन? तिसका उत्तर—यह जो अल्प धन अपने पास रखता है, वह धर्मानुकूल दान, पुन्य, तीर्थादि में व्यय करने तथा अपने वस्त्रादि लेने के लिये रखता है। उस धनको वह हिंसा-आरंभ के कार्यों में कदाचित् भी नहीं लगाता क्योंकि इससे उसकी प्रतिज्ञा भंग होती है॥

पुनः कोई प्रश्न करे कि आरंभत्यागी को घरके या अन्य-लोग भोजन को न बुलावें तो वह क्या करे? अथवा कोई साथ का त्यागी बीमार हो जाय तो भोजन बनाकर खावे, खिलावे या नहीं? तिसका समाधान—प्रथम तो यह बात असंभव है कि सच्चे धर्मात्मा-त्यागीको आहार की योग्यता न मिले, अवश्य मिले ही मिले। दूसरे, त्यागी को भी चाहिये कि जिस क्षेत्र में धर्मसाधनकी अनुकूलता (सहायता) देखे, वहां श्रावकसमूह के साथ रहे। आगम का भी तो यही उपदेश है कि अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की योग्यता देखकर हरएक व्रत-आखड़ी-प्रतिज्ञा धारण करे, क्योंकि विना योग्यता के त्यागी या प्रतिमाधारी

होनेसे कुछभी कल्याण नहीं होता, कपाय, ममत्व भाव तथा इनके बाह्य अवलंबनों को छोड़ने और विरागता के साधक कारणों को मिलाने से ही प्रतिमा धारण करने का यथार्थ फल होसक्ता है॥

सप्तमी प्रतिमा तक अपने हाथ से कुल काम अपनी आजीविका सम्बन्धी करसक्ता है। भोजन बनाना, सवारी आदि पर चढ़कर इधर-उधर जाना आदि आरंभ कर सक्ता है परंतु इस प्रतिमा में इन सब आरंभों का त्याग होजाता है इसलिये जिसकी आरंभ रूप प्रवृति करने की इच्छा हो अथवा जो अपनी योग्यता आरंभ-त्याग निभने योग्य न देखे, सो सप्तमी प्रतिमारूप ही रहे, जैसी अनुकूलता देखे, वैसा करे। जब देखे कि मैंने सर्व आरंभ का काम पुत्रादिकों को सौंप दिया, मेरी आरंभ करने रूप कपाय घट गई, मेरे पुत्र-पुत्रवधू आदि कुटुम्बी हर्षपूर्वक मुझे भोजनादि देकर निर्वाह करेंगे तथा साधर्मी भाई भोजन-पानादि सहायता में सावधान रहेंगे, तब इस आरंभ-त्याग प्रतिमाको धारण करे॥

आरंभत्यागी घोड़ा, ऊंट, गाड़ी, बग्घी, पालकी, आदि सर्व प्रकारकी सवारी तजे, ऐसा सभी शास्त्रों* का मत है, क्योंकि इससे प्रमाद तथा हिंसा की उत्पत्ति होती है। इसी में मोटर, रेल, जहाज आदि की स्वतंत्र या परतंत्र सवारियां भी गर्भित हैं। ये सब सवारियां आरंभत्यागीकी स्वतंत्रता—तथा विरक्तताको मूलसे नाश करनेवाली और धर्म का अपमान करानेवाली हैं॥

यद्यपि यहां सर्व प्रकारके वाहनों की सवारी करने का निषेध है तथापि नदी पार होने के लिये नाव पर बैठकर जाने का निषेध न जानना क्योंकि नदीपार जाना अनिवारित है, इसमें प्रमाद-जनित दोष नहीं हैं। केवल हिंसाजनित अल्प दोष है, जिसके लिये प्रतिक्रमण विधान की परिपाटी है॥

---

* अमितिगति श्रावकाचार, गुरुउपदेश श्रावकाचार, भगवती आराधना आदि ।

आरंभत्याग सम्बन्धी विशेष बातें ॥

(१) अपने पुत्र-पुत्री आदि की सगाई, विवाह का आरंभ आप स्वयं न करे, यदि कुटुम्बी आदि करें और सम्मति मांगें तो देना ठीकही है। (२) वस्त्रादिक न अपने हाथ धोवे न दूसरों से धुलावे, मलिन होने पर दूसरे धारण करलेवे। (३) स्थान-मकान आदि बनाने सम्बन्धी निष्प्रयोजन बहु आरंभ* का निषेध तो व्रतप्रतिमा में ही है, यहां अल्पारंभ भी न करे (४) हलकी कीमत के सादे वस्त्र पहिने (५) दीपक न जलावे× (६) रात्रि को गमन न करे। व्रतप्रतिमा ही से देखकर चलना, रात्रि को कम गमनागमन करना, दीपक यत्नाचार से रखना आदि कार्य यथासंभव हिंसा बचाकर किये जाते हैं क्योंकि गृहारंभ के कारण इन कामों के किये विना चल नही सक्ता, अब आरंभत्याग होने से इन कामों की जरूरत भी नहीं रही (७) पंखा न हिलावे (८) स्नान न करे, परंतु पूजा के लिये अथवा अस्पर्श शूद्र के छूजाने पर तथा सूतक में शुद्धता निमित्त सामान्य रीति से स्नान करने का निषेध नहीं। (९) वैद्यक, ज्योतिष, धातु, रसादिक नहीं करे (१०) कुए से जल भरकर या खानिसे मिट्टी खोदकर न लावे॥ (११) चौमासे+ में यहां वहां ग्रामान्तर में भ्रमण न करे, यद्यपि व्रत प्रतिमा ही से हिंसा के भय से बहुधा चौमासे में यहां वहां ग्रामान्तर में भ्रमण न करता हुआ एक ही ग्राम में यत्नाचार

---

* आवश्यकता से अधिक शौक तथा बड़प्पनके वास्ते मकान न बनवाना॥

×कोई २ कहते हैं कि स्वाध्याय के वास्ते दीपक और धर्मकार्य के निमित्त प्राशुक भूमि में गमन करसक्ता है॥ + आषाढ़ की अठाई के आरंभ से कार्तिक की अठाई के अंत तक चौमासा कहाता है। इसमें वर्षा के कारण त्रस जीवोंकी प्रचुर उत्पत्ति होती है॥

पूर्वक धर्मसेवन करता था, परंतु गृहारंभ के कारण सर्वथा नियमरूप न था, अब आरंभ त्याग होने पर चौमासे भर एक ही स्थान में रहकर धर्मध्यान करे। और गृहत्यागी तो व्रत प्रतिमा से ही इसका विचार रक्खे ॥

लाभ–असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, पशुपालन, शिल्पादि षट् आजीवी कर्मों और पंचसून सम्बन्धी आरंभ क्रियाओं के त्याग करने से हिंसादि–पापों का अभाव होता, संयमरूप रहने से पुण्यबंध होता और सब से बड़ा लाभ यह होता है कि आरंभ सम्बन्धी विकल्पों के अभाव से आत्मकार्य में चित्तवृत्ति भलीभांति स्थिर होने लगती है जो परंपराय आत्मकल्याण का कारण है ॥

नवमी परिग्रहत्याग प्रतिमा ॥

जो धार्मिक श्रावक रागद्वेषादि अभ्यन्तर परिग्रहों की मन्दतापूर्वक, क्षेत्र–वास्तु आदि दशप्रकार के बाह्य परिग्रहों में से आवश्यक वस्त्र और पात्र के सिवाय शेष सब परिग्रहों को त्यागता और सन्तोषवृत्ति धारण करता है, वही परिग्रह विरागी परिग्रह त्याग–प्रतिमाधारी है ॥

बाह्य परिग्रह दश प्रकार के हैं यथाः—(१) क्षेत्र-खेत, बाग, बगीचा आदि (२) वास्तु–घर, महल, हवेली, किला आदि रहने के स्थान (३) हिरण्य–चांदी के गहने तथा रुपया आदि मुद्रा (४) सुवर्ण–सोने के गहने तथा मुहर–गिन्नी आदि (सुवर्णमुद्रा) (५) धन–गाय, भैंस, घोड़ा आदि पशु (६) धान्य–चांवल, गेंहूं आदि अनाज (७) दासी-नौकरनी, हजूरनी (८) दास–नौकर, चाकर, हजूरिया (९) कुप्य–कपास, सन, रेशम आदि सर्व प्रकार के वस्त्र (१०) भांड–सर्व प्रकार के बर्तन ॥

इन उपर्युक्त दश प्रकार के वाह्य-परिग्रहों के त्यागने से मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद* ये १४ प्रकार के अंतरंग-परिग्रह भी क्रमशः मन्द पड़ने लगते हैं क्योंकि वाह्य-परिग्रह का त्याग कारणरूप और अंतरंग परिग्रह की मन्दता एवं अभाव होना कार्यरूप है॥

वाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकार का परिग्रह पापोत्पत्ति तथा आकुलता का मूल है ऐसा निश्चय कर वाह्य-परिग्रह को छोड़ते-हुए अपने मन में अति आनन्द माने और ऐसा विचार करे कि आज का दिन धन्य है जब मैं आकुलताओं और बंधनों से छूटा॥

प्रगट रहे कि वाह्य परिग्रह का त्याग अंतरंग मूर्छा के अभाव के लिये किया जाता है। यदि किसी के पास वाह्य-परिग्रह कुछ भी न हो और अंतरंगमें मूर्छा विशेष हो, तो वह परिग्रही है, क्योंकि यथार्थ में मूर्छा ही परिग्रह है। अतएव भेदविज्ञान के बल से अंतरंग-मूर्छा को मंद करते हुए वाह्य-परिग्रह छोड़ना चाहिये, तभी परिग्रहत्यागजनित निराकुलित-सुख की प्राप्ति हो-सक्ती है॥

परिग्रहत्याग प्रतिमावाला केवल शीत-उष्ण की वेदना दूर करने निमित्त अल्प मूल्य के सादे वस्त्र रक्खे अन्य सब धन-धान्यादि परिग्रह मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से त्यागे। छोटे पना (अर्ज) की ६ हाथ लंबी (समाधि तंत्र) धोती पहिनने को रक्खे, एक धोती तथा पछेवड़ी ओढ़ने को रक्खे, शिर पर बांधने को एक अँगोछा (पोत्या) तथा

* किसी २ ग्रंथ में एक ही वेद कहकर शेष दो वेदोंके स्थान में राग, द्वेष कहे हैं॥

नरम पूंजणी या एक छोटा सफेद रुमाल (अलफी) पृथ्वी पर के आंगुतक जीवों की रक्षा (अलग करने) के निमित्त रक्खे ॥ बिस्तर न रक्खे, चटाई पर सोवे । अल्पमूल्य का तांबे या पीतल का जलपात्र तथा एक भोजनपात्र रक्खे (भगवती आराधना) ॥ घर का भार पंचों की साक्षीपूर्वक पुत्र-भाई-भतीजे आदि को, जो गृहस्थी चलाने योग्य हो, सौंपे । जो दान-पुण्य करना हो, करे और सब से क्षमाभावपूर्वक धर्मसाधन की आज्ञा लेवे ॥ और ऐसा निश्चय करे कि अब मेरा-इनका कुछ भी सांसारिक सम्बन्ध नहीं रहा, अन्य साधर्मियों सरीखे इन को भी समझे, अपना पराया घर एकसा समझे, भोजन अपने या पराये घर न्योंताहुआ जाकर करे ॥

परिग्रहत्याग प्रतिमा सम्बन्धी विशेष बातें ॥

परिग्रहत्यागी को इन बातों पर भी ध्यान देना चाहिये । (१) स्त्री-पुत्रादि औषधि, आहार-पान आदि देवें, वस्त्रादि धोवें तथा शारीरिक सेवा-टहल करें तो ठीक; न करें तो आप उन पर दवाव न डाले और न अप्रसन्न हो ॥ (२) जो गृहत्यागी हो तो कुटुम्बसम्बन्धी वृद्धि हानि का सूआ सूतक न माने, परंतु जो गृहवासी हो तो गृहस्थी में शामिल होने के कारण सूआ सूतक माने* (३) अव्रती से+ टहल न करावे (४) लौकिक वचन न कहे (५) रागादियुक्त मकान-मठ आदि में न रहे (६) नौकर-चाकर नहीं रक्खे (७) परिग्रहत्यागी को द्रव्यपूजन की आवश्यकता नहीं, क्योंकि द्रव्यपूजन

*जान पड़ता है कि व्रतप्रतिमा से लेकर किसी भी प्रतिमा में गृहत्यागी होने पर उसके कुटुम्ब सम्बन्धी वृद्धि-हानि का सूआ-सूतक नहीं माना जाता, क्योंकि अब उसके कुटुम्ब-सम्बन्ध नहीं रहा ॥

+जिसके अष्ट-मूल गुणों का धारण न हो, सो अव्रती जानना ॥

में मुख्यता त्यागधर्म की है सो अब धनादि परिग्रह का सर्वथा त्याग होगया, अतएव भावपूजन ही करे. (८) जिस प्रकार अशुद्धता और अमर्यादपूर्वक वर्तमान बड़ी २ जेंवनारों में रसोई बनती है ऐसी रसोई प्रथम प्रतिमावाला भी न जीमे, क्योंकि उसमें पंच उदम्बर, तीन मकार का दोष आता है। हां! यदि मर्याद और शुद्धतापूर्वक बने, तो नवमीं प्रतिमावाला तक न्योंता हुआ जाकर जीम सक्ता है (९) वाली, अँगूठी आदि सर्वप्रकार का गहना तजे। (१०) बिना दिया जल, मिट्टी भी न लेवे (अष्टमी प्र॰ में हिंसा-आरंभ के कारण लेने का त्याग था. यहां परिग्रह अपेक्षा निषेध है)॥

लाभ-परिग्रह से आरंभ, चिन्ता, शोक, मदादि पाप उपजते हैं; मूर्छा (चित्त की मलिनता) का कारण है। अतएव सन्तोष निमित्त मूर्छा को घटाना और परिग्रह त्याग करना अवश्य है। परिग्रहत्याग प्रतिमा के धारण करने से गृहस्थाश्रम सम्बन्धी सर्व भार उतरजाता है, जिस से निराकुलता का सुखानुभव होने लगता है॥

दशवीं अनुमति-त्याग प्रतिमा॥

जो पुरुष आरंभ-परिग्रह की अर्थात् सांसारिक सावद्य-कर्म विवाहादिक तथा गृह बनवाने, बनिज, सेवा आदि कामों के करने की सम्मति वा उपदेश नहीं देता, अनुमोदना नहीं करता, समबुद्धि है। सो श्रावक अनुमतित्याग प्रतिमाधारी कहाता है॥

नवमी प्रतिमा तक स्त्री-पुत्रादि को गृहस्थी सम्बन्धी पंच सूनों, षट् आजीवी कर्मों, मिष्टभोजन वा विवाहादि करने की सम्मति देता था, अनुमोदना करता था, सो अब नहीं देवे और

न उनके किये हुए कामों की "भला किया वा बुरा किया" आदि अनुमोदना करे ॥

उदासीनतापूर्वक स्त्री-पुत्रादि से अलग निज घर, चैत्यालय अथवा मठ-मंडपादि में रहकर धर्मध्यान करे, कुटुम्बी अथवा अन्य श्रावकों के घर जीमने के समय बुलाने पर भोजन कर-आवे, न्योंता न माने, अपने अंतराय कर्म के क्षयोपशम के अनु-सार कडुवा, खारा, खट्टा, अलूणा जैसा भोजन प्राप्त हो, उसी में सन्तोष करे। राग द्वेष न करे। भला-बुरा न कहे ॥

किसी के पुत्रजन्म, द्रव्यलाभ, विवाह आदि शुभकार्यों का अथवा मारना, पीड़ा देना, बांधना आदि अशुभ कार्यों का चिंतवन न करे। लौकिक (पाप) कार्योंका उपदेश वा आदेश न करे। ईर्यासमितिपूर्वक गमन करे। भाषासमितिसहित वचन बोले। यद्यपि पांचों समितियों का विचार व्रत प्रतिमा से ही यथायोग्य रक्खा जाता है तथापि यहां से इन दो समि-तियों पर और भी विशेषरूप से ध्यान देवे ॥

गृहत्यागी ब्रह्मचारी गृह त्यागने पर और गृहवासी, दशवीं प्रतिमा धारण करने पर कुटुम्ब सम्बन्धी वृद्धि-हानि का सूआ-सूतक न माने, क्योंकि गृहस्थपने से अलग हो गया ॥

प्रगट रहे कि एलक—क्षुल्लक कहीं भी जावे तो सदा पीछी, कमंडल साथ रक्खे क्योंकि ये उस का चिन्ह (बाह्य मुद्रा) है। उसी प्रकार दशवीं प्रतिमावाला जीवों की रक्षा निमित्त नरम पूंजणी या रूमाल और शौच निमित्त जलपात्र रक्खे। पहिरने वा ओढ़ने के लिये छह २ हाथ वस्त्र रखने की आज्ञा है। चटाई पर सोवे ॥

ग्यारहवीं प्रतिमा में उद्दिष्ट त्याग होने के कारण तथा अचा-नक ही आहार (भिक्षा) के लिये निकलने के कारण इन की

भिक्षुक संज्ञा कई ग्रंथों में कहीगई है। सागारधर्मामृत और धर्म-संग्रहश्रावकाचार में भोजन में अनुमति त्याग होने के कारण दशवीं प्रतिमावाले को भी भिक्षुक संज्ञा कही है। सो ठीक ही है। परन्तु यथार्थ में सच्चे भिक्षुक मुनि ही हैं॥

लाभ—गृहचारा सम्बन्धी आरंभ की अनुमोदना करने से भी पाप का संचय और आकुलता की उत्पत्ति होती है, अतएव अनुमति-त्याग होने से पंच-पाप का नव-कोटि से त्याग होकर पापास्रव-क्रियाएँ सर्वथा रुकजाती हैं। पुनः आकुलता के अभाव होने से चित्त की विकलता दूर होगी, जिससे मन वश होकर इच्छानुसार धर्मध्यान में शीघ्र थिर होने लगता है॥

ग्यारहवीं उद्दिष्टत्याग प्रतिमा॥

जो (गृहवासी) अनुमतित्यागी श्रावक, चारित्रमोह के मन्द होजाने से उत्कृष्ट चारित्र अर्थात् दर्शनाचार-ज्ञानाचार-चारित्राचार-तपाचार और वीर्याचार इन पंचाचारोंकी प्राप्ति एवं रत्नत्रय की शुद्धता निमित्त, पिता-माता-भाई-स्त्री-पुत्रादि परिजन से क्षमा कराय, वन में जाने की आज्ञा लेय, गुरु के निकट जाय उद्दिष्टत्याग प्रतिमा (प्रतिज्ञा) धारण करता है, सो उद्दिष्टत्याग प्रतिमाधारक कहाता है॥

यदि कालदोष से निर्ग्रंथ-गुरु का समागम न मिले तो श्रीजिनेन्द्र देव की प्रतिमा के सन्मुख साधर्मियों की साक्षी-पूर्वक प्रतिज्ञा लेवे। इसी प्रकार जो पुरुष दशवीं-प्रतिमा तक गृहवासी रहा हो, वह ऊपर कहे अनुसार कुटुम्बियों से भी आज्ञा लेवे और जिसने पहिले ही गृहत्याग कर दिया हो, उसे कुटुम्बियों से क्षमा कराने वा आज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं। सिवाय इस के ऐसा भी कोई नियम नहीं है कि आपको

वैराग्य उत्पन्न हो और कुटुम्बी आज्ञा न दें तो उद्दिष्ट-त्याग या मुनिव्रत अंगीकार न कर सके, किन्तु आज्ञा मांगने और उन को भी संसार-शरीर-भोगों की अनित्यता बताने और उन से राग घटाने की पद्धति है, सो जैसा देखे वैसा करे ॥

उद्दिष्ट आहार त्यागी मन-वचन-काय, कृत-कारित अनुमोदना सम्बन्धी दोष रहित, भिक्षाचरणपूर्वक, याचना रहित आहार ग्रहण करे। अपने निमित्त* बनाया हुआ, अभक्ष्य, सचित्त तथा सदोष आहार न ले। यमरूप हरी तथा रसादिक के त्याग का परिपालन करे। पानी बरसते में आहार को नहीं निकले, क्योंकि इस से ईर्यापथ शुद्धि नहीं पलती तथा आहार में अति-गृद्धता सूचित होती है। आहार को जावे तब न तो जल्दी २ चले, न धीरे २। समभाव से चले। इधर-उधर न देखे, नीची दृष्टि से जीव-जन्तुओं की रक्षा करता हुआ मौन-सहित, ईर्या समिति पालता हुआ जावे ॥

यद्यपि सागारधर्मामृत में उत्कृष्ट श्रावक होने की अपेक्षा अनुमतित्यागी को भी अतिथि कहा है। तथापि उत्कृष्ट श्रावक एवं उद्दिष्टत्यागी एलक-क्षुल्लक से ही यथार्थ में अतिथिपना आरंभ होता है। क्योंकि इनके आहार तथा गमनागमन की तिथि नियत नहीं रहती। ये उदंड आहार-विहार करते हैं, इसीलिये अचानक ही भोजन के लिये निकलते हैं। यथार्थ में उत्कृष्ट अतिथि मुनि ही हैं क्योंकि अष्टमी-चतुर्दशी आदि पर्वों में प्रोषधोपवास का भी उनके नियम नहीं, इसलिये वे सार्थक नाम धारक अतिथि है ॥

---

* यदि मालूम पड़जाय कि गृहस्थ ने ये भोजन मेरे ही निमित्त बनाया है तो ग्रहण न करे और अन्तराय माने। इसी प्रकार पीछी, कमंडल, वस्तिका भी अपने निमित्त बनाई हुई जाने, तो ग्रहण नहीं करे ॥

उद्दिष्टत्यागी जब आहार के निमित्त निकले और द्वारा-पेक्षण करता हुआ श्रावक यथायोग्य नवधाभक्ति एवं विधि-पूर्वक पड़गाहे तो उद्दिष्टत्यागी को उचित है कि दाता का उत्साह वा योग्य भक्तिभाव देखकर योग्य क्षेत्र-कालमें शुद्ध-लघु भोजन शान्तभावपूर्वक करे॥

जल-भोजन एकही वार लेवे, दांतौन कुरला भी न करे, जो अंतराय होजाय तो उस दिन उपवास करे। मुनिसंघ में या अपने समान त्यागियों के संघ में रहे, अकेला भ्रमण न करे, क्योंकि दूसरे संयमी की सहायता के विना व्रत दूषित होजाना संभव है। सांसारिक विषय-कषायोंके कारणों से अलग वन-मठ-मंडप-वस्तिकादि एकान्तस्थान में रहे। वस्तीमें न रहे। रात्रि को एकान्तस्थान में ध्यान धरे॥

शौच के निमित्त अल्प-मूल्य का तथा चौड़े मुंह का कमंडल रक्खे, जिस में धोने, साफ करने के लिये हाथ अच्छी तरह जासके। भोजन-पात्र साधारण रक्खे, जिस में न शौकीनी मालूम पड़े न विलकुल लघुता। भूमि, शरीर, संस्तर, पुस्तकादि को शोधने तथा जीवों की रक्षा निमित्त पिच्छिका (पीछी) और पढ़ने के लिये आवश्यकीय शास्त्र-पुस्तकादि रक्खे॥

माथा उघाड़ा रक्खे। सोने के लिये चटाई, विछौना आदि न रक्खे क्योंकि ये पदार्थ द्रव्य-साध्य हैं; प्रमाद, भय, आकुलता तथा हीनता के उत्पन्न करनेवाले हैं। प्राशुक भूमि, काष्ठ के पटिये या पाखान की शिलापर अर्धरात्रि पीछे अल्प निद्रा ले। वीमारी आदि में अन्य कोई चटाई विछादेवे या पियार का संस्तर करदेवे, तो उस पर लेटे॥

श्रावक दशा में दिवस में प्रतिमायोग अर्थात् नग्न होकर ध्यान धरना वर्जित है, इसीप्रकार पीयूषवर्षश्रावकाचार में वीर-

चर्या अर्थात् कठिन २ आखड़ी लेने का भी निषेध किया गया है। रात्रिको एकान्तस्थान में प्रतिमा योग धार ध्यान करसक्ता है (वसुनंदि श्रा०) ॥

इस उद्दिष्टत्याग प्रतिमा के दो भेद हैं (१) क्षुल्लक (२) अहिलक या एलक। इन का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है:—

क्षुल्लक ॥

ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य तथा स्पर्श-शूद्र क्षुल्लकवृत्ति धारणकरने के पात्र हैं। शूद्र-क्षुल्लक लोहे का और उच्चवर्ण का क्षुल्लक पीतल का पात्र रक्खे*। यहां कोई कहे कि शूद्र-क्षुल्लक लोहे का पात्र रक्खे सो ठीक है, परन्तु उच्च कुलवाले को पीतल के पात्र रखने की क्या आवश्यकता है? तिसका समाधान-प्रथम तो इस प्रकार के पात्र रखना द्विजवर्ण और शूद्रवर्ण की पहिचान के चिन्ह हैं। दूसरे यदि उत्तम वर्णवाला पात्र न रक्खे और दातार के वर्तन में ही भोजन करे और वर्तन झूठा छोड़ आवे, तो वह वर्तन मँजने के लिये जब चाहे तबतक पड़ा रहे, जिस से त्रस-थावर जीवों की हिंसा होना संभव है। इसलिये वह अपने पात्र में ही भोजन करके अपने हाथ से ही तत्काल मांजकर लेताआवे दूसरों से न मँजावे। ऐसा सागारधर्मामृतादि श्रावकाचारों में कहा है ॥ इस से दोनों प्रकार के क्षुल्लकों को पात्र रखना आवश्यक है ॥

सफेद वस्त्र की लँगोटी लगावे, खंडवस्त्र अर्थात् एक पन्ने की २ हाथ लम्बी पिछौड़ी ओढ़ने को रक्खे, जिस से शिर

* इस प्रतिमा में उत्तमवर्ण और शूद्रवर्ण की पहिचान के लिये लोह-पात्र तथा पीतल-पात्र की चिन्हव्यवस्था होने से प्रगट होता है कि यहां द्विज क्षुल्लक यज्ञोपवीत नहीं रखता होगा, दशवीं प्रतिमा तक पहिनता होगा। इसी कारण यहां यज्ञोपवीत के चिन्ह के अभाव में पात्र का चिन्ह कहागया है ॥

ढँके तो पांव उघड़े रहें और पांव ढँके तो शिर उघड़ा रहे। लँगोटी बांधने के लिये डोरे की करधनी (कणगती) कमर में रक्खे। कमंडल, पीछी और पठन-पाठन के लिये शास्त्र रखना योग्यही है॥

केश दूसरे, तीसरे, चौथे महीने उस्तरा (छुरा) से मुड़ावे या कतरनी से कतरावे, अथवा लौंच करे। डाढ़ी, मूंछ नहीं रक्खे। कांख तथा नीचे के बाल न कतरावे न बनवावे (वसुनंदि श्रा.)॥

सागारधर्मामृतादि श्रावकाचारों में क्षुल्लक के आहार के दो भेद किये हैं (१) एक भिक्षानियम जो एक ही घर भोजन करना॥ (२) अनेक भिक्षानियम—जो ५ घर या अधिक घरोंसे भिक्षापात्रमें भिक्षा लेकर जब उदर भरने योग्य होजाय, तब आखिरी घर प्राशुक जल लेकर भोजन करलेना और पात्र मांज लेकर चलेआना। सो ठीक ही है, क्षुल्लक उच्चकुली व स्पर्श शूद्र दोनों प्रकार के होते हैं, सो उचकुलवाला एक ही घर भोजन करे और शूद्र कुलवाला पांच या अधिक घर का भोजन पात्र में ले, एक जगह बैठकर करसक्ता है, ऐसा ज्ञानानंद-श्रावकाचार में स्पष्ट कहा है और यह बात वर्तमानकाल की मर्यादा के अनुकूल भी है, विरुद्ध एवं हानिकारक नहीं है॥

सात मुहूर्त दिन चढ़े आहार को जावे—मार्ग में खड़ा न रहे, न अति शीघ्रता से चले न अति मन्दता से। प्रगट रहे कि मुहूर्त, २ घड़ी अर्थात् ४८ मिनट का होता है इसलिये इस हिसाब से ७ मुहूर्त के ५॥ घंटे होते हैं। सुबह से ५॥ घंटे बाद अर्थात् ११॥ बजे आहार को जाना असंभव है, क्योंकि ये उनकी मध्यान्ह की सामायिक का काल है। आहार को सामायिक के पेश्तर या पीछे जाना योग्य है। इसलिये इस दोष को

दूर करने के लिये यदि यहां मुहूर्त का प्रयोजन घड़ी लिया जाय तो ठीक होसक्ता है अर्थात् ९ बजे के लगभग देववंदना करके आहार को जावे, १० बजे तक पहुंचे और १०॥ या ११ बजे तक लौट आकर मध्यान्ह की सामायिक करे ॥

यहां कोई कहे कि सात मुहूर्त दिन चढ़े का अभिप्राय दो पहर की सामायिक के पीछे आहार को जाने का है, तो यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि ऐसा होता तो शास्त्रों में सुवह से ९–१० मुहूर्त पीछे आहार को जाने का स्पष्ट उल्लेख होता, सो ऐसा कहीं भी नहीं कहा। जहांतहां मध्यान्ह की देववंदना करके जाना कहा है सो मध्यान्हकाल ९ बजे से ३ बजे तक कहाता है। इसप्रकार ७ मुहूर्त दिन चढ़े आहार को जाना किसी तरह भी संभव नहीं होता। सिवाय इस के गृहस्थों के आहार का समय भी तो प्रातःकाल १०–११ बजे के बीच है। उसी समय धर्मात्मा गृहस्थ पात्र-प्राप्ति के लिये द्वारापेक्षण करते हैं। इसलिये गृहस्थों के भोजन के पूर्व ही पात्रदान होना संभवै है। भोजन किये पीछे तो गृहस्थ लोग प्रायः काम-धंधों में लग जाया करते हैं ॥

कई ग्रंथों में अपरान्हकाल अर्थात् दो पहर के पीछे चार बजे भी आहार लेने को जाने की आज्ञा है, सो गृहस्थों के ब्यालू अर्थात् अपरान्हकाल के भोजन के पूर्व संभवै है। भावार्थ. जो प्रातःकाल भिक्षानिमित्त न गया हो तो अपरान्ह काल में जावे॥

भिक्षा को जावे तब गृहस्थ के आंगने तक जावे, जहांतक सब लोग बिना रोक-टोक जासक्ते हों, दरवाजा बन्द हो तो खोले नहीं। आंगने में पहुंचकर खड़े हो धर्मलाभ कहे अथवा नव णमोकारमंत्र (वसु. श्रा.) जपे । दाता देखलेवे और पड़गाहे तो ठीक; नहीं तो तत्काल दूसरे घर चला जाय। भोजन निमित्त किसी प्रकार का इशारा वा प्रार्थना न करे, दीनता न

दिखावे। जिस घर से लौट आया हो, उस दिन फिर उस घर न जावे। यदि अंतराय होजाय तो उस दिन उपवास करे॥

श्रावक विधिपूर्वक पड़गाहे तो गृह में जाकर हाथ-पांव से शुद्ध हो, यथास्थान बैठ निज पात्र में एषणा समिति पूर्वक अंतराय* टाल भोजन करे। पात्र मांज, लेकर अपने स्थान आवे और लगे हुए दोषों की गुरू के निकट आलोचना करे॥

चारों पर्वोनि में पूर्व-प्रतिज्ञावत् प्रोषधोपवास अवश्य करे (सागारधर्मामृत.)। यहां शंका होती है कि अतिथि का लक्षण ऐसा कहा है कि जिस के पर्व में प्रोषधोपवास करने का नियम न हो, आहार विहार की तिथि नियत न हो, सो अतिथि है (धर्मसंग्रह श्रा.)। पुनः अनुमतित्यागी तथा क्षुल्लक, एलक को अतिथि कहते हुए भी पर्व में प्रोषधोपवास की आवश्यकता बताई है सो यह पूर्वापर विरोध कैसा? तिसका **समाधान**—यथार्थ में उत्कृष्ट अतिथि मुनि ही हैं, उन के व्रत-परिसंख्यान आदि कठिन २ तप होते हैं इसलिये वे अष्टमी-चतुर्दशी को प्रोषधोपवास करने के लिये बाध्य नहीं हैं परन्तु आरंभिक अतिथि उद्दिष्टत्यागी को कठिन २ आखड़ी लेने वा तप करने की आज्ञा नहीं है इसलिये ये प्रोषधोपवास करने के लिये बाध्य हैं॥

षट् आवश्यक नित्य अवश्य पाले। ईर्या समिति रूप चले। भाषा समिति रूप बोले। विकथा न करे, धर्मोपदेश देवे, शास्त्र पढ़े अथवा मौन रक्खे, आत्मचिंतवन करे। शक्तिसारू तप करे। अपने बैठने आदि के स्थान को कोमल उपकरण से प्रतिलेखन करे। नहावे-धोवे नहीं। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य,

---

* अन्तराय बिना थाली में अन्न न छोड़े॥

ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, मनोज्ञ इन दश प्रकार के ऋषियों का वैयावृत्त करे ॥

ऐलक ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीनों द्विज (उत्तम) वर्ण ही ऐलकवृत्ति एवं मुनिपद धारण करने के अधिकारी हैं। शूद्र ये वृत्ति धारण नहीं करसक्ते क्योंकि उनके ऐसे उत्कृष्ट परिणाम नहीं होसक्ते। शास्त्रों में ऐलक का दूसरा नाम आर्य भी कहा है, और आर्य उत्तम वर्ण को कहते हैं, इस से भी सिद्ध होता है कि उत्तम तीनवर्ण ही ऐलक-पद धारण करसक्ते हैं। ऐलक सदा मुनिपद धारण करने का अभिलाषी रहता है ॥

ऐलक कोपीन (लँगोटी) लगावे, उस के बांधने को कमर में डोरा (कणगती) रक्खे, दया निमित्त पीछी और शौचनिमित्त कमंडल सदा साथ रक्खे। बैठकर कर-पात्र से अथवा एक हाथ में गृहस्थ (दाता) भोजन रखता जाय और बैठा हुआ ऐलक दूसरे हाथ से उठा २ कर भोजन करता जाय, खड़े होकर भोजन न करे, क्योंकि खड़े-भोजन करने की विधि मुनियों के लिये है, श्रावक के लिये नहीं है ॥

डाढ़ी, मूंछ तथा माथे के बालों का उत्कृष्ट दो माह, मध्यम तीन माह और जघन्य चार माह में लौंच करे, इस से अधिक दिनों के लिये शास्त्राज्ञा नहीं है ॥

आहार को जाय, तब ईर्यापथ–शुद्धिपूर्वक जाय, गृहस्थ के आंगन में जाय "अक्षयदान" कहे (ज्ञाना. श्राव.)। गृहस्थ पड़गाहे तो ठीक, नहीं तो अन्य गृह चला जाय* यदि अन्तराय

---

* किसनसिंह–क्रियाकोष में कहा है कि ऐलक-क्षुल्लक पांच घर से अधिक गोचरी के लिये नहीं जाय ॥

होजाय तो उस दिन उपवास करे। ऐल्लक एकही घर का आहार ले (समाधिशतक, प्रश्नो. श्रा.)। इससे भी सिद्ध होता है कि द्विजवर्ण को एक-भिक्षा-नियम अर्थात् एकही घर का भोजन लेना योग्य है॥

चारों पर्वानि में उपवास करे। दिवस में प्रतिमायोग अर्थात् नग्न होकर ध्यान न करे। रात्रिको नियमपूर्वक प्रतिमायोग धारण करे॥

सागारधर्मामृत तथा पीयूषवर्ष श्रावकाचार में इनको भी वीरचर्या करने का निषेध किया है अर्थात् जान-बूझकर कठिन २ परीषह उपसर्ग के साम्हने न जावे। सन्मुख आये उपसर्ग-परीषह को जीते। त्रिकाल-योग न धरे अर्थात् ग्रीष्म, वर्षा, शीत ऋतु की परीषह जीतने के सन्मुख न हो और न कठिन २ आखड़ी करे॥

सदा आत्मध्यान में तत्पर मुनि-संघ में रहे। उद्दिष्ट-त्यागी को शास्त्रों में मुनि का लघुभाई कहा है। अतएव ग्यारहवीं प्रतिमा का अभ्यास कर अवश्यमेव मुनिव्रत अंगीकार करना योग्य है॥

लाभ—उद्दिष्टत्याग करने से पांचों पाप तथा परतंत्रता का सर्वथा अभाव होजाता है, इस प्रतिमा के अंत में अणुव्रत, महाव्रतों को स्पर्शने लगते हैं। व्रत प्रतिमा से जिस प्रकार इन्द्रिय-विषयों में मूर्छा मन्द होती जाती और आरंभ-परिग्रह घटते जाते हैं, वैसा २ साम्यभाव बढ़ता हुआ यहां उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त होकर मानो सामायिक-संयम के स्पर्शने को हाथ फैलाता है। निराकुलिता-जनित स्वानुभव का आनन्द आने लगता है। इस प्रकार श्रावकधर्म के पालक जीव नियम से सोलहवें स्वर्ग तक जाकर महर्द्धिक देव अथवा इंद्रादि का उच्चपद पाते हैं, क्योंकि

जिस जीव के देवायु-सिवाय अन्य आयु का बंध होजाता है उस के परिणामों में श्रावकव्रत धारण करने योग्य निर्मलता होती ही नहीं और जो श्रावकधर्म के धारक होते हैं, उन के नियम से देवायु का ही बंध होता है। अतएव व्रती श्रावक निश्चय से देव पर्याय पाय, वहां से चय, मध्यलोक में चक्रवर्ती, मंडलीक आदि उत्कृष्ट विभवयुक्त होय, मुनिव्रत धारणकर मोक्ष को प्राप्त होता है ॥

(नोट) बहुधा देखाजाता है कि कितनेक भोलेभाई अन्तरंग में आत्मकल्याण की इच्छा रखते हुए भी विना तत्त्वज्ञान प्राप्त किये, दूसरों की देखादेखी श्रावकधर्म की ग्यारह-प्रतिमाओं में कहीहुई प्रतिज्ञाओं में से कोई दो, चार प्रतिज्ञायें अपनी इच्छानुसार नीची-ऊंची, यद्वा-तद्वा धारण कर त्यागी बन बैठते और मनमानी स्वच्छन्द प्रवृत्ति करते हैं जिस से स्वपर-कल्याण की बात तौ दूर ही रहे, उल्टी धर्म की बड़ीभारी हँसी व हानि होती है। ऐसे लोग "आप डुबंते पांड़े, लै डूबें यजमान" की कहावत के अनुसार स्वतः धर्म-विरुद्ध प्रवर्ते अपना अकल्याण करते और दूसरों को भी ऐसा ही उपदेश दे उनका अकल्याण कराते हैं । अतएव आत्म-कल्याणेच्छु-सुज्ञ पुरुषों को उचित है कि पहिले देव-गुरु-धर्म का स्वरूप अच्छीतरह जानें। पंच-परमेष्ठी का स्वरूप पहिचानें। छः द्रव्य, सात तत्त्वों के नाम, स्वरूप को भलीभांति समझें। आत्मा के विभाव-स्वभावों को जानें। विभाव तजने और स्वभाव की प्राप्ति के लिये कारणरूप श्रावक तथा मुनिव्रत की साधक बाह्य-अन्तरंग क्रियाएँ वा उनके फल को जानें, पीछे यथाशक्य चारित्र अंगीकार करें। भावार्थ श्रावकधर्म की ११ कक्षाओं (प्रतिमाओं)

का अभ्यास करके पीछे मुनिव्रत धारण कर कर्मोंका नाश करें और परमात्मा बन स्वरूपानन्द में मग्न हों ॥

साधक–श्रावक वर्णन ॥

व्रती श्रावक (नैष्ठिक) सदा सल्लेखना (समाधि) मरण करनेके उत्साही वा अभिलाषी रहते हैं इसलिये विषयों की मूर्छा तथा कषायों की वासना मन्द करते हुए यथासंभव पूर्ण-रीतिसे भलीभांति व्रत पालन करते हैं। तहां जो श्रावक संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होते हुए इन्द्रियों के विषय तथा कषाय तज कर मन-वचन- काय से निज-स्वरूप को साधतेहुए मरण करते हैं वे साधक श्रावक कहाते हैं ॥

प्रगट रहे कि मरण पांच प्रकार के हैं। (१) पंडित-पंडित मरण–जो केवली भगवान के होता है अर्थात् जिस मरण के होने पर फिर जन्म-धारण नहीं करना पड़ता। (२) पंडित मरण–जो मरण मुनियों के होता अर्थात् जिस मरण के होने पर दो-तीन भव में मोक्ष की प्राप्ति होती है। (३) बाल-पंडितमरण–जो देशसंयमी (श्रावक) के होता है और जिस के होने पर सोलहवें स्वर्गतक की प्राप्ति होती है। (४) बालमरण–जो अविरत सम्यग्दृष्टी के होता और बहुधा स्वर्ग की प्राप्ति कराता है। (५) बालबाल मरण–जो मिथ्यादृष्टी के होता और चतुर्गति भ्रमण का कारण है ॥

कहआये हैं कि श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं में से हर कोई भी प्रतिमाधारी समाधिमरण करसक्ता है उसका मरण बाल-पंडित मरण कहाता है। यहां साधक-श्रावक का वर्णन है इसी कारण इस बालपंडित मरण का विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है ॥

सल्लेखनामरण, समाधिमरण, सन्यासमरण, ये तीनों एकार्थवाची हैं । यथाः—भले प्रकार काय-कषाय के कृश करने को सल्लेखना कहते हैं । चित्त को शान्त अर्थात् राग-द्वेष की मन्दतायुक्त करना समाधि कहाती है । अपनी आत्मा से पर-पदार्थों को भले प्रकार त्यागना सो सन्यास कहाता है । अतएव काय-कषाय को कृश करते हुए, स्वस्वरूप ध्यावते हुए, शान्तचित्तयुक्त शरीररूपी गृह को त्यागना सो ही सुमरण है । इस प्रकार सुमरण करनेवाले भव्य पुरुष ही अपने साधेहुए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी धर्म को साथ लेजाते हैं और अधिक से अधिक सात-आठ भव में मुक्ति प्राप्त करलेते हैं । इस के विपरीत जो पुरुष ऐसी उत्तम सर्व योग्यता को पाकर समाधिमरण नहीं करते, वे मृत्युरूपी कल्पवृक्ष को पाकर भी असावधान रह संसार-सागर में डूबते हैं ॥

जब तक शरीर सर्वप्रकार धर्मसाधन के योग्य रहे, तब तक योग्य आहार-विहारादि द्वारा उसे आरोग्य रखतेहुए उस से धर्मसाधन में सहायता लेता रहे, कदाचित् कर्मयोग से कभी कोई रोग आजाय, तो योग्य औषधि सेवन करे, परन्तु शरीर की रक्षाके निमित्त अन्याय, अभक्ष्य रूप एवं पदस्थ के अयोग्य उपचार कदापि न करे, क्योंकि इससे अपने रत्न-त्रयात्मक आत्मिक-गुणों की हानि होती है । जब देखे कि ऐसा कोई असाध्य-रोग होगया है, जो धर्मसाधन का बाधक एवं नष्ट करनेवाला है, तो शरीर को अपकारी नौकर की तरह समझ, निर्ममत्व होता हुआ उसे छोड़ने के लिये तत्पर हो । नाश होने योग्य, अपवित्र शरीर के निमित्त अपने धर्म को हानि कदापि न पहुंचावे और सावधानी पूर्वक समाधिमरण करे । क्योंकि शरीर तो फिर भी मिल सक्ता है परंतु नष्ट हुआ

रत्नत्रय-धर्म फिर मिलना दुर्लभ है॥ जो आत्महितैषी रत्नत्रयधर्म की रक्षा के लिये शरीर की कुछ परवा नहीं करते, उनका समाधिमरण स्तुति योग्य है। क्योंकि जो फल बड़े २ कठिन व्रत-तप करने से प्राप्त होता है, वही समाधि-मरण करने से सहज में प्राप्त होजाता है॥

कोई २ अज्ञानी पुरुष समाधिमरण का अभिप्राय अच्छीतरह समझे बिना, धर्मसाधन के योग्य शरीर होतेहुए और भले प्रकार धर्मसाधन होतेहुए भी अज्ञान वा कषायवश विष, शस्त्रघातादि से मरते, अग्नि में पड़ते, पर्वत से गिरते, जीवते जमीन में गड़कर समाधि लेते, झंपापात करते, स्त्रियाँ सती होतीं अर्थात् मरे हुए पति के साथ जीती जलतीं इत्यादि अनेकप्रकार अनुचित रीति से प्राण-त्यागने में धर्म समझते हैं सो इस प्रकार आत्मघात करना निंद्य और नरकादि कुगति का लेजानेवाला है। हां! जो ज्ञानी-पुरुष मरण को सन्मुख होते हुए या चारित्र भ्रष्ट होने के कारण प्राप्त होतेहुए निःकषाय भावपूर्वक शरीर त्याग करते हैं उनका ऐसा सुमरण अज्ञान रागादि कषायों के अभाव से आत्मघात नहीं है किन्तु ज्ञान-पूर्वक मन्द कषायसहित होने से वर्तमान में सुखका और परंपराय मोक्षप्राप्तिका कारण है॥

समाधिमरण दो प्रकार से होता है। सविचारपूर्वक और अविचारपूर्वक॥

(१) **सविचार समाधिमरण**—जब शरीर अति वृद्ध होजाय अर्थात् चारित्र को हानि पहुंचानेवाला बुढ़ापा आजाय, दृष्टि अति मन्द होजाय, पांवसे चला न जाय। ऐसा असाध्य-रोग होजाय, जिसका इलाज होना असंभव हो। मरणकाल अति निकट आजाय। ऐसी दशाओंमें काय-कषाय को कृश

करतेहुए अन्त में चार प्रकार आहार त्याग, धर्म-ध्यानसहित मरण करना, सो सविचार समाधिमरण कहाता है ॥

(२) अविचार समाधिमरण–जब विना जाने अचानक ही देव, मनुष्य, तिर्यंच अथवा अचेतन कृत उपसर्ग आजाय। घर में आग लगजाय, निकलने का कोई उपाय न रहे। बीच समुद्र में जहाज डूबने लगे। सांप काटखाय, इलाज का कोई अवसर न हो। महावनी में मार्ग भूलजाय, जहां से बाहिर निकलना असंभव हो। चारित्र–नाशक शत्रु या प्राणघातक डाकू घेर लें, बचने का कोई उपाय न रहे। अचानक दुर्भिक्ष आजाय, अन्न–पान न मिले। ऐसे अचानक कारणों के आने पर अपने शरीर को तेलरहित दीपक के समान स्वयमेव विनाश के सन्मुख आया जान सन्यास धारण करे। चार प्रकार आहार का त्याग कर पंचपरमेष्ठी के स्वरूप में तथा आत्मध्यान में लवलीन हो। यदि मरण में किसी प्रकार का संदेह जाने, तो नियमरूप ऐसी प्रतिज्ञा करे कि "इस रोग-उपसर्ग-अग्नि आदि से जो मृत्यु हो, तो मेरे चारप्रकार आहार का तथा आत्मा सिवाय अन्य सर्व पदार्थों से ममत्वभाव का त्याग है, यदि इतने काल तक बचूंगा या इस दुखसे बचूंगा, तो आहार-पान परिग्रहादि पूर्ववत् या इस प्रकार घटाकर ग्रहण करूंगा" । इस प्रकार एकाएक काय से ममत्व छोड़, शान्त-परिणामोंयुक्त चार प्रकार आहार का त्याग कर समाधिमरण करना, सो अविचार-समाधिमरण कहाता है ॥

अविचारसमाधिमरण करनेवाले को जैसा कुछ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव कर्मयोग से मिलजाय, उसी में परिणामों की थिरतापूर्वक आत्म-हित करना योग्य है परन्तु सविचारसमाधि-

मरण करनेवाले को तो समाधिमरण के योग्य द्रव्य-क्षेत्र काल-भाव मिलाना अवश्य है। अतएव यहां चारों का संक्षिप्त स्वरूप कहाजाता है ॥

द्रव्य—यद्यपि अविरत-सम्यग्दष्टी तथा व्यवहार-सम्यग्दष्टी भी अपनी योग्यतानुसार समाधिमरण करसक्ते हैं । तथापि साधक-श्रावक के प्रकरण में व्रतधारक को ही समाधिमरण करने का अधिकारी आचार्यों ने बताया है ॥

क्षेत्र—जिस क्षेत्र में समाधिमरण कराने में तथा वैयावृत्त करने में प्रवीण धर्मात्माओं का समागम हो। समाधिमरण करने के विरोधी राजा-मंत्री आदि न हों। सर्व प्रकार की अनुकूलता हो, विशेष मोह-ममत्व का कारण तथा स्त्री, नपुंसक, पशु आदि का संघट्ट वा कोलाहल न हो। जिस जगह विशेष शीत, उष्ण, डांस, माछर आदि बाधक कारण न हों, तथा क्षेत्र अपवित्र, असुहावना और दुर्गंधित न हो ॥

काल—अपना शरीर बहुत वृद्ध तथा इन्द्रियाँ शिथिल होती जान अधिक से अधिक १२ वर्ष पेश्तर से समाधिमरण करने योग्य सामग्री का समागम मिलावे। समाधिमरण के लिये शीत ऋतु बहुत अनुकूल होती है। जिस समय उस क्षेत्र में अकाल, मरी आदि चित्त-विक्षेप के कारण उपस्थित हों, उस समय समाधिमरण न माड़े, क्योंकि ऐसे समय समाधिमरण करानेवालों का समागम मिलना वा चित्त स्थिर रहना कठिन होजाता है ॥

भाव—समाधिमरण करनेवाले के परिणाम शोक-भय-चिन्ता-मोह-ममत्त्व रहित, संसार-शरीर-भोगों से विरक्त, मन्दकषाय-युक्त, धर्म में उत्साहवान् तथा आत्मकल्याण की इच्छारूप हों ॥

यहां कोई प्रश्न करे कि बचपन से ही धर्मसाधन करने तथा युवा-अवस्था से ही समाधिमरण के अभ्यास करने की क्या

आवश्यकता है? जब मरणकाल समीप आवे, तभी धर्मसाधन या समाधिमरण करना योग्य है। तिसका समाधान—जो पुरुष बचपन तथा जवानी में धर्म-मर्म तथा समाधिमरणके स्वरूप से अज्ञ रहते हैं, वे अन्तसमय धर्मध्यानपूर्वक शरीर छोड़ने को समर्थ नहीं होसक्ते। जिस प्रकार युद्धक्रिया का न जाननेवाला एवं अभ्यासरहित पुरुष युद्ध के समय शत्रु के शस्त्रों का प्रहार देखकर तथा मार २ के भयंकर शब्द सुनकर युद्धस्थल में नहीं ठहरसक्ता और न शत्रु का साम्हना करके जय पासक्ता है। उसी प्रकार जिसने पहिले से ही धर्मज्ञान की प्राप्ति तथा धर्म-साधन न किया हो, समाधिमरण करने योग्य परिणामों की निर्मलता-निर्ममत्वता का अभ्यास न किया हो, समाधिमरण की क्रिया देखी-सुनी न हो, वह अन्तसमय समाधिमरण नहीं करसक्ता। जैसे मलिन वस्तु पर अच्छा रंग नहीं चढ़सक्ता, उसी प्रकार उस को अन्तसमय समाधिमरण करने में रुचि उत्पन्न होना असंभव है॥

भगवतीआराधनासार में कहा है कि "जहांतक संभव हो, समाधिमरण करनेवाला अंतसमय मुनिव्रत धारण करे। सर्व परिग्रह तजे। देह से निर्ममत्व हो शिर, डाढ़ी, मूंछ के केश लौंच करे। मयूरपिच्छिका धारण करे"। उत्कृष्ट प्रतिज्ञाधारकों को (दशवीं, ग्यारहवीं प्रतिमावालों को) मुनिव्रत धारण करना सहल है, इसलिये उनको मुनिव्रत धारणपूर्वक ही समाधिमरण करना चाहिये। यदि कोई श्रावक उपसर्ग, परीषह सहने को असमर्थ हो या ऐसा सुअवसर तथा योग्यता उसे न मिले, तो अपने गृह में वा गृहस्थ अवस्था में ही एकान्तस्थान में दो-चार धर्मात्माओं को पास रखकर अपना कार्य सुधारे॥

प्रथम ही अपने कुटुम्बी आदि को इस प्रकार सम्बोधन कर ममत्व छुड़ावे, "हे इस शरीर के माता-पिता-स्त्री-पुत्रादि हो! अब यह शरीर मरण अर्थात् नाश के सन्मुख हुआ है। तुम्हारा अब इस से कुछ भी प्रयोजन सधनेवाला नहीं है। हमारा तुम्हारा इतना ही संयोग था, सो पूरा हुआ। संयोग, वियोग की यही दशा एक२ दिन सब पर बीतनेवाली है। एक२ दिन सब को कर्म-जनित शरीरादि सामग्री छोड़ परलोक जाना है। इसलिये मुझ से मोह-ममत्व छोड़कर शान्तभाव धारण करो। और मेरे कल्याण के सहायक होओ" इस प्रकार उन्हें समझाकर निर्ममत्व हो, पुत्रादिक को गृहस्थी का भार सौंप, जिस को जो कुछ देना-लेना हो, देवे-लेवे। दान-पुण्य करना हो, करे। पीछे निःशल्य होकर अपने आत्मकार्य में लगे॥

समाधिमरण करनेवाला सुहावने तथा स्वच्छ स्थान में शुद्ध संस्तर* पर पूर्व या उत्तर को मुंह करके बैठे (भगवती आरा०)। संपूर्ण परिग्रहसे निर्ममत्व हो, पंच-परमेष्ठी के प्रति अपने पूर्वकृत दुष्कर्मों की आलोचना करे, पश्चात् इसप्रकार द्वादशानुप्रेक्षा का चिंतवन करेः—

हे जीव! इस संसार में किसी भी वस्तु का संयोग थिर नहीं है। राजा-राना-चक्रवर्ती तथा साधारण पुरुष सभी अपनी २ आयु पूरी करके पर्यायान्तर को प्राप्त होते हैं। तेरी आयु भी क्षण २ घटरही है। यौवन, शरीर, धन, पुत्र, स्त्री, आदि का संयोग जलबुद्बुदवत् क्षणभंगुर है, संसारकी ऐसी अथिरता जान फिर तू निश्चिन्त क्यों होरहा है? अपना आत्महित शीघ्र कर। (अथिर भावना)॥

---

* स्वच्छ पवित्र पृथ्वीतल पर योग्यतानुसार पियाँर या घास का बिछौना हो अथवा उस पर ऊपर से एक स्वच्छ वस्त्र या चटाई हो॥

हे जीव! इस संसार में तेरा कोई भी सहाई नहीं है, तेरे ही किये हुए पुण्य-पाप के अनुसार तुझे सुख-दुख प्राप्त होता है। देवी, देवता, माता, पिता, कुटुम्बी आदि कोई भी तेरी रक्षा करने को, तेरे दुख मिटाने को, समर्थ नहीं हैं। सम्पूर्ण धन-सम्पत्ति खर्चने पर भी एक क्षण आयु नहीं बढ़सक्ती, अतएव संसार की इस प्रकार अशरण अवस्था जान तू अपनी संभाल शीघ्र कर। (अशरण भावना) ॥

हे आत्मन्! यह जन्म-जरा-मरणरूप संसार अनादि-निधन, अनन्त दुःखों का सागर और कल्याणरहित, नित्य पंच-परिवर्तन रूप है। चारों गति मरण, शोक, भय, तृष्णामय हैं। संसार में एक आत्मा के सिवाय सब परपदार्थ हैं अतएव सब से ममत्व छोड़कर निज में ममत्व जोड़ना ही आत्महित है। (संसार-भावना) ॥

पंचपरिवर्तन का स्वरूप ॥

जन्म-मरण प्रारंभ करके बार २ पूर्ण करन को परिभ्रमण, परिवर्तन या संसार कहते हैं, सो पांच भेद रूप है। यथाः—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव। यहां प्रसंगानुसार इन का संक्षिप्त एवं स्थूल स्वरूप कहाजाता है, विशेष स्वरूप श्री गोमट्टसारजी से जानना ॥

(१) द्रव्यपरिवर्तन—इसका दूसरा नाम पुद्गलपरिवर्तन भी है। इस के दो भेद हैं। नोकर्म-परिवर्तन और कर्म परिवर्तन ॥

नोकर्मपरिवर्तन—औदारिक, वैक्रियक, आहारक तीन शरीर सम्बन्धी छः पर्याप्ति होने के योग्य पुद्गल-वर्गणाओं को नोकर्मवर्गणा कहते हैं। किसी जीवने किसी समय जिन नोकर्म-वर्गणाओं को स्पर्श, रस, गंध वर्णादि करि तीव्र, मध्यम,

मन्द भाव लियेहुए यथासंभव ग्रहण किये। पश्चात् समयों में तिन वर्गणाओं की निर्जरा होती रहती है। इसप्रकार अनंतवार अग्रहीत* के समय-प्रबद्धों को ग्रहण कर २ छोड़े, अनंतवार मिश्र* को ग्रहण कर २ छोड़े तथा अनंतवार ग्रहीत* वर्गणाओं के समय प्रवद्ध को भी ग्रहण कर २ छोड़े। ऐसा करतेहुए जिस समय, उन्हीं प्रथम समय में ग्रहण किई हुई नोकर्म वर्गणाओं को, गणना में उतनी ही तथा वैसे ही स्पर्श, रस, गंध, वर्णादि को लियेहुए ग्रहण करे। ऐसी क्रिया होने के समुदायरूप सम्पूर्ण काल को एक नोकर्म-परिवर्तन काल कहते हैं॥

कर्मपरिवर्तन—ज्ञानावरणादि अष्टकर्म रूप होने योग्य पुद्गल वर्गणाओं को कर्मवर्गणा कहते हैं। किसी जीवने किसी समय आठ प्रकार कर्मरूप होने योग्य कार्माण-वर्गणा ग्रहण किई, समय अधिक आवलीमात्र आबाधा-काल व्यतीत होने पर उनकी निर्जरा होने लगती है। इस के अनंतर जैसा अनुक्रम नोकर्मपरिवर्तन विषें कहा है, तैसे ही अग्रहीत, मिश्र तथा ग्रहीत के समय प्रबद्ध को अनंत २ वार ग्रहण करि २ छोड़े, इस प्रकार करतेहुए वह जीव जिस समय प्रथमवार ग्रहण किईहुई कर्म-वर्गणाओं को, उतने ही प्रमाण ग्रहणकरि कर्मत्वभाव को प्राप्त करे, उस बीच के सम्पूर्ण काल को एक कर्मपरिवर्तन काल जानो॥

---

*जो परमाणु पहिले कभी ग्रहण न किये हों, प्रथम ही नये ग्रहण किये जांय सो अग्रहीत, जो पहिले ग्रहण किये जाकर फिर ग्रहण किये जांय सो ग्रहीत तथा कुछ नये, कुछ पूर्व में ग्रहण किये हुए मिलकर ग्रहण किये जांय सो मिश्र कहाते हैं॥ प्रगट रहे कि अनादिकाल से एक २ जीवने अनंत २ पुद्गल, समय २ ग्रहण किये, तो भी, लोक में बहुत से अग्रहीत परमाणु अब भी मौजूद हैं। अथवा जब नया परिवर्तन शुरू होता है तब पूर्व-परिवर्तन में ग्रहण किये हुए परमाणु भी अग्रहीत कहलाने लगते हैं॥

(२) क्षेत्रपरिवर्तन–यह भी दो प्रकार का है । स्वक्षेत्रपरिवर्तन और परक्षेत्रपरिवर्तन ॥

स्वक्षेत्रपरिवर्तन–कोई जीव प्रथम समय जघन्य अवगाहनायुक्त सूक्ष्म-लब्धि-अपर्याप्तक निगोदिया का शरीर धारण करे, पश्चात् तिस से एक प्रदेश बढ़ती अवगाहना को धरे । इस प्रकार क्रम से एक २ प्रदेश बढ़ाताहुआ महामत्स्य की उत्कृष्ट अवगाहनापर्यंत शरीर धारण करे, बीच में जो क्रमरहित अवगाहनायुक्त शरीर धारण करे, सो गिन्ती में नहीं । ऐसा करते हुए जितना समय लगे, सो सब एक स्वक्षेत्रपरिवर्तन काल जानो ॥

परक्षेत्रपरिवर्तन–कोई सूक्ष्म–लब्धि–अपर्याप्तक निगोदिया जीव जघन्य अवगाहना के शरीर को धारणकर मेरु के नीचे, लोक के मध्यभाग में इस प्रकार जन्म ले, कि उस जीव के मध्य के ८ प्रदेश, लोक के मध्य के आठ प्रदेशों पर आजाँय* । पश्चात् आयुपूर्ण होने पर मरकर संसारभ्रमण करता हुआ फिर किसी कालमें उतने ही प्रदेश प्रमाणं अवगाहना का शरीर धारणकर उसी क्षेत्र में जन्म ले, इसी भांति शरीर की अवगाहना के बराबर असंख्यात प्रदेश-प्रमाण बार उसी क्षेत्र में उसी प्रकार जन्म ले, पश्चात् एक प्रदेश प्रमाण अधिक क्षेत्र को बढ़ाकर× जन्म ले, ऐसे क्रमसे श्रेणीबद्ध एक २

---

* सूक्ष्मलब्धिअपर्याप्तक निगोदिया के शरीर की अवगाहना असंख्यात-प्रदेश प्रमाण होती है इसलिये लोक के मध्य के ८ प्रदेशों को अपने आठ रुचिक (मध्य के) प्रदेशों से दाबता तथा और भी आसपास के क्षेत्र को रोकता है ॥

× प्रदेश आगे बढ़ाने का मतलब ऐसा नहीं है कि पहिले प्रदेशों को भी शामिल करके उतना बड़ा शरीर करे । किन्तु आगे एक २ प्रदेश क्रमसे बढ़ाता जाय, पीछे के प्रदेश चाहे छूटते जांय ॥

प्रदेश बढ़ाताहुआ लोकाकाश के सम्पूर्ण प्रदेशों में जन्म ले, क्रमरहित प्रदेशों में जन्म लेना गिन्ती में नहीं, इसप्रकार लोकाकाश के सम्पूर्ण प्रदेशों में जन्म तथा मरण करने में जितना काल लगे, सो सब एक परक्षेत्रपरिवर्तन काल जानो॥

(३) कालपरिवर्तन—कोई जीव उत्सर्पिणीकाल के प्रथम समय में उत्पन्न हुआ, मरकर संसार में भ्रमण करता २ फिर किसी उत्सर्पिणी के दूसरे समय में उत्पन्न हो, इसी प्रकार तृतीयादि समयों में क्रम से जन्म ले २ कर उत्सर्पिणी के दश कोड़ा-कोड़ी सागर व अवसर्पिणी के दश कोड़ा-कोड़ी सागर इसप्रकार २० कोड़ा-कोड़ी सागर (कल्प-काल) के समयों को क्रमपूर्वक जन्म ले २ कर पूर्ण करे, क्रमरहित गिन्ती में नहीं। ऐसा करने में जितना काल व्यतीत हो, सो सब एक कालपरिवर्तन जानो॥

(४) भवपरिवर्तन—कोई जीव प्रथम नरक में दश हजार वर्ष की जघन्य-आयु पाकर जन्मा, आयु पूर्ण होने पर मरा, पीछे संसार भ्रमण करते २ फिर किसी काल में उतनी ही आयु का धारक हुआ, इसप्रकार दश हजार वर्ष के जितने समय होते हैं, उतने वार दश २ हजार वर्ष की आयु का ही धारक होय, पीछे क्रम से एक २ समय अधिक, आयु धारण कर २ नरकायु का उत्कृष्ट ३३ सागर प्रमाण काल पूर्ण करे। इसी प्रकार देवायुकी जघन्य-स्थिति दश हजार वर्ष से लेकर उत्कृष्ट-स्थिति ३१ सागर* तक तथा मनुष्यायु-तिर्यंचायु की जघन्य-स्थिति अंतर्मुहूर्त से लेकर उत्कृष्टस्थिति तीन पल्य पर्यंत क्रमपूर्वक

* देवायु में ३१ सागर से अधिक आयुका धारक नियम से सम्यक्ती मोक्ष-मार्गीही होता है अतएव उसे परिवर्तन नहीं करना पड़ता, इसीलिये यहां ३१ सागर कहा है॥

एक २ समय बढ़ाता हुआ पूर्ण करे। क्रमरहित गिन्ती में नहीं। ऐसा करतेहुए चारों आयु के पूर्ण करने में जितना काल लगे, सो सब एक भवपरिवर्तन काल जानो ॥

(५) भावपरिवर्तन—योगस्थान, अनुभाग-अध्यवसाय स्थान, कषाय-अध्यवसाय-स्थान, स्थिति-स्थान इन चारों का परिवर्तन क्रमपूर्वक पूर्ण होना, सो एक भावपरिवर्तन काल है अर्थात् किसी जीव के जिस समय जघन्य स्थितिस्थान, जघन्य कषाय अध्यवसायस्थान, जघन्य अनुभाग अध्यवसायस्थान और जघन्यही योगस्थान हो, तब भावपरिवर्तन का आरंभ जानो। तहां योगस्थान के तो एक २ स्थान क्रम से पलटकर उत्कृष्ट पर्यंत असंख्यातस्थान पूर्ण हों और शेष तीनों ज्यों के त्यों जघन्यरूप ही रहें। इसप्रकार जब योगस्थान पूर्ण होचुकें, तब अनुभाग-अध्यवसायस्थान पलटकर दूसरा हो, शेष दो का जघन्यस्थान ही रहे। इस प्रकार योगस्थानों की पलटनपूर्वक असंख्यात-लोक-प्रमाण अनुभाग-अध्यवसायस्थान क्रम से पलट २ कर पूर्ण होचुकें, तब कषाय-अध्यवसाय का दूसरा स्थान हो, इसप्रकार योगस्थान, अनुभाग-अध्यवसायस्थान-पूर्वक, कषायाध्यवसायस्थान क्रम से पलटतेहुए असंख्यात-लोकप्रमाण पूर्ण हों, तब स्थितिस्थान जघन्य से पलटकर दूसरा अर्थात् एक समय अधिक हो, इसप्रकार सब कर्मों की मूल-उत्तर प्रकृतियों के स्थितिस्थानों के इसी क्रमपूर्वक पलटने में जितना समय लगे, सो सब एक भावपरिवर्तन काल जानो ॥

भावार्थ—द्रव्य-परिवर्तन का काल अनंत है, उस से अनंत-गुणा क्षेत्र-परिवर्तन का, उस से अनंतगुणा काल-परिवर्तन का, उस से अनन्तगुणा भव-परिवर्तन का और उससे अनन्तगुणा भाव-परिवर्तन का काल है। इन पांचों परिवर्तनों के काल का

समूह एक परिवर्तन कहाता है । जीव मिथ्यात्ववश अनादिकाल से अपने शुभाशुभ परिणामों के अनुसार सुख-दुख भोगता हुआ ऐसे अनंत परिवर्तन करचुका है इसलिये अब भवभ्रमणके दुःखों से छूटने का प्रयत्न करना अवश्य है ॥

हे जीव ! तीनों लोकों में तू अकेला है, तेरा कोई भी साथी नहीं, अकेला ही जन्मता और अकेला ही मरता है, अकेला ही अपने कियेहुए शुभाशुभ कर्मों का फल (सुख-दुख) भोगता है । स्त्री-पुत्रादि कोई भी साथी नहीं होते । केवल आत्मीक गुण (रत्नत्रय) ही तेरे साथी, तेरे स्वभावरूप हैं। उन्हीं के प्रभाव से तू मोक्ष-सुख पासक्ता है, इसलिये उन्हीं के बढ़ाने का यत्न कर (एकत्व भावना) ॥

हे आत्मन् ! तू इन कर्म-शरीरादि पुद्गलों से पृथक् है, केवल भ्रमबुद्धि से इन को अपने मानरहा है । तू सर्वाङ्ग-चेतन और ये शरीरादि जड़ हैं । फिर इनमें तथा घर, सम्पत्ति, परिवार में एकता कैसी ? और इन का भरोसा कैसा ? व्यर्थ ही तू इन का भरोसा करता और इन के लिये पाप करके दुर्गति का पात्र बनता है ॥ (अन्यत्व भावना) ॥

हे आत्मन् ! यह शरीर अशुचि माता के रज और पिताके वीर्य से उत्पन्न हाड़, मांस, मल, मूत्र का समूह है । इसमें रहतेहुए तुझे क्या ग्लानि नहीं आती ? क्या तुझे चमड़े से लिपटा हुआ घिनावनी वस्तुओंका समूह यह शरीर सुहावना लगता है ? जो तूं इसे अपना रहा है । भला ! विचार तो सही, संसार में जितनी अपवित्र वस्तुयें हैं वे सब एक शरीर के सम्बन्ध से ही अपवित्र हुई हैं । इतना होने पर भी यह शरीर थिर नहीं है, अतएव ऐसे अपवित्र शरीर से ममत्व तजना और आत्मा के पवित्र होनेका प्रयत्न करना ही श्रेष्ट है । (अशुचित्वभावना.) ॥

हे जीव! मिथ्यात्व, अविरत, कषाय के वशीभूत होकर मन-वचन-काय की प्रवृत्ति करने से पुद्गल-कर्मोंका आस्रव होकर आत्मा से बंध होता है, जिससे आत्मा के ज्ञानदर्शनादि गुणों का घात होता है, अतएव आत्म-गुणों की रक्षा के लिये इन मोहादि भावोंको त्यागना योग्य है। (आस्रवभावना)॥

हे आत्मन्! मोह के मन्द पड़ने अथवा सर्वथा अभाव होजाने से सम्यक्त्व, संयम तथा निष्कषाय भाव उत्पन्न होते और योगों का निरोध होकर, नूतन कर्मों का आना रुक जाता है, अतएव आत्महित के लिये जिस तिस प्रकार इस संवर अवस्था की प्राप्ति करना अवश्य है। (संवरभावना)॥

हे आत्मन्-शुभाशुभ कर्मों के उदयानुसार सुख-दुख की सामग्री के समागम होने पर समताभाव धारण करनेसे सत्ता-स्थित कर्मों का स्थिति-अनुभाग घटता और विना रस दिये ही (कर्मत्व शक्तिरहित होकर) निर्जरा होती है, इस प्रकार संवर-पूर्वक कर्मों का एकोदेश अभाव होना सो (अविपाक) निर्जरा और सर्वोदेश कर्मों का अभाव होजाना सो मोक्ष है। अतएव मुक्ति प्राप्ति के लिये शुद्धोपयोग की वृद्धि करना ही उचित है। (निर्जराभावना)॥

हे आत्मन्! ये अनादि, अनंत, अकृत्रिम, षट्-द्रव्यों से भराहुआ लोक १४ राजू ऊंचा, उत्तर-दक्षिण ७ राजू चौड़ा, पूर्व-पश्चिम नीचे ७ राजू, मध्य में १ राजू, पांचवें स्वर्ग के अंत में ५ राजू, और ऊपर लोक के अंत में १ राजू मोटा है। यह पुरुषाकार ३४३ घन राजू प्रमाण घनाकार है। अधो-लोक में ७ नरक पृथ्वी, मध्यलोक में असंख्यात द्वीप-समुद्र, ऊर्ध्वलोक में १६ स्वर्ग, नव ग्रैवेयिक, नव अनुत्तर, पंच पंचोत्तर हैं, तिस से ऊपर अष्टमी प्राग्भार-पृथ्वी है, जिसमें अंगूठी में

नगीनेकी नांईं ४५ लाख योजन व्यासयुक्त सिद्धशिला जड़ी-हुई है, सब से ऊपर लोक के अंत में मुक्तजीवों का स्थान (सिद्धालय) है, जीव अनादिकाल से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति के विना इस लोक में सर्वत्र जन्म-मरण कररहा है, अतएव संसारभ्रमण से बचने के लिये आत्म-गुणों की एकता को प्राप्त करना ही परम कर्तव्य है। (लोकभावना)॥

हे आत्मन्! इस संसार-भ्रमण में प्रथम तो नित्य-निगोद से निकलना ही महा कठिन है, फिर बे-इन्द्री, तेइन्द्री, चौइन्द्री, पंचेन्द्रिय का होना क्रमशः दुर्लभ है। पुनः सैनी-पंचेन्द्रिय, मनुष्यपना, उच्चकुल, नीरोगता, आयु की पूर्णता पाना अति दुर्लभ है। तिस पर क्षयोपशमादि पंचलब्धियों को प्राप्त होकर सम्यक्त्व और चारित्र का उत्पन्न होना महा कठिन है। सो यह शुभ अवसर आय प्राप्त हुआ है अतएव ऐसे दुर्लभ-संयोग को पाकर अनन्त-काल-स्थाई स्वस्थान (मोक्ष) की प्राप्ति का यत्न करना योग्य है। (बोधिदुर्लभभावना)॥

हे आत्मन्! धर्म आत्मा का स्वभाव है, वह निश्चयनय से यद्यपि अकथ है तथापि व्यवहारनय से रत्नत्रय, दशलक्षण, जीवदया रूप है, इस निज-स्वभाव रूप आत्म-धर्म को प्राप्त करना ही जीवका परम हित है, इस निज सम्पति को पाकर ही यहजीव सच्चा सुखी होसक्ता है अतएव इस को धारण करना ही श्रेष्ठ है। (धर्म-भावना)॥

ये द्वादश-भावना वैराग्य की माता, संवेग-निर्वेद की उत्पादक हैं, इनके चिंतवन करने से संसारसे विरक्तता होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप-भावनाओं में गाढ़-रुचि उत्पन्न होती है अतएव समाधिमरण करनेवाला इन भावनाओं-आराधनाओं युक्त पंच-परमेष्ठी के गुणों का तथा आत्मगुणों का चिंतवन करे।

पुनः निकटवर्ती साधर्मी भाइयों को भी चाहिये कि समाधि-मरण करनेवाले का उत्साह हरसमय बढ़ाते रहें, धर्मध्यान में सावधान करते रहें। वैयावृत्य करते हुए सदुपदेश देवें और रत्नत्रय में उपयोग थिर करावें ॥

अब समाधिमरण करनेवाला अन्त समय में किस प्रकार आहारादि को घटावे तथा क्या चितवन करे सो लिखते हैं। प्रथम ही अन्न के बदले क्रम २ से दूध पीने का अभ्यास डाले, पीछे छांछ और तिस पीछे प्राशुक जल ही रक्खे, जब देखे कि आयु दो-चार प्रहर या १ दिन की ही शेष रही जानपड़ती है, तब शक्ति-अनुसार चारप्रकार आहार का त्याग करे। योग्यता तथा आवश्यकतानुसार ओढ़ने-पहिरने मात्र अल्प वस्त्र का परिग्रह रक्खे, यदि शक्ति और सब प्रकार की योग्यता हो तो वस्त्रादिक सर्व परिग्रह त्याग, मुनिव्रत धार तृण के संस्तर पर पद्मासन वा पर्यंकासनसे बैठजाय, यदि बैठने की शक्ति न हो, तो लेट जाय और मन, वचन, काय को थिरकर धीरे २ समाधिमरण में दृढ़ करनेवाले पाठ पढ़े अथवा साधर्मीजनों के बोलेहुए पाठों को रुचिपूर्वक सुने, जब बिलकुल शक्ति घटजाय तो केवल णमोकार मंत्र ही जपे, पंचपरमेष्ठी का ध्यान मात्र करे, जब यह शक्ति भी न रहे, तब निकटवर्ती धर्मात्मा पुरुष धीरे २ मीठे स्वर से उसे सावधान करते हुए, केवल अर्हंत-सिद्ध या सिद्ध नाममात्रही सुनावें। यह बात ध्यान में रहे कि समाधि-मरण करनेवाले के पास कुटुम्बी या कोई दूसरे आदमी सांसारिक वार्तालाप न करें, कोई रोवें गावें नहीं, कोलाहल न करें, क्योंकि ऐसा होने से समाधिमरण करनेवाले का मन उद्वेग-रूप होजाता है। अतएव हरएक सज्जन को यही उचित है कि उसके निकट संसार, शरीर, भोगों से विरक्त करनेवाली चर्चा वार्ता करे, तथा आगे जो बड़े २ सुकुमाल आदि सत्पुरुषों ने

भारी २ परीषह-उपसर्ग सहकर समभावों पूर्वक समाधिमरण साधा, तिन की कथा कहे, जिससे समाधिमरण करनेवाले के चित्तमें उत्साह और थिरता उत्पन्न हो। इसप्रकार समतासहित, ममतारहित शरीरका त्यागकरना समाधिमरण कहाता है॥

समाधिमरण के नीचे लिखे पंच अतीचार त्यागने योग्य हैं। क्योंकि इन के लगने से समाधिमरण दूषित होजाता है।

(१) जीवित-आशंसा—ऐसी वांछा करना कि यदि मैं अच्छा हो जाऊं और कुछ काल और भी जीऊं तो अच्छा है॥

(२) मरण-आशंसा—ऐसी वांछा करना कि दुःख बहुत होरहा है, यदि शीघ्र मरजाऊं तो अच्छा है॥

(३) मित्रानुराग—माता, पिता, स्त्री, पुत्र, मित्र आदि की प्रीति का स्मरण तथा मिलने की इच्छा करना॥

(४) सुखानुबंध—आगामि पर्याय में सुख की इच्छा तथा पूर्वकाल में भोगे हुए भोगों का स्मरण करना॥

(५) निदानबंध—परभव में सांसारिक विषयभोगों की प्राप्ति की वांछा करना॥

लाभ—जो अणुव्रती सत्पुरुष अतीचाररहित सन्यासमरण करते हैं, वे अपने किये हुए व्रत रूपी मन्दिर पर मानो कलश चढ़ाते हुए स्वर्ग में महर्द्धिक देव होते हैं, पुनः दोचार भव में ही सच्चे आत्मिक निराकुलित स्वरूपानन्द को प्राप्त होते हैं। क्योंकि समाधिमरण के भलेप्रकार साधने से अगले जन्म में इसकी वासना चलीजाती है, जिससे वह जीव वहां उमर सम्हालते ही विराग-रुचि होकर निर्ग्रंथपना धारने का उत्साही होता और शीघ्रही मुनिव्रत धारणकर, शुद्धस्वरूप को साध, मोक्ष प्राप्त कर सक्ता है॥

अभिवंदन प्रकरण ॥

(भद्रबाहु संहितानुसार *)

अव्रती, व्रती, ब्रह्मचारी, उत्तम श्रावक तथा निर्ग्रंथ-गुरु आदि के, एक दूसरे से अभिवंदन करने की पद्धति॥

(१) गुरु (मुनि) के अर्थि श्रावक 'नमोस्तु' कहे ॥

(२) गुरु (मुनि) वदले में उत्तम त्रिवर्ण-श्रावकों को 'धर्मवृद्धि' साधारण (सामान्य) पुरुषोंको 'धर्मलाभ' और शूद्रोंको 'पापं क्षयतु' कहें ॥

(३) ब्रह्मचारी को श्रावक 'वन्दना' कहे ॥

(४) ब्रह्मचारी वदले में श्रावक को 'पुण्यवृद्धि' अथवा 'दर्शनविशुद्धि' कहें ॥

(५) श्रावक आर्यिका को 'वंदामि' कहे ॥+

(६) आर्यिका भी श्रावक को धर्मवृद्धि और सामान्य पुरुषोंको 'धर्मलाभ' कहें ॥

(७) व्रती श्रावक अर्थात् सहधर्मी आपस में 'इच्छाकार' करें तथा विरक्त (उदासीन श्रावक) से भी 'इच्छाकार' करें ॥

(८) शेष जैनी मात्र आपस में जुहार (जुहारु) करें ॥

(९) गृहस्थ अपने लौकिक व्यवहार में जेठों, बड़ों को 'नमस्कार' करें× ॥

---

* और ग्रंथों में यह विषय देखने में नहीं आया ॥

+ यह किसी ग्रंथ में नहीं मिला कि श्राविका, आर्यिका के प्रति क्या कहे और आर्यिका वदले में श्राविका से क्या कहे, परन्तु बुद्धि में आता है कि श्रावक की नांई श्राविका भी आर्यिका प्रति वंदामि कहे और आर्यिका श्रावकों की नांई श्राविका को धर्मवृद्धि कहे ॥

× जेठे-बड़े अपने से छोटों को वदले में क्या कहें ? ऐसा कहीं देखने में नहीं आया, परंतु बुद्धि में आता है कि "सुखी होहु" आदि आशीर्वादात्मक-वचन कहें ॥

(१०) इनके सिवाय और पुरुषों प्रति भी उन की योग्यतानुसार यथायोग्य विनय करना चाहिये ॥

(११) विद्या, तप, और गुणों करके श्रेष्ठ पुरुष, अवस्था में कम होते हुए भी ज्येष्ठ (बड़ा) माना जाता है ॥

(१२) सूत्रपाहुड़ में दशवीं-ग्यारहवीं प्रतिमावाले उत्कृष्ट-श्रावकों को 'इच्छाकार' करना लिखा है, अर्थात् मैं आप सरीखे होने की इच्छा करताहूं ॥

(१३) ग्यारहवीं प्रतिमावाले आपस में 'इच्छामि' करें, (सागारधर्मामृत और धर्मसंग्रह श्रा.)

(नोट) यहां पर व्रती स्त्री-पुरुषों को श्रावक और शेष सबको सामान्य गृहस्थ समझना चाहिये ॥

सूतकप्रकरण ॥

प्रगट रहे कि सूतक में देव-गुरु शास्त्र का पूजन-स्पर्शन, मन्दिर के वस्त्र पात्र का स्पर्शन तथा पात्रदान वर्जित है ॥ सूतककाल पूर्ण होने पर प्रथम दिवस पूजन-प्रक्षाल तथा पात्र-दान करके पवित्र होवे ॥ सूतक का विधान इस प्रकार है:—

(१) वृद्धि अर्थात् जन्म का सूतक (सुआ) १० दिन का-माना जाता है ॥

(२) स्त्री का गर्भ-जितने माह का पतन होय, उतने दिन का सूतक मानना चाहिये, यदि ३ माह से कम का हो, तो तीन दिन का सूतक मानना चाहिये ॥

(३) प्रसूती-स्त्रीको ४५ दिन का* सूतक होता है, इस के पश्चात् वह स्नान-दर्शन कर के पवित्र होवे ॥

* कहीं २ चालीस दिन का भी माना जाता है ॥

(४) प्रसूतिस्थान को १ माह का सूतक अर्थात् अशुद्धता कही है ॥

(५) रजस्वला (ऋतुवती) स्त्री की पांचवें दिन शुद्धता होती है ॥

(६) व्यभिचारिणी स्त्री कभी भी शुद्ध नहीं होती, उस के सदाही सूतक है ॥

(७) मृत्यु का सूतक १२ दिन का मानाजाता है ॥

(८) तीन पीढ़ी तक १२ दिन, चौथी पीढ़ी में १० दिन, पांचवीं पीढ़ी में ६ दिन, छट्ठी पीढ़ी में ४ दिन, सातवीं पीढ़ी में ३ दिन, आठवीं पीढ़ी में १ दिनरात, नवमीं पीढ़ी में दो प्रहर और दशवीं पीढ़ी में स्नानमात्र से शुद्धता कही है ॥

(९) जन्म तथा मृत्यु का सूतक गोत्र के मनुष्य को ५ दिन का होता है ॥

(१०) ८ वर्ष तक के बालक की मृत्यु का ३ दिन का और तीन दिन के बालक का १ दिन का सूतक जानो ॥

(११) अपने कुल का कोई गृहत्यागी अर्थात् दीक्षित हुआ हो उस का सन्यास मरण अथवा किसी कुटुम्बी का संग्राम में मरण होजाय, तो १ दिन का सूतक होता है। यदि अपने कुल का देशान्तर में मरण करे और १२ दिन पूरे होने के पहिले मालूम हो, तो शेष दिनों का सूतक मानना चाहिये, यदि दिन पूरे होगये हों, तो स्नानमात्र सूतक जानो ॥

(१२) घोड़ी, भैंस, गौ आदि पशु तथा दासी अपने आंगन (गृह) में जने, तो १ दिन का सूतक होता है, यदि गृह बाहिर जने तो सूतक नहीं होता ॥

(१३) दासी-दास तथा पुत्री के प्रसूति होय या मरे, तो ३ दिन का सूतक होता है। यदि गृह बाहिर होय तो सूतक

नहीं होता। यहां पर मृत्यु की मुख्यता से ३ दिन का कहा है, प्रसूति का १ ही दिन का जानो ॥

(१४) अपने को अग्नि में जलाकर (सती होकर) मरे तिस का ६ माह का तथा और २ हत्याओं का यथायोग्य पाप जानना ॥

(१५) जने पीछे भैंस का दूध १५ दिन तक, गाय का १० दिन तक और बकरी का ८ दिन तक अशुद्ध है, पश्चात् खाने योग्य है ॥

प्रगट रहे कि कहीं २ देश भेद से सूतकविधान में भी भेद होता है, इसलिये देशपद्धति तथा शास्त्रपद्धति का मिलान कर पालन करना चाहिये ॥

स्त्री–चारित्र ॥

(१) सूत्रपाहुड़ में कहा है कि स्त्री "छुल्लिका" भी हो सक्ती है। पुनः यह भी कहा है की उनकी योनि में, स्तन की चीटियों में, नाभि में तथा कांखों में लब्धि-अपर्याप्तक मनुष्य उत्पन्न होते रहते हैं। ऐसी दशा में उनको महाव्रत की दीक्षा कैसे होसक्ती है? क्यों कि उनसे सर्वप्रकार की हिंसा का त्याग नहीं होसक्ता। जो स्त्री सम्यक्त्व करि शुद्ध है वह मोक्षमार्ग संयुक्त कही है, परन्तु तीव्र (अपनी शक्तिभर) चारित्र धारण करने पर भी उसके महाव्रत की दीक्षा नहीं होती ॥

(२) दौलतक्रियाकोष के दानप्रकरण में कहा है कि "तीन उत्तम वर्ण की स्त्रियां ही आर्यिका होसक्ती हैं। आर्यिका एक सफेद साड़ी, पीछी, कमंडल, शास्त्र रक्खे, बैठकर करपात्र आहार करे, केश लौंच करे"। तथा "ब्रह्मचारिणी श्राविका मध्यमपात्र में मध्यम है" ॥

(३) श्रीमूलाचारजी में नीचे लिखे अनुसार कहा है। "अर्यिकानि के वृक्ष-मूलादि योग न होय है अर्थात् वृक्षादि के कोटर में एकान्त रहकर तप करने की आज्ञा नहीं है। अर्यिका परस्पर अनुकूल रहें, परस्पर मत्सर, ईर्षाभाव न रक्खें, आपस में रक्षण, प्रतिपालन में तत्पर रहें, क्रोध, वैर, कलह, कुटिलता रहित हों, न्यायमार्ग में प्रवर्तनेवाली, मर्यादावान्, लोकापवाद से भयभीत, लज्जायुक्त तथा दोनों कुल (सासरा और पीहर) के योग्य जिनका आचरण हो अर्थात् मर्यादावान्, लज्जावान् और क्रियावान् हों॥

पढ़ेहुए शास्त्रोंका पठन-स्वाध्याय-पाठ, शास्त्रश्रवण, अपने जाने हुए शास्त्रों का व्याख्यान, श्रुत का चिंतवन, द्वादशानुप्रेक्षा का चिंतवन, बारह प्रकार तप, इन्द्रियनिरोध, विनय इन शुभ क्रियाओं में आर्यिकायें सदा उद्यमी रहें। विकाररहित वस्त्र (सफेद साड़ी) पहिरें (रंगीले और शौकीनी के वस्त्र न पहिरें) विकार तथा संस्काररहित शरीर रहें, रजपसेवकरियुक्त, स्नानादि रहित हों* धर्मयुक्त, दीक्षायुक्त, शीलवान् विशुद्ध हों, सक्लेश रहित हों॥

आर्यिका नगर के न अति निकट रहें न अति दूर रहें। जहां असंयमी तथा गृहस्थ न रहते हों, जहां परदारालम्पट, चोर, ठग, दुष्ट-तिर्यंचादि न रहते हों तथा मुनियों का संचार जहां न हो, जहां मलमूत्रादि उत्सर्ग करने का स्थान गुप्त हो, ऐसे स्थान में रहें। दो आर्यिकाओं से कम न रहें अर्थात् अकेली कभी न रहें, अधिक हों तो उत्तम है॥

---

* आर्यिका मासिकधर्म के समय श्राविकाओं द्वारा उचित स्नानादि शौच करे, इन दिनों में उपवास या नीरस आहार करे, चौथे दिन प्राशुकजल से स्नान कर आहार करे॥

आर्यिका विना प्रयोजन गृहस्थ के घर न जावे. अथवा जहां मुनि वैठे हों, तहां न जाय। गृहस्थों के घर (भिक्षा-काल में) अथवा आचार्य के निकट (प्रतिक्रमण के समय) गणिनी (श्रेष्ठ आर्यिका) की आज्ञा लेकर अन्य-आर्यिका अथवा गणिनी के साथ जाय ॥

आर्यिका को आश्रम में तथा पर घर जाकर इतने काम न करना चाहिये। रुदन अर्थात् दुःख करि पीड़ित होय आंसू काढ़ना, स्नपन अर्थात् वालकादि को स्नान कराना, किसी के वालकादि को भोजन कराना, पानी पिलाना, रसोई करना, सूत कातना, सीना, कसीदा काढ़ना आदि। असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्पकर्म, लेखकर्म, ये षट्-कर्म जीवघात के कारण हैं, सो न करे। संयमीनि के पगों का प्रक्षालना, रागभावपूर्वक गाना आदि और भी अपवाद के कारण अयोग्य क्रिया न करे ॥

आर्यिका आचार्यादि की वंदना के लिये जाय, तो आचार्य को ५ हाथ दूर से, उपाध्याय को ६ हाथ दूर से और साधु को ७ हाथ दूर से वंदना करके उन के पिछाड़ी जाकर वैठे, अगाड़ी न वैठे। इसी प्रकार आलोचना, अध्ययन, स्तुति भी इतने ही दूर से करे और जैसे गौ वैठती है उसी तरह गौआसन से वंदना करे ॥

(४) श्रीभगवतीआराधनासार में कहा है कि "आर्यिका" समाधिमरण के अवसर में अन्य-आर्यिका या गणिनी की सहायता से अन्तसमय नग्न-दिगम्बर मुद्रा भी धारण करसक्ती है, जो पुरुषों के दृष्टिगोचर न हो ॥

उपर्युक्त आगमवाक्यों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि स्त्रियाँ भी पुरुषों के समान सव प्रतिमाओं की धारक तथा आर्यिका होसक्ती हैं। एलुक वृत्ति तथा मुनिव्रत धारण करना इनके

लिये अशक्य है। इनके उत्तम संहनन के अभाव से शुद्धोपयोग रूप परिणाम, नग्न दिगम्बर मुद्रा तथा प्रमत्तादि ऊपरले गुण-स्थान नहीं होसक्ते, इनके वस्त्रत्याग अशक्यानुष्ठानरूप होने से तत्सम्बन्धी निराकुलता एवं चित्त की दृढ़ता नहीं होसक्ती, ये हिंसादि सावद्ययोग का त्याग नव कोटि अर्थात् मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदन से नहीं करसक्तीं, न इनके सामायिक चारित्रकी प्राप्ति होसक्ती है, इसी से आगम में इन के उपचार महाव्रत कहा है। यद्यपि ये अपने पुरुषार्थ की हद को पहुंचचुकी हैं तथापि भाव यथार्थ में पंचम गुणस्थानरूप ही होते हैं ॥

गृहस्थिनी-श्राविका, ब्रह्मचारिणी क्षुल्लिका तथा आर्यिका के बाह्यभेप और क्रियाओं में मेरी समझ से इतना ही भेद जान पड़ता है कि श्राविका के पति-संसर्ग तथा परिग्रह-प्रमाण और भोगोपभोग-प्रमाण व्रत के अनुसार वस्त्र वा परिग्रह रहता है और पहिनाव सामान्य गृहस्थों सरीखा होता ह। ब्रह्मचारिणी के पतिसंसर्ग का अभाव, वैराग्य-सूचक सादे-सफेद वस्त्रों का पहिनाव तथा अल्प-परिग्रह रहता है। क्षुल्लिका एक सफेद धोती तथा एक सफेद दुपट्टा रखतीं और आरंभ-परिग्रह रहित रहतीं तथा आर्यिका आरंभ-परिग्रह रहित केवल एक सफेद साड़ी पहिनतीं, पीछी, कमंडल साथ रखती हैं ॥

भावार्थ—स्त्रियां भी तत्त्वज्ञानपूर्वक श्रावक-धर्म का साधन (जैसा कि ऊपर वर्णन किया जाचुका है) ग्यारहवीं प्रतिमा (क्षुल्लिका) तक करती हुई आर्यिकातक होसक्तीं और अपनी शक्ति एवं योग्यतानुसार धर्मसाधन करती हुई आत्मकल्याण करसक्ती हैं, जिस से परंपराय स्त्री-लिंग का अभाव करके पुरुष पर्याय, उत्तम सुख-समृद्धि पाय, महाव्रत धारणकर मोक्ष प्राप्त कर-

सक्ती हैं। अतएव स्त्रियों को उचित है कि पढ़ें, लिखें, धर्म-विद्या का अभ्यास करें, तत्त्वबोध को प्राप्त हों और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को देख योग्यतानुसार ब्रह्मचर्यादि प्रतिमा अथवा आर्यिका के व्रत धारण करें॥

मुनि-धर्म* ॥

जब जीव के लोक-स्थित जीव-पुद्गलादि षट् द्रव्यों के यथार्थ स्वरूप पूर्वक शुद्ध आत्मद्रव्य की स्वाभाविक पर्यायों और पुद्गल जनित वैभाविक-पर्यायों के जानने से मिथ्याबुद्धि दूर होकर सत्यश्रद्धान और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होजाती है, तब वह आत्मीक स्वभाव की प्राप्ति के लिये उस के साधक-कारणों को मिलाता और बाधक कारणों को दूर करता है, इसी क्रिया को सम्यक्चारित्र कहते हैं॥

चारित्र की आरंभिक श्रेणी में हिंसादि पंच-पापों का स्थूल-पने त्याग होता है जिसे श्रावकधर्म या अणुव्रत कहते हैं। तहां राज्य-दंडे, पंच-भंडे, लोक में निन्दा हो; ऐसी हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म एवं अतितृष्णा का त्याग होता है, पुनः इन के रक्षणार्थ तथा महाव्रतों की आरंभिक क्रियाओं के शिक्षणार्थ दिग्विरतादि सप्त शीलोंका पालन कियाजाता है। जिस का फल यह होता है कि अणुव्रत, महाव्रतों को स्पर्शने लगते हैं॥ और इन का पालक पुरुष महाव्रत धारण करने का अधिकारी होजाता है॥

---

* यहां श्री मूलाचारजी, भगवतीआराधनासार तथा विद्वज्जनबोधक के अनुसार दिग्दर्शनमात्र संक्षिप्तरूप से मुनि-धर्म का वर्णन किया है। जो सज्जन विशेष रूप से जानना चाहें, वे इन ग्रंथों का अवलोकन करें॥

चारित्र की उत्तरश्रेणी में हिंसादि पंचपापों का सम्पूर्णपने त्याग होता है, इसे मुनिधर्म या महाव्रत कहते हैं। इस के निर्वाहार्थ तथा रक्षणार्थ पंच-समिति, तीन गुप्ति (अष्टप्रवचन-मात्रिका) भी पालन कीजाती हैं। जिस का फल यह होता है कि महाव्रत, यथाख्यात चारित्र को प्राप्त होते हैं।

यह श्रावकधर्म और मुनिधर्म किसी २ ग्रंथ में चार आश्रमों में विभक्त करके वर्णन कियागया है। यथा चारित्रासारे:—

(१) ब्रह्मचर्याश्रम—जबतक पुत्र-पुत्रियों का विवाह न हो, तबतक वे ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याभ्यास करें, यह ब्रह्मचर्याश्रम कहाता है ॥

(२) गृहस्थाश्रम—ब्रह्मचर्याश्रमी पुत्र-पुत्री विवाह होने पर गृहस्थ कहाते हैं और इस समय वे नीचे लिखे षट्कर्म करते हैं॥ (१) इज्या अर्थात् पूजन करना (२) असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, पशुपालन और शिल्प; इन आजीवी-षट्कर्मों में से जो उद्योग अपने वर्णानुसार योग्य हो, उस के द्वारा न्यायपूर्वक द्रव्योपार्जन करना (३) दत्ति अर्थात् चार प्रकार दान देना, सर्व जीवों से मैत्रीभाव रखना, पात्रों की भक्ति-पूर्वक सेवा करना, दीनों को दयापूर्वक दान देना, समानता-वालों को समदत्ति अर्थात् योग्य सहायता देना (४) स्वाध्याय करना (५) संयम पालना (६) यथासंभव तप करना ॥

(३) वाणप्रस्थाश्रम—सप्तमी प्रतिमाधारक नैष्ठिक ब्रह्मचारी तथा अष्टमी, नववीं, दशवीं और ग्यारहवीं प्रतिमावाले (गृहस्थाश्रम के त्यागी) सन्यासाश्रम में प्रविष्ट होने के अभ्यासी वाणप्रस्थ कहाते हैं। इन में उत्कृष्ट-वाणप्रस्थ खंड-वस्त्र धारक क्षुल्लक, एल्लक हैं ॥

(४) सन्यासाश्रम—सर्व परिग्रह के त्यागी, आत्मध्यानी निर्ग्रंथ साधु हैं, जो आत्मस्वरूप को साधते हैं ॥

(नोट) इन चार आश्रमों में से आरंभिक तीन आश्रमों के उपयोगी श्रावकधर्म का वर्णन तो ऊपर हो चुका, अब आगे साक्षात् मोक्ष-प्राप्ति करानेवाले चतुर्थ सन्यासाश्रम (मुनिधर्म) का संक्षिप्तरूप से वर्णन किया जाता है ॥

मुनिधर्म धारनेयोग्य पुरुष ॥

(१) मुनिधर्म धारण करनेवाला पुरुष उत्तम देश का उपजा हो* क्योंकि देश (उत्पत्तिस्थान) का असर कुछ न कुछ अवश्य रहता है । (२) उत्तम त्रिवर्ण यथा; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हो, शूद्र न हो क्योंकि जाति का भी असर रहता है । (३) अंगपूर्ण हो । (४) राजविरुद्ध न हो । (५) लोकविरुद्ध न हो । (६) जिसने कुटुम्ब से दीक्षा लेने की आज्ञा मांग ली हो । यद्यपि आज्ञा मांगने का राजमार्ग है तथापि कारण विशेष से यदि कुटुम्बी आज्ञा न दें, तो भी दीक्षा लेसक्ता है परंतु प्रेमभावपूर्वक सब से क्षमाभाव होना उचित है । (७) मोह रहित हो । (८) कुष्ट, मृगी आदि बड़े रोगों से रहित हो । (९) संघ में कुशलता और धर्म की वृद्धि का कारण हो ॥

यद्यपि सामान्यरीति से सर्व ही मुनि नग्न, दिगम्बर, अट्ठाईस मूल गुणधारी, आभरण-स्नान-गंध-लेपनादि संस्कार-रहित शान्ति-मुद्रायुक्त होते हैं, इसलिये अभेद हैं, तथापि किसी २ विशेषगुण की मुख्यता अपेक्षा इनके अनगार, साधु, ऋषि, मुनि, यति आदि भेदरूप नाम भी कहेजाते हैं । सो ही श्री-मूलाचार जीमें कहा है "ये ही महाव्रती गृहवास, स्त्री-पुत्रादि परिग्रह तज निर्ग्रंथ होने की अपेक्षा अनगार कहाते हैं । आत्म-

---

* म्लेच्छखंड का उपजा पुरुष चक्रवर्ती आदि के साथ आर्यखंड में आकर महाव्रत धारण करसक्ता है (लब्धिसारजी) ॥

स्वरूप (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) को एकीभावपूर्वक साधने की अपेक्षा साधु कहाते हैं। मौन धारण करने, मन-वचन-काय की गुप्तियुक्त आत्मध्यान में तत्पर होने की अपेक्षा मुनि कहाते हैं। आत्मध्यान के बल से अनेक प्रकार की मनःपर्यय, अक्षीण-महानसी, चारण आदि ऋद्धियां प्राप्त होने की अपेक्षा ऋषि कहाते हैं। इसी प्रकार इन्द्रिय-कषायों को जीतने की अपेक्षा संयत और तेरह प्रकार चारित्र पालने के लिये यत्न करने की अपेक्षा यती कहाते हैं"॥ तथा चारित्रसार में ऐसा कहा है कि "सामान्यपने निजगुण के साधक अनगार, उपशम-क्षपक श्रेणी में आरूढ़ यती, अवधिज्ञानी मनःपर्यय-ज्ञानी मुनि और जो ऋद्धियुक्त होते हैं सो ऋषि कहाते हैं"॥

पुनः मुनियों के पदस्थ अपेक्षा आचार्य, उपाध्याय, साधु तीन भेद होते हैं। इन्हीं से संघ का निर्वाह तथा उत्तरोत्तर ज्ञान-ध्यान की वृद्धि होती है। इन का स्वरूप इस प्रकार है:-

आचार्य—जो स्वतः ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, वीर्याचार, तपाचार इन पंचाचार रूप प्रवर्तते तथा संघ के सब मुनिसमूह को प्रवर्ताते और दीक्षा-प्रायश्चित्तादि देते हैं। जिसप्रकार राजा, प्रजा की कुशलता की वृद्धि तथा रक्षा करता है उसीप्रकार ये अपने संघ के आचार और रत्नत्रयादि की रक्षा और वृद्धि करते हैं॥ उपाध्याय—जिस प्रकार अध्यापक शिष्यों को पठन-पाठन द्वारा ज्ञान की वृद्धि कराता और स्वयं ज्ञान की वृद्धि के लिये पठन-पाठन करता है, उसी प्रकार उपाध्याय सर्व संघ को अंग-पूर्वादि शास्त्रों का ज्ञान कराते और स्वयं पठन-पाठन करते हैं॥ साधु—जो आत्मस्वरूप को साधते और आचार्य की आज्ञानुसार आचरण करते तथा उपाध्याय की इच्छानुसार पढ़ते हैं। इस प्रकार पदस्थ अपेक्षा भेद होते हुए

भी आत्मस्वरूप का साधन तीनों प्रकार के मुनियों में सामान्य-रीति से एकसा ही होता है, इसलिये सभी साधु हैं ॥

सामान्य रीति से यद्यपि सब ही साधु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं महाव्रतोंयुक्त, नग्नदिगम्बर (निर्ग्रंथ) २८ मूलगुणों के धारी होने से एक ही प्रकार के होते हैं, तो भी चारित्र-परिणाम की हानि-वृद्धि अपेक्षा इन के पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रंथ, और स्नातक ये पांच भेद हैं ॥

(१) पुलाक—जिनका मन उत्तरगुणों की भावना रहित हो, जो किसी क्षेत्र-काल के आश्रय व्रतों में कदाचित् दोष होने से परिपूर्णता को नहीं प्राप्त होते हुए अविशुद्ध (बिना धोये हुए तंदुल के समान) हों। भावार्थ–जिन के परवश तथा बराजोरी से कोई मूलगुण सदोषित हो ॥ ये सामायिक, छेदोपस्थापना संयम के धारक और पीत, पद्म, शुक्ल तीन शुभलेश्या युक्त होते हैं। मरकर बारहवें स्वर्गतक जाते हैं ॥

(२) बकुश—जिन के महाव्रत अखंडित होते हों। सराग संयम की विशेषतावश, धर्मप्रभावना के निमित्त जिन के शरीर तथा पीछी, कमंडलादि उपकरणों की सुन्दरता की इच्छारूप ऐसे भाव होते हों, कि हमारे संयमादि के संस्कार करि शरीर ऐसा सुन्दर हो, जिस के देखने से देवों के सम्यक्त्व होजाय, मनुष्यों के संयम होजाय। इसीप्रकार ये वीतरागतासूचक धर्मोपकरण रखते और उन्हें इस प्रकार सुधारते–सम्हालते हैं, जिन के देखने से दूसरों के वीतरागता प्रगट होजाय। इनका चारित्र चित्रवर्ण कहा है क्योंकि वीतराग होते हुए, विविध विषयों के ग्राहक शिष्य-समूहयुक्त होते हैं, शिष्यशाखा विषैं राग होता है। ये सामायिक-छेदोपस्थापना संयम के धारक होते हैं। छहों लेश्यायुक्त होते, मरकर सोलहवें स्वर्ग तक जाते हैं ॥

(३) कुशील—इन के दो भेद हैं। (१) प्रतिसेवना कुशील-जिन के शिष्य-शाखादि अप्रगट हैं। यद्यपि मूलगुणों, उत्तरगुणों में परिपूर्णता है तथापि कोई कारण-विशेष वश उत्तरगुणों की विराधना होती है। सामायिक, छेदोपस्थापना संयम के धारक होते, छहों लेश्यायुक्त होते, मरकर सोलहवें स्वर्ग तक जाते हैं॥ (२) कषाय कुशील—जो संज्वलन कषाय युक्त होते, शेष कषायों को जिनने वश किया है, प्रमाद रहित होते। परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय संयम के धारक होते। सामायिक, छेदोपस्थापना संयम भी होता है। परिहार विशुद्धि-वाले के कापोत-पीत-पद्म-शुक्ल चार लेश्या होतीं। सूक्ष्मसांपराय संयमी के एक शुक्ल लेश्या ही होती है। मरकर सर्वार्थसिद्धि तक जाते हैं॥

(४) निर्ग्रंथ—जिन के जल में लहर अथवा दंड की लीक के समान कर्म का उदय प्रगट नहीं है। मोहनीय-कर्म का अभाव हुआ है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का उदय है। जिन के उपयोग की गति मन्द होगई है, व्यक्त (अनुभवगोचर) नहीं है। जिन के अंतर्मुहूर्त पीछे केवलज्ञान उपजनेवाला है। ये यथाख्यात-संयम के धारक होते। शुक्लेश्या युक्त होते। मरकर सर्वार्थसिद्धि पर्यंत जाते हैं॥

(५) स्नातक—चारों घातिया कर्मों के सर्वथा अभावयुक्त केवली सयोगी-अयोगी दो भेदरूप होते हैं। ये यथाख्यातसंयम के धारक होते। शुक्ल लेश्या युक्त होते। मोक्ष के पात्र होते हैं॥

मुनियों के उत्सर्ग-अपवाद दो मार्ग कहे गये हैं। (१) उत्सर्गमार्ग—जहां शुद्धोपयोगरूप परम-वीतराग संयम होता है। (२) अपवादमार्ग—जहां शुद्धोपयोग के बाह्य-साधन आहार-विहार-निहार, कमंडल-पीछी, शिष्य-शाखादि के

ग्रहण-त्याग युक्त शुभोपयोगरूप सरागसंयम होता है। इन में अपवादमार्ग, उत्सर्गमार्ग का साधक होता है ॥

साधु के २८ मूलगुण ॥

आगम में साधु (मुनि) का लक्षण इस प्रकार कहा है "जो पंचेन्द्रियों के विषयों से विरक्त, आरंभ-परिग्रह रहित और ज्ञान-ध्यान-तप में लवलीन हो, सोही साधु है"। भावार्थ. आत्मस्वरूप में लवलीन होने को बाधक कारण आरंभ-परिग्रह और इन्द्रिय-विषयों की लोलुपता है. इन्हीं के निमित्त से जीव के कषायों की उत्पत्ति होती और आत्म-ध्यान में चित्तवृत्ति स्थिर नहीं रह सक्ती, अतएव इनको त्याग आत्म-ज्ञानपूर्वक ध्यान में लवलीन रहना ही साधु का कर्तव्य है। इस इष्टसिद्धि के लिये साधु को नीचे लिखे शास्त्रोक्त २८ मूलगुण धारण करना चाहिये. यथाः-पंच महाव्रत, पंच समिति, पंच इन्द्रियों का दमन, सामायिकादि षट्कर्म, केशलौंच, आचेलक्य, अस्नान, भूमिशयन, अदन्त-घर्षण, खड़े खड़े भोजन और एकभुक्ति। इन मूलगुणों के भलीभांति पालने से आत्मा के ८४ लाख उत्तरगुणों की उत्पत्ति होती है, जिनका वर्णन आगे कियागया है॥ जिसप्रकार मूल विना वृक्ष नहीं ठहरसक्ता और न विस्तृत व हराभरा होसक्ता है उसी प्रकार मूलगुणों के समुचित पालन किये विना न तो मुनिधर्मका ही साधन होसक्ता, और न उत्तर गुणों की उत्पत्ति ही होसक्ती है। अतएव मुनिधर्म धारणकर आत्मस्वरूप साध, परमात्मा होनेके इच्छुक भाग्यवानों को ये २८ मूलगुण यथार्थ-रीति से पालन करना अत्यावश्यक है॥

पंचमहाव्रत ॥

जिनका आचरण अत्यन्तपने सावद्य की निवृत्ति और मोक्ष की प्राप्ति के लिये कियाजाय, सो महाव्रत हैं। अथवा जिनका आचरण महाशक्तिवान्, पुण्यवान् पुरुष ही करसकें सो महाव्रत है। अथवा जो इन महाव्रतों को धारण करे, सो महान् होजाता है ऐसे ये स्वयं ही महान् हैं, इसलिये महाव्रत हैं। इसप्रकार हिंसादि पंचपापों के सर्वथा त्यागरूप सकलसंयम (चारित्र) के साधक महाव्रत पांच प्रकार हैं।

(१) अहिंसामहाव्रत—पट्काय के जीवों की हिंसा नहीं करना अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति कायिक (स्थावर जीव) तथा दो-इन्द्रिय, ते-इन्द्रिय, चौ-इन्द्रिय, पंचेन्द्रिय (त्रस जीव) इन सब को जीवत्व की अपेक्षा समान जान, इन की हिंसा न करनी, रक्षा करना-दयाभाव रखना सो द्रव्य-हिंसाविरति और रागद्वेष का त्याग सो भाव-हिंसाविरति है। भावार्थ. प्रमत्तयोगपूर्वक द्रव्य-और भाव प्राणों के घात का सर्वथा त्याग सो अहिंसा महाव्रत है॥

(२) सत्यमहाव्रत—प्रमत्तयोगपूर्वक असत्य वचन का सर्वथा त्याग सो सत्य महाव्रत है॥

(३) अचौर्यमहाव्रत—प्रमत्तयोगपूर्वक विना दीहुई वस्तु के ग्रहण करने का सर्वथा त्याग सो अचौर्य महाव्रत है॥ यद्यपि अचौर्य का अभिप्राय अदत्तग्रहण का त्याग मात्र है अर्थात् किसीका पड़ा हुआ, भूला हुआ, रक्खा हुआ, विना दिया हुआ पदार्थ न लेवे। तथापि मुनि, धर्मोपकरण तथा भोजन के सिवाय अन्य कोई वस्तु दिई हुई भी न लेवें, यदि लेवें, तो अचौर्य महाव्रत नष्ट होजाता है, क्योंकि साधु सर्वथा सर्व प्रकार परिग्रह के त्यागी हैं॥

(४) ब्रह्मचर्यमहाव्रत—वेदके उदय जनित मैथुन सम्बन्धी सम्पूर्ण क्रियाओं का सर्वथा त्याग सो ब्रह्मचर्यमहाव्रत है ॥ तहां सर्व प्रकार की स्त्रियों में विकारभाव का अभाव सो द्रव्यब्रह्मचर्य और स्वात्मस्वरूप में स्थिति सो निश्चय-ब्रह्मचर्य है ॥

(५) परिग्रहत्यागमहाव्रत—परद्रव्य एवं तत्सम्बन्धी मूर्छा का अभाव सो परिग्रहत्यागमहाव्रत है। तहां चेतन, अचेतन दोनों प्रकार के परिग्रह का अथवा १ खेत (ज़मीन) २ वास्तु (मकानात्) ३ चांदी ४ सोना ५ पशु ६ अनाज ७ नौकर ८ नौकरनी ९ वस्त्र १० वर्तन इन दश प्रकार वाह्य-परिग्रहों का तथा १ क्रोध २ मान ३ माया ४ लोभ ५ हास्य ६ रति ७ अरति ८ शोक ९ भय १० जुगुप्सा (घृणा) ११ स्त्रीवेद १२ पुरुषवेद १३ नपुंसकवेद १४ मिथ्यात्व इन चौदह प्रकार अंतरंगपरिग्रहों का त्याग सो परिग्रहविरति है। यद्यपि यहां संज्वलन कषाय का सर्वथा अभाव नहीं हुआ तथापि अभाव करने के सन्मुख है ॥

प्रगट रहे कि श्रीतत्त्वार्थसूत्र में अहिंसादि पांचों व्रतों की पांच २ भावना कहीगई हैं जिनके यथायोग्य चिंतवन करने से अणुव्रतों–महाव्रतों की रक्षा होती तथा उनमें दृढ़ता पहुंचती है. इसलिये वे व्रती पुरुषों के वार २ चिंतवन करने योग्य हैं। यहां प्रकरणानुसार महाव्रतों की भावनायें कही जाती हैं ॥

१ अहिंसामहाव्रत की पांचभावना— १ वचनगुप्ति २ मनोगुप्ति, ३ ईर्यासमिति, ४ आदान–निक्षेपणसमिति, ५ एषणासमिति ॥

सत्यमहाव्रत की पांच भावना—१ क्रोध का त्याग, २ लोभ का त्याग, ३ भय का त्याग, ४ हास्य का त्याग ५ सूत्र के अनुसार वचन बोलना ॥

अचौर्यमहाव्रत की पांच भावना— १ सूने घर में वास करना (२) दूसरों की छोड़ीहुई जगह में रहना (३) दूसरों को वस्तिका में आने से न रोकना, या किसी के रोकेहुए स्थान में न जाना (४) शास्त्रोक्तरीति से ४६ दोष, ३२ अंतराय, १४ मलदोष टाल आहार ग्रहण करना (५) धर्मात्माओं से कलह-विसंवाद न करना ॥

ब्रह्मचर्य महाव्रत की पांच भावना—(१) स्त्रियों में राग उत्पन्न करनेवाली कथा-वार्ता-गीत सुनने का त्याग करना (२) स्त्रियों के मनोहर अंग देखने का त्याग करना (३) महाव्रत धारण करने के पूर्व भोगे हुए भोगोंका स्मरण न करना (४) पुष्ट-कामोत्तेजक आहार न करना (५) शरीर का स्नानादि संस्कार न करना ॥

परिग्रहत्याग महाव्रत की पांच भावना—पांचों इन्द्रियों के भले-बुरे विषयों में राग-द्वेष न करना ॥

पांच समिति ॥

सम् अर्थात् भलेप्रकार, सम्यक्, शास्त्रोक्त, इति कहिये गमनादि में प्रवृत्ति सो समिति है। इन में समीचीन चेष्टा सहित आचरण होता है इसलिये ये व्रतों की रक्षक और पोषक हैं ॥ ये पांच हैं, यथाः—

(१) ईर्यासमिति—जो मार्ग मनुष्य-पशु आदि के गमनागमन से खुंदगया हो, सूर्य के आताप से तप्त होगया हो, हल-बखर आदि से जोतागया हो तथा मसानभूमि हो, ऐसे प्रासुकमार्ग से, प्रमादरहित होकर, दिनके प्रकाश में चार हाथ प्रमाण भलीभांति निरखते हुए, प्राणियों को न विराधते हुए, शास्त्रश्रवण, तीर्थयात्रा, गुरु-दर्शन आदि धर्म-कार्यों तथा

आहार-विहार-निहारादि आवश्यक कार्यों के निमित्त गमन करना सो ईर्यासमिति कहाती है ॥

इसके अतिचार*—गमन करते समय भूमि का भलीभांति अवलोकन नहीं करना। पर्वत, वन, वृक्ष, नगर, बाजार, तिर्यंच, मनुष्यादि को अवलोकन करतेहुए चलना ॥

(२) भाषासमिति—सर्व प्राणियों के हितकारी, सुख उपजानेवाले, प्रामाणिक, शास्त्रोक्त, विकथा-वर्जित वचन बोलना। लौकिक, कर्कश, हास्यरूप, परनिन्दक, स्वात्मप्रशंसक प्राणियों को संक्लेश-दुःख-हानि उपजानेवाले वचन न बोलना, सो भाषासमिति कहाती है ॥

इसके अतीचार—देशकाल के योग्यायोग्यविचार किये बिना बोलना, बिना पूछे बोलना, पूरा सुने-जाने बिना बोलना ॥

(३) एषणा समिति—आहार ग्रहण की प्रवृत्ति को एषणा कहते हैं। सो ४६ दोष, ३२ अंतराय, १४ मल दोष टालकर उत्तम त्रिकुल अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के घर तप-चारित्र बढ़ाने के लिये शीत-उष्ण, खट्टे-मीठे में समभावसहित, शरीर-पुष्टि और सुन्दरता के प्रयोजनरहित मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना नव कोटि से शुद्ध, अपने निमित्त न किया हुआ ऐसा अनुद्दिष्ट आहार लेना, सो एषणासमिति कहाती है ॥

इसके अतीचार—उद्गमादि दोषों में से कोई दोष लगाकर भोजन करना। अतिरस की लम्पटता से प्रमाणाधिक भोजन करना ॥

सूचना—आहार सम्बन्धी ४६ दोषों का वर्णन अतिथि-संविभाग व्रत में होचुका है तथा आगे मुनि के आहार के

---

* श्री मूलाचारजी के अनुसार ये अतीचार लिखेगये हैं ॥

वर्णन में भी आवेगा. तहां देखकर श्रावकों तथा उद्दिष्टत्यागी आदि पात्रों को दाता-पात्र-और आहार के आश्रय उत्पन्न होनेवाले दोषों से वचना चाहिये, अन्यथा शिथिल होने से चारित्र में दूषण आता है ॥

(४) आदान-निक्षेपणसमिति—रक्खीहुई वस्तु उठाने को आदान और ग्रहण किई हुई वस्तु रखने को निक्षेपण कहते हैं। जिससे किसी जीव को वाधा न पहुंचे, उसप्रकार ज्ञान के उपकरण शास्त्र, संयम के उपकरण पीछी, शौच के उपकरण कमंडल तथा संस्तरादि को यत्नपूर्वक उठाना, रखना सो आदाननिक्षेपणसमिति कहाती है ॥

इसके अतीचार—भूमि-शरीर तथा उपकरणों को शीघ्रता से उठाना-धरना, अच्छी तरह नेत्रों से नहीं देखना वा मयूर-पिच्छिका से अच्छीतरह प्रतिलेखन नहीं करना, उतावली से प्रतिलेखन करना ॥

(५) प्रतिष्ठापनासमिति—जीव-जन्तु रहित तथा एकान्त (जहां असंयमी पुरुषों का प्रचार न हो) अचित्त (हरित-कायादि रहित) दूर, छिपे हुए (गुप्त) विशाल (विल, छिद्र रहित) अविरोध (जहां रोकटोक न हो) ऐसे मलमूत्ररहित निर्दोषस्थान में मल-मूत्र-कफादि क्षेपण करना, सो प्रतिष्ठापना-समिति कहाती है ॥

इसके अतीचार—अशुद्ध, विना-शोधी भूमि में मल-मूत्र-कफादि क्षेपना ॥

पंचेन्द्रियनिरोध ॥

स्पर्शनादि पंचेन्द्रियों के विषयों में लोलुपता होने से असंयम तथा कषायों की वृद्धि होकर चित्त में मलिनता तथा चंचलता

होती है, इसलिये जिनको चित्त निर्मल तथा आत्मस्वरूप में थिर करना है, आत्मस्वरूप को साधना है, ऐसे साधु-मुनियों को कषायों के उत्पन्न न होने देने के लिये पंचेन्द्रियों के विषयों से सर्वथा विरक्त होना चाहिये। इसीप्रकार इन पंचेन्द्रियों को कुमार्ग में गमन करानेवाले चंचल मन को भी वश करना अत्यावश्यक है। यद्यपि मन किसी रसादि विषय को ग्रहण नहीं करता, तथापि इन्द्रियों को विषयों की तरफ झुकाता है॥ इसतरह इन्द्रियों तथा मन के विषयों में रागद्वेषरहित होना इन्द्रिय-निरोध कहाता है। इनका पृथक् २ स्वरूप इस प्रकार है॥

(१) स्पर्शन इन्द्रिय निरोध—चेतन-पदार्थ स्त्री, पुत्रादि, अचेतन-पदार्थ वस्त्र, शय्यादि सम्बन्धी स्पर्शनइन्द्री के विषयभूत कठोर-कोमल, शीत-उष्ण, हलके-भारी, चिकने-रूक्ष पदार्थों में रागद्वेष न करना॥

(२) रसना इन्द्रिय निरोध—असन-पान, खाद्य-स्वाद्य चार प्रकार इष्ट-अनिष्ट आहार तीखे, कडुवे, कषायले, खट्टे, मीठे पंच रसरूप आहार में रागद्वेष न करना॥

(३) घ्राण इन्द्रिय निरोध—सुख-दुख के कारणरूप सुगंधित, दुर्गंधित पदार्थों में रागद्वेष नहीं करना॥

(४) चक्षु इन्द्रिय निरोध—कुरूप-सुरूप, सुहावने-भयावने रागद्वेष के उत्पादक पदार्थों को तथा लाल, पीले, हरित, रक्त, सफेद आदि रंगों को देखकर रागद्वेष न करना॥

(५) श्रोत्र इन्द्रिय निरोध—चेतन स्त्री, पुरुष, पशु आदि, अचेतन मेघ-बिजली आदि और मिश्र तबला-सारंगी आदि से उत्पन्न शुभ-अशुभ, प्रशंसा-निन्दा आदि के शब्द सुनकर रागद्वेष न करना॥

षट्आवश्यक ॥

अवश्य करने योग्य को आवश्यक कहते हैं, मुनियों के ये षट्आवश्यक समस्त कर्मों के नाश करने को समर्थ हैं। यद्यपि मुनिराज नित्य ही ये षट्कर्म करते हैं, तथापि ध्यान-स्वाध्याय की इनके मुख्यता है। ये षट्कर्म इस प्रकार हैं:—

(१) समता अर्थात् सामायिक—भेदज्ञानपूर्वक समस्त सांसारिक पदार्थों को अपने आत्मा से पृथक् जान तथा आत्म-स्वभाव को रागद्वेषरहित जान जीवन-मरण, लाभ-अलाभ संयोग-वियोग, शत्रु-मित्र, सुख-दुख में समानभाव रखना तथा कर्मों के शुभा-शुभ उदय में रागद्वेष न करना ॥

(नोट) मुनि इसप्रकार समतारूप सामायिक चारित्र के धारक होते हुए भी नित्य त्रिकाल-सामायिक करते हैं इसलिये यहां प्रकरणवश इनके सामायिकसम्बन्धी ३२ दोष कहे जाते हैं॥

सामायिक के ३२ दोष ॥

(१) अनादर दोष—सामायिक का क्रियाकर्म निरादर-पूर्वक वा अल्पभाव से करना ॥ (२) तसदोष—विद्या आदि गर्वसंयुक्त उद्धततापूर्वक सामायिक करना (३) प्रविष्टदोष—अति असंतुष्टतापूर्वक पंचपरमेष्टी का ध्यान करना ॥ (४) परिपीड़ित दोष—दोनों गोड़ों के प्रदेशों को स्पर्शना-पीड़ना (मसकना) ॥ (५) दोलायतदोष—आप को चंचल करके संशयसहित सामायिक करना ॥ (६) अंकुशदोष—हाथ की अंगुलियों को अंकुश के सदृश ललाट से लगाकर वन्दना करना ॥ (७) कच्छपदोष—कटिभाग को कछुए की तरह ऊंचा करके सामायिक करना ॥ (८) मत्स्यदोष—मछली

की तरह कमर को नीची ऊंची अगल बगल को पलटना (९) मनोदुष्टदोष–हृदयको दुष्टरूप, क्लेशरूप करके सामायिक करना (१०) वेदिकावद्ध दोष–अपने हाथोंसे अपने दोनों घुटनों को बांधकर मसकना॥ (११) भयदोष-मरणादिक के भयसहित सामायिक करना। (१२) विभीत-दोष–परमार्थ को जाने विना गुरु के भय से सामायिक करना। (१३) ऋद्धिगौरवदोष–अपने संघ के गौरव की इच्छा करि सामायिक करना। (१४) गौरवदोष- सुख के निमित्त आसन आदि कर अपना गौरव प्रगट करना (१५) स्तेनितदोष–गुरु से तथा अन्य से छिपकर सामायिक करना (१६) प्रतिनीक-दोष–देव, गुरुसे प्रतिकूल होकर सामायिक करना। (१७) प्रदुष्टदोष–अन्य सामायिक करे, तिससे द्वेष, वैर, कलह कर-के सामायिक करना। (१८) वर्जितदोष–अन्यको भय उप-जाकर सामायिक करना। (१९) शब्ददोष–मौनको छोड़ वातें करतेहुए सामायिक करना। (२०) हीलनदोष–आचार्य तथा अन्य साधुओंका अपमान करतेहुए सामायिक करना। (२१) त्रिवलिदोष–ललाट की तीन रेखा चढ़ाय सामायिक करना। (२२) संकुचितदोष–दोनों हाथों से माथा पकड़-कर संकोचरूप होना॥ (२३) दृष्टिदोष–अपनी इच्छापूर्वक दशों दिशाओं में अवलोकन करना। (२४) अदृष्टदोष–आचार्यादिक से छिपकर और अनेक जनों के सन्मुख प्रतिले-खन करना। (२५) करमोचनदोष–संघ के रंजन निमित्त तिनकी भक्ति की वांछारहित सामायिक करना। (२६) आलब्धदोष–जो उपकरण मिलजाय तो सामायिक करना। (२७) अनालब्धदोष–उपकरणादि की वांछायुक्त सामा-यिक करना (२८) चंदनचूलिकादोष–थोड़े ही काल में

जल्दी से सामायिक करलेना । (२९) उत्तरचूलिकादोष-आलोचना में अधिक काल लगाकर सामायिक को थोड़े ही काल में पूर्ण करना । (३०) मूकदोष-मूक के समान मुख मटकाके, हुंकारा आदि करके अंगुली आदि की समस्या बताना । (३१) दर्दुरदोष-अपने शब्द, परके शब्द विषैं मिलाते, रोकते, बड़े गले करके सामायिक करना । (३२) चुचूलतदोष-एक ही जगह तिष्ठकर सब की वंदना पंचम-स्वर (अति उच्चस्वर) से करना ॥

(२) वंदना—चौवीस तीर्थंकरों में से एक तीर्थंकर की वा पंचपरमेष्ठी में एक की मुख्यता करि स्तुति करना तथा अर्हंतप्रतिमा, सिद्धप्रतिमा, तपोगुरु, श्रुतगुरु, दीक्षागुरु, दीक्षाधिकगुरु को प्रणाम तथा उनकी मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक स्तुति करना ॥

(३) स्तुति या स्तवन-चौवीस तीर्थंकरों की स्तुति करना ॥

(४) प्रतिक्रमण—आहार, शरीर, शयन, आसन, गमनागमन और चित्त के व्यापार से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के आश्रय अतीतकाल में लगे हुए व्रत-सम्बन्धी अपराधों का शोधना, निन्दा-गर्हायुक्त अपने अशुभ योगों से निवृत्त होना अर्थात् अशुभ परिणामपूर्वक कियेहुए दोषों का परित्याग करना सो प्रतिक्रमण है। वह दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, ईर्यापथिक, उत्तमार्थ भेद से सात प्रकार का होता है. इसी भांति वर्तमान में लगेहुए दोषों का निराकरण सो प्रायश्चित्त तथा भविष्य में ऐसे अपराध न करने की प्रतिज्ञा सो प्रत्याख्यान कहाता है ॥

(५) कायोत्सर्ग—शरीरसे ममत्व छोड़ खड़े होकर या

बैठकर शुद्धात्मचिंतन करना, सम्यक्त्वादि रत्नत्रयगुणों की भावनासहित होकर शरीर से निर्ममत्व होना ॥

(६) स्वाध्याय—वांचना, पृच्छनादि पंच प्रकार शास्त्रों का अध्ययन अथवा आत्मचिंतन करना ॥

केशलौंच* ॥

अपने हाथ से शिर, डाढ़ी, मूछों के केशोंका उखाड़ डालना, सो केशलौंच कहाता है ॥

यह क्रिया उत्कृष्ट २ माह में, मध्यम ३ माह में, जघन्य चार माह में कीजाती है। लौंच के दिन प्रतिक्रमणसहित उपवास करना चाहिये ॥

लौंच से लाभ—सन्मूर्छन जीवों की हिंसा का परिहार, शरीर से निर्ममत्व, वैराग्य वीर्यशक्ति तथा मुनिलिंग के गुण निर्ग्रंथपना की प्रगटता के लिये केशलौंच किया जाता है। इससे आत्मा वशीभूत होता, शरीरसम्बन्धी सुख में आशक्तता नहीं होती, स्वाधीनता नष्ट नहीं होती, संयम नहीं बिगड़ता, धर्म में श्रद्धा, प्रतीति होती तथा कायक्लेश तप होता है ॥

आचेलक्य ॥

चेल, वस्त्र को कहते हैं। निरवद्य-मुनिधर्म के विराधक कपास-पाट-रेशम-सन-टाट आदि वनस्पति के वस्त्रों तथा मृग व्याघ्रादि से उत्पन्न मृगछालादि चर्म वा वृक्षों के पत्र-छाल आदि द्वारा शरीर को आच्छादित नहीं करना और उन्हें मन-वचन-काय से त्यागना. सो आचेलक्य गुण है ॥

---

* शास्त्रों में "पंचमुष्ठी लौंच कीनों" ऐसा कहा है उसका भाव वृद्ध-विद्वानों द्वारा ऐसा सुनागया है कि दीक्षासमय, शरीर से निर्ममता प्रगट करने को पहिले नेगमात्र दो मूठी मूंछों की, दो डाढ़ी की और १ शिरकी लौंच करते, पीछे शेष सब का लौंच कर डालते हैं ॥

यद्यपि परिग्रह-त्याग में ही ये आचेलक्य-गुणगर्भित होता है। तथापि अन्यमतों में वस्त्र को परिग्रह नहीं गिना, इसलिये अथवा आर्यिका को वस्त्र धारण करने के कारण उपचार महाव्रत ग्रंथों में कहा है इसलिये यथार्थ महाव्रती के लिये परिग्रह-त्याग से पृथक् ही वस्त्रत्याग मूलगुण कहा है ॥

निर्ग्रंथ लिंग से लाभ—इससे कामविकार का अभाव होता, शरीर में निर्ममता होती, संयम के विनाश का अभाव होता, हिंसादि पापोत्पत्ति का अभाव होता, ध्यान में विघ्न का अभाव होता, जगत में प्रतीति होती, अपनी आत्मा में स्थिति होती, गृहस्थपने से पृथक्ता प्रगट होती, परिग्रह में मूर्छा नहीं जाती, बहुत शोधना नहीं पड़ता, भय नहीं होता, जीवों की उत्पत्ति वा हिंसा नहीं होती। याचना, सींवना, प्रक्षालना, सुखावना आदि ध्यान-स्वाध्याय में विघ्न के कारण उत्पन्न नहीं होते। शीत-उष्णादि परीषहों का जय, उपस्थइन्द्री का वशीकरण होता है। यह मुद्रा जिनेन्द्रमुद्रा का प्रतिबिम्ब है ॥

अस्नान ॥

जल्ल (सर्व अंग पर जो मल हो, जैसे धूल-पसेव आदि) तथा मल (जो एकही अंगमें लगा हो, जैसे पांव में कीचड़ लगजाना आदि) युक्त शरीर होने पर भी स्नान, विलेपन, जलसिंचन आदि शरीरसंस्कार न करने को अस्नानगुण कहते हैं ॥ परन्तु साधु को मल-मूत्रादि सम्बन्धी शुद्धता, षट् आवश्यकादि के निमित्त करना अवश्य है ॥

अस्नान गुण से लाभ—कषायनिग्रह, इन्द्रियनिग्रह तथा इन्द्रियसंयम के निमित्त अस्नान मूलगुण है, इस से मल-परीषह का जीतना भी होता है ॥

क्षितिशयन ॥

जीवादि रहित प्राशुकभूमि में संस्तररहित अथवा जिससे संयम का घात न हो, ऐसे अल्पमात्र तृण-काष्ठ के पटिये (फलक) पर या शिलामय संस्तर पर (जो आप के द्वारा या अन्य महाव्रती के द्वारा कियागया हो, हिलता न हो, कोमल तथा सुन्दर न हो) एकान्तस्थान में प्रछन्न औंधे अथवा सीधे रहित एक पसवाड़े से दंड अथवा धनुप के समान शयन करना, सो क्षितिशयन गुण कहाता है ॥

क्षिति शयन से लाभ—शरीर से निर्ममत्व, तप की भावना, संयम की दृढ़ता, निपद्या-शय्या-त्रणस्पर्श आदि परीपहों का जीतना, शरीर के सुखियापने तथा प्रमाद का अभाव होता है ॥

अदन्तधावन ॥

हाथ की अंगुली, नख, दन्तौन, तीक्ष्ण कंकर, वृक्ष की छाल आदि द्वारा दांतों का शोधन न करना, सो अदन्तधावन कहाता है ॥

अदन्तधावन से लाभ—इन्द्रियसंयम की रक्षा होती, वीतरागता प्रगट होती और सर्वज्ञ की आज्ञा का पालन होता है ॥

स्थितभोजन ॥

भीत आदि के आश्रय विना, दोनो पांवों में चार अंगुल का अन्तर रखकर, समपाद खड़े होकर, ४६ दोप, ३२ अंतराय, १४ मलदोप टालकर, पाणिपात्र आहार लेने को स्थित-

भोजन गुण कहते हैं। खड़े भोजन लेने का प्रयोजन यह है कि जबतक हाथ-पांव चलें और धर्मध्यान सधे, तबतक शरीरको आहार देना। बैठकर, दूसरे के हाथसे या वर्तनद्वारा आहार नहीं करना, पाणिपात्र से ही करना, जिस से अंतराय होने पर हाथ का ग्रासमात्र भोजन छोड़ना पड़े, अधिक नहीं ॥

स्थितभोजन से लाभ—हिंसादि दोषों की निवृत्ति होती, इन्द्रियसंयम तथा प्राणसंयम का प्रतिपालन होता है ॥

एकभुक्ति ॥

तीन घड़ी दिन चढ़े पीछे, तीन घड़ी दिन रहे पहिले, मध्य में १,२,३ मुहूर्त काल के भीतर १ दिवस में केवल एक वार ही अल्प आहार लेने को एकभुक्ति गुण कहते हैं ॥

एकभुक्ति से लाभ—इन्द्रियों के जीतने तथा आकांक्षा की निवृत्ति के लिये एकभुक्ति व्रत है ॥

(नोट) इन उपर्युक्त अट्ठाईस मूलगुणों के विधिपूर्वक पालन करने से इन्द्रियसंयम* और प्राणसंयम* दोनों की भलीभांति सिद्धि होती है, स्वाधीनता, निराकुलता बढ़ती, धर्म में प्रवृत्ति भलीभांति होती, उपयोग स्थिर और निर्मल होता है, यही योग्यता मोक्षप्राप्ति के लिये मूलकारण और मोक्ष का स्वरूप है ॥

---

*पांचों इन्द्रियों, छटवां मन के विषयों से राग घटजाना या तत्संबंधी रागका बिलकुल अभाव होजाना सो इन्द्रियसंयम और छहकाय के जीवों की विराधना का अभाव अर्थात् योगों की यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति अथवा संवर होजाना सो प्राणसंयम है ॥

मुनि के आहार–विहार का विशेष।

भोजन करने के कारण:—(१) क्षुधा वेदना के उपशमनार्थ (२) षट् आवश्यकों के पालननिमित्त (३) चारित्रपालनार्थ (४) इन्द्रियसंयमनिमित्त (५) प्राण रक्षणार्थ (६) उत्तम-क्षमादि धर्मपालननिमित्त। इन छः कारणों से साधु आहार लेते हैं॥

भोजन न करने के कारण:—(१) युद्धादिक की शक्ति उत्पन्न होने को (२) आयु की वृद्धि होने को (३) स्वाद के लिये (४) शरीर पुष्ट होने को (५) मोटे (मस्त) होने को (६) दीप्तिवान होने को। इन छः प्रयोजनों से साधु आहार नहीं लेते॥

आहार त्याग करने के कारण:—(१) अकस्मात् मरणान्त समय सरीखी वेदना उपजने पर आहार त्यागे (२) दीक्षा के विनाश के कारण उपसर्ग होने से आहार त्यागे (३) ब्रह्मचर्य की रक्षा में बाधा होती देखे तो आहार त्यागे (४) प्राणियों की दया निमित्त आहार त्यागे (५) अनशन-तप पालने के निमित्त आहार त्यागे (६) शरीर परिहार अर्थात् सन्यास-मरण के निमित्त आहार त्यागे॥

भिक्षा को जाने की पद्धति:—साधु योग्यकाल में भिक्षा के लिये वनसे नगर में जावे, उसे यह बात जानना जरूर है कि इस देश में भोजन का काल कौनसा है? नगर-ग्रामादि को अग्नि, स्वचक्र, परचक्र के उपद्रव, राजादि महंत पुरुषों के मरण, धर्म में उपद्रव आदि युक्त जाने या महान हिंसा होती होय, तो भोजन को न जाय। जिस काल चक्की, मूसलादिका शब्द मन्द पड़जाय, उस समय मल-मूत्र आदि की बाधा मेट, पीछी, कमंडल ग्रहण कर गमन करे। मार्ग में किसी से वार्तालाप न करे, यदि आवश्यक्ता ही हो, तो खडे होय योग्य और

थोड़े शब्दों में उत्तर दे। दुष्ट मनुष्य-तिर्यंच, पत्र, फल, पुष्प, बीज, जल, कींच जिस भूमि में हो, वहां गमन न करे। दातार तथा भोजन का चिंतवन न करे। अंतराय कर्म के क्षयोपशम के आधीन लाभालाभको विचार धर्म-ध्यान सहित चार आराधना को आराधता भिक्षा के निमित्त गमन करे। जाते समय योग्यतानुसार व्रत-परिसंख्यान प्रतिज्ञा अंगीकार करे। भिक्षा के निमित्त लोकनिंद्य कुल में न जाय। दानशाला, विवाहस्थान, मृतक सूतकस्थान, नृत्य-गान-वादित्रस्थान, रुदनस्थान, विसंवाद, द्यूतक्रीड़ा के स्थान में न जाय। जहां अनेक भिक्षुक एकत्र हो रहे हों, किवाड़ लगे हों, मनुष्यों की भीड़ हो, सकड़ा मार्ग हो, जहां आने-जाने की कठिनाई हो, । ऊंट, घोड़ा, बलध आदि पशु खड़े हों, या बँधे हों पुनः घुंटनों से ऊंचा चढ़ने तथा ड्यौढी (ड्डंडी) से नीचा माथा करके उतरने योग्य स्थान में साधु भोजन को न जाय। दीन-अनाथ, निंद्यकर्म द्वारा आजीविका करनेवालों के गृह न जाय। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन उत्तम कुलवालों के गृह के आंगने तक जाय, जहांतक किसी के आने जाने की रोक न हो। आशीर्वाद, धर्मलाभादि न कहे, इशारा न करे, पेट न बतावे, हुंकारा न करे, भ्रकुटी न चलावे। यदि उत्साहपूर्वक गृहस्थ पड़गाहे तो जाकर शुद्ध आहार ले। न पड़गाहे तो तत्काल अन्यगृह चलाजाय। किसी गृह को छोड़े पीछे फिर उस में उस दिन न जाय। अंतराय होजाय, तो अन्यगृह भी न जाय ॥

भिक्षा के पंच प्रकारः—(१) गोचरी—जैसे गाय घास खाती है, घास डालनेवाले की तथा उसके वस्त्राभूषण की सुन्दरता नहीं देखती, वैसे ही मुनि योग्य-शुद्ध भोजन करते हैं, दातार के ऐश्वर्य-सुंदरतादि को नहीं देखते। (२) अक्षम्रक्षण-

जैसे वणिक गाड़ी को घी, तेल से औंधकर अपना माल इष्टस्थान को लेजाता है वैसे ही साधु रत्नत्रय की स्थिरता तथा वृद्धि के निमित्त रस-नीरस आहार लेते हैं। (३) उदराग्नि प्रशमन-जैसे प्रज्वलित अग्नि को जल से बुझाते हैं, तैसे ही मुनि रस-नीरस भोजन से क्षुधा शान्त करते हैं। (४) गर्तपूरण वृत्ति-जैसे गृहस्थ गृह-स्थित गड्ढे को कूड़ा-मिट्टी आदि से भरकर पूर्ण करता है, तैसे ही मुनि रस-नीरस भोजन से उदर भरते हैं। (५) भ्रामरी-जैसे भ्रमर कमलादि पुष्पों का रस लेता परन्तु बाधा नहीं पहुंचाता तैसे मुनि दातार को किसी प्रकार कष्ट-बाधा-उद्वेग पहुंचाये बिना आहार लेते हैं॥

आहारसम्बन्धी दोष॥

१६ उद्गम दोष—जो दोष दातार के अभिप्रायों से आहार तय्यार करने में उपजें सो उद्गम दोष कहाते हैं। यदि पात्र को मालूम होजाय तो ऐसा आहार ग्रहण न करे। वे १६ हैं। यथाः—(१) जो षट्काय के जीवों के वध करि उपजे सो अधःकर्म नामक महान दोष है (२) साधु का नाम लेकर भोजन बनाना सो उद्देशिक दोष है (३) संयमी को देख भोजन बनाने का आरंभ करना सो अध्यदि दोष है (४) प्राशुक भोजन में अप्राशुक भोजन मिलाना सो पूति दोष है (५) असंयमी के योग्य भोजन का मिलाना सो मिश्र दोष है (६) रसोई के स्थान से अन्यत्र आप के वा पर के स्थान में रक्खाहुआ भोजन लाकर गृहस्थ देवे और पात्र लेवे सो स्थापित दोष है (७) यक्ष, नागादि के पूजन निमित्त कियाहुआ भोजन, पात्र को देना सो बलि दोष है (८) पात्र को पड़गाहे पीछे, काल की हानि-वृद्धि अथवा नवधाभक्ति में शीघ्रता वा विलम्ब करना सो प्रावर्तिक

दोष है। (९) अंधेरा जान मंडपादि को प्रकाशरूप करना सो प्राविश्कारण दोष है। (१०) आप के वस्तु नहीं, दूसरे से उधार लाकर देना सो प्रामिशिक दोष है (११) अपनी वस्तु के बदले, दूसरे गृहस्थ से कोई वस्तु लाना सो परिवर्तक दोष है (१२) तत्काल देशान्तर से आईहुई वस्तु देना सो अभिघट दोष है (१३) बँधी वा छांदा लगीहुई वस्तु खोलकर देना सो उद्भिन्न दोष है (१४) रसोई के मकान से ऊपरके मकान में रक्खीहुई वस्तु निशरणी पर चढ़कर निकालकर देना सो मालारोहण दोष है (१५) उद्वेग, त्रास, भय को उत्पन्न करनेवाला भोजन देना सो आच्छेद्य दोष है (१६) दातार का असमर्थ होना सो अनिसार्थ दोष है ॥

१६ उत्पादन दोष—जो आहार प्राप्त करने में अभिप्राय सम्बन्धी दोष पात्र के आश्रय लगते हैं। यथाः—(१) गृहस्थ को मंजन, मंडन, क्रीड़नादि धात्रीकर्म का उपदेश देकर आहार ग्रहण करना सो धात्री दोष है। (२) दातार को पर-देश के समाचार कहकर आहार ग्रहण करना सो दूत दोष है (३) अष्टांग-निमित्त बताकर आहार ग्रहण करना सो निमित्त दोष है (४) अपना जाति-कुल-तपश्चर्यादिक बताकर आहार लेना सो आजीवक दोष है (५) दातार के अनुकूल वचन कहकर आहार लेना सो वनीपक दोष है (६) दातार को औषधि बताय आहार ग्रहण करना सो चिकित्सा दोष है (७, ८, ९, १०) क्रोध, मान, माया, लोभ कर आहार ग्रहण करना सो क्रोध, मान, माया, लोभ दोष है. (११) भोजन के पूर्व दातार की प्रशंसा कर आहार ग्रहण करना सो पूर्वस्तुति दोष है (१२) आहार ग्रहण किये पीछे दातार की स्तुति करना सो पश्चात्-स्तुति दोष है (१३) आकाशगामिनी

आदि विद्या बताकर आहार ग्रहण करना सो विद्या दोष है (१४) सर्प-बिच्छू आदि का मंत्र बताकर आहार ग्रहण करना सो मंत्र दोष है (१५) शरीर की शोभा निमित्त चूर्णादि बताय आहार ग्रहण करना सो चूर्ण दोष है (१६) अवश को वश करने की युक्ति बताकर आहार लेना सो मूलकर्म दोष है॥

१४ आहार सम्बन्धी दोष—जो दोष भोजन के आश्रय लगते हैं। यथाः—(१) यह भोजन योग्य है या अयोग्य? खाद्य है या अखाद्य? ऐसी शंका का होना सो शंकित दोष है (२) सचिक्कण हाथ या बर्तन पर रक्खाहुआ भोजन ग्रहण करना सो म्रक्षित दोष है (३) सचित्त पत्रादि पर रक्खा-हुआ भोजन ग्रहण करना सो निक्षिप्त दोष है (४) सचित्त पत्रादि से ढँकाहुआ भोजन करना सो पिहित दोष है (५) दान देने की शीघ्रता से भोजन को नहीं देखकर या अपने वस्त्रों को नहीं संभालकर आहार देना सो सव्यवहरण दोष है (६) सूतक आदि युक्त अशुद्ध आहार ग्रहण करना सो दायक दोष है (७) सचित्त से मिला हुआ आहार सो उन्मिश्र दोष है (८) अग्नि से परिपूर्ण नहीं पचा वा जलगया अथवा तिल, तंदुल, हरड़ आदि करि स्पर्श-रस-गंध-वर्ण बदले बिना जल ग्रहण करना सो अपरिणत दोष है (९) गेरू, हरताल, खड़ी आदि अप्राशुक द्रव्य से लिप्तहुए पात्र द्वारा आहार दियाहुआ ग्रहण करना सो लिप्त दोष है (१०) दातार द्वारा पात्र के हस्त में स्थापन किया हुआ आहार जो पाणिपात्र में से गिरता हो, अथवा पाणि-पात्र में आये हुए आहार को छोड़ और आ-हार-लेय ग्रहण करना सो परित्यजन दोष है (११) शीतल भोजन या जल में उष्ण अथवा उष्ण भोजन या जल में शीतल मिलाना सो संयोजन दोष है (१२) प्रमाण से अधिक

भोजन करना सो अप्रमाण दोष है (१३) अतिगृद्धता सहित आहार लेना सो अंगार दोष है (१४) भोजन प्रकृति विरुद्ध है, ऐसा संक्लेश या ग्लानि करताहुआ आहार लेना सो धूम दोष है.

अपने तईं स्वतः भोजन तथा उसकी सामग्री तय्यार करना, सो अधःकर्म दोष कहाता है, यह ४६ दोषों के अतिरिक्त महान दोष है जो मुनिव्रत को मूल से नष्ट करता है ॥

बत्तीस अंतरायः—अंतराय, सिद्धभक्ति किये पीछे होने पर माना जाता है। (१) भोजन को जाते समय ऊपर काकादि पक्षी का बीठ करदेना (२) पग का विष्टादि मल से लिप्त होजाना (३) वमन होजाना (४) भोजन को गमन करते कोई रोक देवे (५) रुधिर-राधि की धार वह निकले (६) भोजन के समय अश्रुपात होजाय अथवा अन्य के अश्रुपात देखे या विलाप करता देखे (७) भोजन के निमित्त जाते गोड़न (घुटने) ते ऊंची पंक्ति चढ़ना पड़े (८) साधु का हाथ गोड़ेन (घुटने) से नीचे स्पर्श हो जाय (९) भोजन के निमित्त नाभि तें नीचा माथा करि द्वार में से निकलना पड़े (१०) त्यागी हुई वस्तु भोजन में आजाय (११) भोजन करतेहुए अपने साम्हने किसी प्राणि का वध होजाय (१२) भोजन करतेहुए काकादि पक्षी ग्रास लेजाय (१३) भोजन करतेहुए पात्र के हस्त में से ग्रास गिरजाय (१४) कोई त्रसजीव साधु के हस्त में आकर मरजाय (१५) भोजन के समय मृतक पंचेंद्रिय का कलेवर देखे (१६) भोजन के समय उपसर्ग आजाय (१७) भोजन करतेहुए साधु के दोनों पांवों के मध्य में से मेंड़क, चूहा आदि पंचेंद्रिय जीव निकलजाय (१८) दातार के हाथ में से भोजन का पात्र गिरपड़े (१९) भोजन करते समय साधु के शरीर से मल

निकल आवे (२०) मूत्र निकल आवे (२१) भ्रमण करते हुए शूद्र के गृह में प्रवेश होजाय (२२) साधु भ्रमण करते हुए मूर्च्छा खाकर गिरपड़े (२३) भोजन करता हुआ साधु रोग वश बैठजाय (२४) श्वानादि पंचेन्द्रिय काटखाय (२५) सिद्धभक्ति किये पीछे हस्त से भूमि का स्पर्श होजाय (२६) भोजन के समय कफ, थूकादि गिरपड़े (२७) भोजन समय साधु के उदर से कृमि निकल आवे (२८) भोजन करते समय साधु के हस्त तें परवस्तु का स्पर्श होजाय (२९) भोजन करते हुए कोई दुष्ट, साधु को या अन्य को खड्ग मारे (३०) भोजन निमित्त जाते हुए गांव में आग लगजाय (३१) भोजन करते हुए साधु के चरण से किसी वस्तु का स्पर्श होजाय (३२) भोजन करते हुए साधु भूमि पर पड़ीहुई वस्तु को हाथ से छूले ॥

विशेषता—और भी चांडालादि अस्पर्श के स्पर्श होते, किसीसे कलह होते, इष्ट गुरु शिष्यादि का वा राजादि प्रधान पुरुषों का मरण होते उस दिन उपवास करे ॥

चौदह मल-दोष—१ नख २ बाल ३ प्राणरहित शरीर ४ हाड़ ५ कण (जव, गेंहूं आदि का बाहिरी अवयव) ७ राधि ८ त्वचा (चर्म) ९ बीज (गेंहूं, चना आदि) १० लोहू ११ मांस १२ सचित्तफल (जामुन, आम आदि) १३ कन्द १४ मूल ॥

विशेषता—(१) रुधिर, मांस, अस्थि, चर्म, राध ये पांच महादोष हैं, इनके देखनेमात्र से आहार तजे, यदि स्पर्श हुआ हो, तो प्रायश्चित्त भी ले ॥ (२) बाल, विकलत्रय प्राणी का शरीर तथा नख निकले तो आहार तजे और किंचित् प्रायश्चित्त भी ले॥ (४) कण, कुंड, कंद, बीज, फल, मूल भोजन में हों तो अलग करदे, न होसकें तो भोजन तजे (५) राधि-रुधिर सिद्धभक्ति

किये पीछे दातार-पात्र दोनों में से किसी के निकल* आवे तो भोजन तजे तथा मांस को देखतेमात्र भोजन तजे ॥

भोजन में कितना काल लगे—उत्कृष्ट एक मुहूर्त, मध्यम दो मुहूर्त, जघन्य तीन मुहूर्त काल सिद्धभक्ति किये पीछे भोजन का कहा है ॥

वस्तिकादोषवर्णन—उपर्युक्त प्रकार आहार के जो ४६ दोष कहे हैं, वे ही दोष वस्तिका सम्बन्धी हैं तथा एक अधःकर्म महान दोष और भी है, जिसमें वस्तिका तथा उस सम्बन्धी सामग्री का तय्यार करना जानना ॥

निवास और चर्या—साधु छोटे ग्राममें एक दिन तथा नगर में पांच दिन से अधिक नहीं ठहरे, चौमासे भर एकस्थान में रहे। समाधिमरण आदि विशेष कारणों से अधिक दिन भी ठहर सक्ता है। एक स्थानपर न रहने और विचरते रहने से रागद्वेष नहीं बढ़ता और जगह २ के भव्यजीवों का उपकार होता है ॥ गमन करते समय जीवों के रहने के स्थान, जीवों की उत्पत्तिरूप योनिस्थान तथा जीवों के आश्रयस्थान जानकर यत्नाचारपूर्वक गमन करे, जिसमें जीवों को पीड़ा न हो। सूर्य के प्रकाश में नेत्रद्वारा भलीभांति देखताहुआ, ईर्यापथ शोधता हुआ गमन करे। न धीरे २ गमन करे, न शीघ्रता से। इधर-उधर न देखे। नीचे पृथ्वी अवलोकन करताहुआ चले। मनुष्य, पशु आदि जिस मार्ग पर चले हों, प्रातःकाल के पवन ने जिस मार्ग को स्पर्शन कियाहो, सूर्य-किरणों का संचार जिस मार्गमें हुआ हो, अंधेरा न हो, ऐसे प्रासुकमार्ग से दिन में गमन करे, रात्रि को गमन न करे।

मुनि इन कारणों से गमन करे । प्रसिद्ध सिद्धक्षेत्रों,

*किसी२ ग्रंथ में राधि-रुधिर चार अंगुलतक बहने पर अंतराय मानना कहा है ॥

जिनप्रतिमाओं की वंदना के लिये तथा गुरु, आचार्य वा तप में अधिक मुनियों की सेवा-वैयावृत्ति के निमित्त गमन करे॥ साधु अकेला गमन न करे, कम से कम एक मुनिका साथ अवश्य हो। एकल-विहारी (अकेला गमन करनेवाला) वोही मुनि होसक्ता है, जो वज्र-ऋषभ-नाराच, वज्र-नाराच अथवा नाराच संहनन का धारक हो। अंग-पूर्व तथा प्रायश्चित्तादि ग्रंथों का पाठी हो रिद्धि के प्रभावसे जिस के मल-मूत्र न होता हो। यदि इन गुणों करके रहित एकलविहारी होजाय, तो धर्म की निन्दा तथा हानि होती है॥

वासस्थान—मुनि, नगर से दूर वन विषें, पर्वत की गुफा, मसानभूमि, सूने घर, वृक्ष की कोटर आदि एकान्त-स्थानों में वास करे। विकार, उन्माद तथा चित्त में व्यग्रता उत्पन्न होने के कारणरूप स्त्री, नपुंसक, ग्राम्य-पशु आदि युक्त स्थानों को दूर ही तजे॥

चर्या के अयोग्य स्थान—जो क्षेत्र राजा रहित हो, जिस नगर, ग्राम विषें स्वामी न हो, जहां के लोग स्वेच्छाचारी हों, जहां राजा दुष्ट हो, जहां नगर-ग्राम-घर का स्वामी दुष्ट हो, ऐसे धर्म-नीतिरहित स्थान में मुनि विहार न करे॥

भ्रष्ट मुनियों की संगति न करे—भ्रष्टमुनि ५ प्रकार के होते हैं:—(१) पार्श्वस्थ—जिन्होंने वस्तिका, मठ, मकान बांध रक्खा हो, शरीर से ममत्व रखते हों, कुमार्गगामी हों, उपकरणों के एकत्र करने में उद्यमी हों, भावों की विशुद्धता रहित हों, संयमियों से दूर रहते हों, दुष्ट असंयमियों की संगति में रहते हों, इन्द्रिय-कषाय जीतने को असमर्थ हों। (२) कुशील—जिनका निंद्य स्वभाव हो। जो क्रोधी, व्रत, शील रहित हों। धर्म का अपयश तथा संघ का अपवाद करानेवाले हों, उत्तर-

गुण, मूलगुण रहित हों । (३) संशक्त-जो दुर्बुद्धि, असंयमियों के गुणों में आशक्त, आहार में अति लुब्ध हों, वैद्यक-ज्योतिष-यंत्र-मंत्र करते हों, राजादिक के सेवक हों । (४) अपगत वा अवसन्न-जो जिनवचन के ज्ञानरहित, आचार भ्रष्ट, संसार सुखों में आशक्त हों, ध्यानादि शुभोपयोग में आलसी हों ॥ (५) मृगचारी-जो स्वेच्छाचारी, गुरुकुल के त्यागी, जैनमार्ग को दूषण देनेवाले, आचार्य के उपदेशरहित, एकाकी भ्रमण करनेवाले, मृगसमान चरित्र धारने में धैर्यरहित तथा तपमार्ग से परान्मुख हों ॥

(नोट) ये पांचों दिगम्बर भेषधारी द्रव्यलिंगी, जिनलिंग से बाह्य, दर्शन-ज्ञान-चारित्ररहित होते हैं । ऐसे भेषधारी, भ्रष्टमुनि आजकल दिखाई नहीं देते, इनके स्थानापन्न वस्त्र-परिग्रहधारी, आरंभ के अत्यागी भट्टारकों की कई गद्दियां दक्षिण-पश्चिम प्रान्तों में अब भी पाईजाती हैं। कुछ काल पूर्व जैनियों में धर्मविद्या की हीनता के कारण यह मनो-कल्पित भेष सारे देश में प्रचलित और पूज्यनीय होगया था । भट्टारक लोग अपने को दिगम्बर गुरु मानते, मनाते और तदनुसार ही गृहस्थों से पुजवाते थे, मानों भोले-भाले जैनियों पर राज्यही करते थे और भावना के बहाने मनमाना द्रव्य उन से वसूल कर अपने दिन मजामौज और शौकीनी से काटते थे। अब कुछ काल से धर्मविद्या का प्रचार होने से इनकी मान्यता पूज्यता बहुत कम और अल्प क्षेत्र में ही रहगई है, क्योंकि सर्व-साधारण जैनीभाई शास्त्रों का अवलोकन करने के कारण सच्चे गुरु के लक्षणों-कर्तव्यों और इन शिथिलाचारी भट्टारकों के बनावटी भेष और धर्म-विरुद्ध क्रियाओं से परिचित होगये हैं । वे भलीभांति जानने लगे हैं कि ये भट्टारक, ब्रह्मचारी-गृहस्थाचार्यों से भी जघन्य हैं ।

अतएव जैनमत के देव-गुरु-धर्म के स्वरूप के भलीभांति जाननेवाले पुरुषों को योग्य है कि ऐसे धर्मविरुद्ध भेष एवं आचरण के धारक भेषियों को गुरु मानकर कदापि न पूजें, वंदें और सच्चे देव-गुरु-धर्म के उपासक बने रहें॥

मुनि के धर्मोपकरण॥

शौच का उपकरण कमंडल—यह काष्ठ का बनता और श्रावकों द्वारा मुनि को प्राप्त होता है। इसमें श्रावकों द्वारा प्राप्त उष्ण किया हुआ जल रहता है। मुनि इस जल से लघुशंका-दीर्घशंका सम्बन्धी अशुचिता मेंटते अथवा चांडालादि अ-स्पर्श-शूद्र से कदाचित् स्पर्श होजाय तो शास्त्रोक्त शुद्धि के निमित्त कमंडल से जल की धारा मस्तक पर इस तरह से डालते हैं जो मस्तक से पांव तक बहजाय। इस प्रकार शुद्धि-पूर्वक सामायिक, स्वाध्यायादि षट्कर्मों में प्रवर्तते हैं। यदि लौकिक शुचि न कीजाय, तो व्यवहार का लोप होजाय, लोकनिंद्य होय, अविनय होय, गृहस्थों के मन में उन से घृणा उत्पन्न होजाय। हां! यदि शरीर की स्वच्छता के लिये कमंडल के जल से स्नान कियाजाय, मैल उताराजाय या पीने में काम लायाजाय, तो वही कमंडल परिग्रहरूप असंयम का कारण होता है॥

ज्ञान का उपकरण, शास्त्र—साधु ध्यान से निवृत्त होने पर ज्ञान की वृद्धि तथा परिणामों की निर्मलता के लिये स्वाध्याय करते हैं। स्वाध्याय के लिये आवश्यकतानुसार श्रावकों द्वारा प्राप्त हुए एक, दो शास्त्र यत्नाचारपूर्वक अपने साथ रखते हैं। जब कोई शास्त्र पूर्ण होजाता है तो उसे वापिस कर देते या किसी मंदिर में विराजमान करदेते हैं। यदि यही

शास्त्र अपने महत्त्व बनाने को बहुत से एकत्र करके साथ में लिये फिरें, तो वेही परिग्रहरूप असंयम के कारण होते हैं ॥

दया का उपकरण, पिच्छिका—पिच्छिका मयूर के स्वाभाविक रीति से छोड़हुए पंखों से बनाई जाती है । मयूर के पंखों की पिच्छी बनाने से यह लाभ है कि इसमें सचित्त-अचित्त रज नहीं लगती, पसेव-जलादि प्रवेश नहीं करता, कोमल और कम वजन होती, इसका स्पर्श सुहावना लगता है। साधु, जीव-जन्तुओं की रक्षा निमित्त जमीन को पीछी से मार्जन करके उठते-बैठते तथा हरएक वस्तु को पीछी से मार्जन करके उठाते-रखते हैं। इसी प्रकार शरीर को भी पीछी से मार्जन करते हैं, संस्तर को शोधते हैं जिस से किसी जीवजंतु को बाधा न हो। यदि अपने शारीरिक आराम के लिये पीछी से पृथ्वी पर के कंकरादि झाड़कर सोवें, बैठें तो वही पीछी परिग्रह रूप असंयम की करनेवाली होती है ॥

(नोट) जो निकटभव्य सम्यग्ज्ञान द्वारा हेय-उपादेय को भलीभांति जान, महाव्रत धारण करके संवर-निर्जरा पूर्वक उसी पर्याय में मोक्ष प्राप्ति करना चाहते हैं। वे तीनगुप्ति, पंचसमिति, पंचाचार, दशधर्म, द्वादश तप पालतेहुए, बाईस परीषह सहन करतेहुए धर्मध्यान-शुक्लध्यानरूप आचरण भी करते हैं, क्योंकि विना साधन के साध्य की सिद्धि नहीं होती। यद्यपि तत्त्वाधिकार में इन सब बातों का वर्णन होचुका है, तथापि यहां मुनिधर्म का प्रकरण होने से त्रिगुप्ति-पंचाचार-द्वादशतप तथा ध्यान का पुनः विशद रूप से वर्णन कियाजाता है ॥

तीन गुप्ति ॥

जिस के द्वारा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र गोपिये अर्थात्

रक्षित कीजिये, सो गुप्ति कहाती है. जैसे कोटद्वारा नगर की रक्षा होती है, उसी प्रकार गुप्तिद्वारा मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम अथवा शुभाशुभ कर्मों से आत्मा की रक्षा कीजाती है। वे तीन हैं। यथा:—

(१) मनोगुप्ति—मन से रागद्वेषादि का परिहार करना॥

(२) वचनगुप्ति—असत् अभिप्राय से वचन की निवृत्ति-कर, मौनपूर्वक ध्यान–अध्ययन–आत्मचिंतवनादि करना॥

(३) कायगुप्ति—हिंसादि पापों की निवृत्तिपूर्वक कायोत्सर्ग धारण करना, कायसम्बन्धी चेष्टा की निवृत्ति करना॥

मुनिराज मन–वचन–काय का निरोध करके आत्मध्यान में ऐसे लवलीन रहते हैं, कि उनकी वीतराग स्थिरमुद्रा देखकर वन के मृगादि पशु, पाषाण या ठूंठ जानकर उनसे खाज खुजाते हैं। ऐसा होते हुए भी वे ध्यान में ऐसे निमग्न रहते हैं, कि उन्हें इसका कुछ भी भान नहीं होता॥

(नोट) इन तीनों में मनो–गुप्ति सब से श्रेष्ठ है, मन की स्थिरता होने से वचन–कायगुप्ति सहज में पलसक्ती है। इसी-कारण आचार्यों ने जहां तहां मन वश करने का उपदेश दिया है। अतएव आत्मकल्याण के इच्छुकों को आत्मस्वरूप तथा द्रव्यस्वरूप के चिंतवन में लगाकर क्रमशः मन को वश करने का अभ्यास करना योग्य है॥

अतीचार॥

मनोगुप्ति के अतीचार—रागादि सहित स्वाध्याय में प्रवृत्ति वा अंतरंग में अशुभ परिणामों का होना॥

वचनगुप्ति के अतीचार—राग तथा गर्व से मौन धारण करना॥

कायगुप्ति के अतीचार—असावधानतापूर्वक काय की क्रिया का त्याग करना, एक पांव से खड़ा होजाना तथा सचित्त भूमि में तिष्ठना ॥

पंचाचार ॥

सम्यग्दर्शनादि गुणों में प्रवृत्ति करना सो आचार कहाता है। वह पांच प्रकार का है। यथाः—

(१) दर्शनाचार—भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म आदि समस्त परद्रव्यों से भिन्न, शुद्ध चैतन्यरूप आत्मा ही उपादेय है, ऐसा श्रद्धान वा इस की उत्पत्ति के कारणभूत षट्द्रव्य, सप्त-तत्त्व अथवा सुगुरु, सुदेव, सुधर्म का श्रद्धान सो सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शनरूप प्रवृत्ति को दर्शनाचार कहते हैं ॥

(२) ज्ञानाचार—शुद्ध आत्मा को स्वसंवेदन भेदज्ञान द्वारा मिथ्यात्व-रागादि परभावों से भिन्न, उपाधिरहित जानना अथवा स्वपर-तत्त्वों को आगम तथा स्वानुभवकर निर्बाध जानना सो सम्यग्ज्ञान है। इस सम्यग्ज्ञान रूप प्रवृत्ति को ज्ञानाचार कहते हैं ॥

(३) चारित्राचार—उपाधिरहित शुद्धात्मा के स्वाभाविक सुखास्वाद में निश्चल चित्त करना अथवा हिंसादि पापों का अभाव करना सो सम्यग्चारित्र है। इस सम्यग्चारित्ररूप प्रवृत्ति को चारित्राचार कहते हैं ॥

(४) तपाचार—समस्त परद्रव्यों से इच्छा रोक प्रायश्चित्त, अनशनादिरूप प्रवर्तना, निजस्वरूप में प्रतापरूप रहना, सो तप है इस तपरूप आचरण को तपाचार कहते हैं ॥

(५) वीर्याचार—इन उपर्युक्त चार प्रकार के आचारों की रक्षा में शक्ति न छिपाना अथवा परीषहादि आनेपर भी इनसे नहीं चिगना, सो वीर्य है। इस वीर्यरूप प्रवृत्ति को वीर्याचार कहते हैं ॥

द्वादश तप ॥

जिससे इन्द्रियां प्रबल होकर मन को चंचल न करने पावें, उस प्रकार चारित्र के अनुकूल कायक्लेशादि तप साधन करना, तथा अविपाक निर्जरा के निमित्त अंतरंग में विषय-कषायों की निवृत्ति करना सो तप कहाता है। यह वाह्याभ्यन्तर दो प्रकार का है ॥ यथाः—

(१) वाह्य तप—जो काय-सल्लेखना के निमित्त इच्छा-निरोधपूर्वक नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं का साधन किया जाय और जो बाहिर से दूसरों को प्रत्यक्ष प्रतिभासित होवे। यह बाह्य तप छः भेदरूप है ॥ यथाः—(१) अनशन-आत्मा का इन्द्रिय-मन के विषय-वासनाओं से रहित होकर आत्मस्वरूप में वास करना सो उपवास कहाता है । भावार्थः-संयम की सिद्धि, राग के अभाव, कर्मों के नाश, ध्यान और स्वाध्याय में प्रवृत्ति के निमित्त इन्द्रियों का जीतना, इस लोक, परलोक सम्बन्धी विषयों की वांछा न करना, मन को आत्मस्वरूप अथवा शास्त्र-स्वाध्याय में लगाना, क्लेश उत्पन्न न हो उस प्रकार एक दिन की मर्यादारूप चार प्रकार आहार का त्याग करना सो अनशन तप है। (२) अवमोदर्य—कीर्ति, माया, कपट, मिष्टभोजन के लोभरहित अल्प-आहार लेना सो ऊनोदर तप है। भावार्थः—संयम की सिद्धि, निद्रा के अभाव, वात-पित्त-कफ के प्रकोप की प्रशान्ति, सन्तोष, सुख

से स्वाध्याय के निमित्त एक ग्रास ग्रहणकर शेष का त्याग करना सो उत्कृष्ट ऊनोदर और एक ग्रास का त्याग कर ३१ ग्रास पर्यंत आहार लेना सो मध्यम तथा जघन्य ऊनोदर है। (नोट) साधु के लिये उत्कृष्ट आहार ३२ ग्रास प्रमाण शास्त्रों में कहा है, और वह एक ग्रास एक हजार चांवल प्रमाण कहा है ॥ (३) व्रतपरिसंख्यान-भोजन की आशा-तृष्णा को निराश करने के लिये अटपटी मर्यादा लेना और कर्मयोग से संकल्प के माफिक प्राप्त होने पर आहार लेना सो व्रतपरिसंख्यान तप है। भावार्थः-भिक्षा के लिये अटपटी आखड़ी करके चित्त के संकल्प को रोकना सो व्रतपरिसंख्यान तप है। (४) रसपरित्याग-इन्द्रियों के दमन, दर्प की हानि, संयम के उपरोध निमित्त घृत-तैलादि छः रस अथवा खारा-खट्टा-मीठा, कड़ुवा, तीखा, कषायला, इन छहों रसों का वा एक दो आदि का त्याग करना सो रसपरित्याग तप है ॥ (५) विविक्त शय्यासन-ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, ध्यान की सिद्धि के लिये प्राणियों की पीड़ारहित शून्यागार, गिर, गुफा आदि एकान्तस्थान में शयन, आसन, ध्यान करना सो विविक्त शय्यासन तप है ॥ (६) कायक्लेश-जिस प्रकार चित्त में क्लेश-खेद न उपजे, उस प्रकार अपनी शक्ति के अनुसार साम्यभावपूर्वक प्रतिमायोग धार परीषह सहते हुए आत्मस्वरूप में लवलीन रहना सो कायक्लेश तप है। इस से सुख की अभिलाषा कृश होती, राग का अभाव होता, कष्ट सहने का अभ्यास होता, प्रभावना की वृद्धि होती है ॥

(२) अभ्यन्तर तप—जो कषायों की सल्लेखना अर्थात् मन को निग्रह करने के लिये क्रियाओंका साधन किया जाय और दूसरों की दृष्टि में न आवे। यह भी छः प्रकार का है। यथाः-(१) प्रायश्चित्त-प्रमादजनित दोषों को प्रतिक्रमणादि पाठ या तप-व्रतादि द्वारा दूर कर चारित्र शुद्ध करना सो प्राय-

श्चित्त तप है। इस से व्रतों की शुद्धता, परिणामों की निर्मलता, मानकषाय की मन्दता होती है। (२) विनय–दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचार में परिणामों की विशुद्धता करना सो विनय तप है। भावार्थ–सम्यक्दर्शन में शंकादि अतीचाररहित परिणाम करना सो दर्शनविनय है। ज्ञान में संशयादिरहित परिणाम करना तथा अष्टांगरूप अभ्यास करना सो ज्ञानविनय है। हिंसादि परिणाम रहित निरतीचार चारित्र पालने रूप परिणाम करना सो चारित्रविनय है। तप के भेदों को निर्दोष पालन रूप परिणाम करना सो तपविनय है। रत्नत्रय के धारक मुनियों के अनुकूल भक्ति तथा तीर्थादि का वंदनारूप आचरण करना सो उपचारविनय है। विनय तप से ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति तथा मान कषाय का अभाव होता है। (३) वैयावृत्त्य–जो मुनि, यति अशुभ कर्म के उदय तथा उपसर्ग से पीड़ित हों, उन का दुख, उपसर्ग पूजा–महिमा–लाभ की वांछारहित होकर दूर करना, हाथ–पांव दाबना, शरीर की सेवा करना तथा उपदेश वा उपकरण देना सो वैयावृत्त है। इस से गुणानुराग प्रगट होता तथा मान कषाय कृश होती है॥ (४) स्वाध्याय–ज्ञान भावना के लिये अथवा कर्मक्षयनिमित्त, आलस्यरहित होकर जैन–सिद्धान्तों का पढ़ना, अभ्यास करना, धर्मोपदेश देना, तत्त्व–निर्णय में प्रवृत्ति करना सो स्वाध्याय तप है। इस से बुद्धि स्फुरायमान होकर परिणाम उज्वल होते, संवेग होता, धर्म की वृद्धि होती है॥ (५) व्युत्सर्ग–अंतरंग तथा बाह्य परिग्रहों से त्यागरूप बुद्धि रखना अर्थात् शरीर संस्काररहित, रोगादि इलाजरहित, शरीर से निरपेक्ष, दुर्जनों के उपसर्ग में मध्यस्थ, देह से निर्ममत्व, स्वरूप में लीन रहना सो व्युत्सर्ग तप है। इस से निःपरिग्रहपना, निर्भयपणा प्रगट होकर मोह क्षीण होता है॥ (६) ध्यान–समस्त चिंताओं को

त्याग, मंद कषायरूप धर्मध्यान और अति मन्द कषायरूप वा कषायरहित शुक्लध्यान में प्रवृत्ति करना, सो ध्यान तप है॥ इस से मन वशीभूत होकर अनाकुलता की प्राप्ति एवं परमानन्द में मग्नता होती है॥

तप से लाभ— बाह्य तप के अभ्यास से शरीर नीरोग रहता, कदाचित् रोगादि कष्ट आ भी जाय तो चित्त चलायमान नहीं होता, सन्तोषवृत्ति रहती है। अंतरंग तप के प्रभाव से आत्मीक विचित्र २ शक्तियां प्रगट होतीं, अनेक ऋद्धियां उत्पन्न होतीं, देव, मनुष्य तिर्यंचादि वश होते, यहांतक कि कर्मों की अविपाक निर्जरा होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है॥

ध्यान॥

उपयोग (चित्तवृत्ति) को अन्य चिंताओं से रोककर एक ज्ञेय पर स्थिर करना ध्यान कहाता है। ध्यान का उत्कृष्टकाल उत्तम संहनन के धारक पुरुषों के अंतर्मुहूर्त कहा है अर्थात् वज्र-ऋषभ-नाराच, वज्र-नाराच, नाराच संहनन के धारक पुरुषों का अधिक से अधिक एक समय घट दो घड़ी तक (अंतर्मुहूर्त तक) एक ज्ञेय पर उपयोग स्थिर रहसक्ता है, पीछे दूसरे ज्ञेय पर ध्यान चला जाता है। इस प्रकार बदलता हुआ बहुत काल तक भी ध्यान होसक्ता है। यह ध्यान अप्रशस्त, प्रशस्त भेद से दो प्रकारका है॥

आर्त्त-रौद्र ये दो ध्यान अप्रशस्त हैं, इन का फल निकृष्ट है, ये संसारपरिभ्रमण के कारण नरक-तिर्यंच गति के दुखों के मूल हैं और अनादि काल से स्वयं ही संसारी जीवों के बन रहे हैं, इसलिये इन की वासना ऐसी दृढ़ होरही है कि रोकते २

भी उपयोग इन की तरफ़ चला जाता है। सम्यक्ज्ञानी पुरुष ही इन से चित्त को निवृत्त करसक्ते हैं ॥

धर्म-शुक्ल ये दो ध्यान प्रशस्त हैं, इन का फल उत्तम है, ये स्वर्ग-मोक्ष के सुख के मूल हैं, ये ध्यान जीवों के कभी भी नहीं हुए, यदि हुए होते तो फिर संसारभ्रमण न करना पड़ता, इस-लिये इन की वासना न होने से इन में चित्त का लगना सहज नहीं, किन्तु बहुत ही कठिन है। अतएव जिस-तिस प्रकार प्रयत्न करके इन ध्यानों का अभ्यास बढ़ाना चाहिये और तत्त्व चिंतवन-आत्मचिंतवन में चित्त थिर करना चाहिये ॥

यहां पर चारों ध्यानों के सोलहों भेदों का स्पष्ट रूप से वर्णन किया जाता है जिस से इन का स्वरूप भलीभांति जान कर अप्रशस्त ध्यानों से निवृत्ति और प्रशस्त ध्यानों में प्रवृत्ति हो ॥

आर्त्तध्यान ॥

दुःखमय परिणामों का होना सो आर्त्तध्यान है इसके चार भेद हैं। यथाः-(१) इष्टवियोगज आर्त्तध्यान-इष्ट-प्रिय स्त्री, पुत्र, धन, धान्य आदि तथा धर्मात्मा पुरुषों के वियोग से संक्लेश-रूप परिणाम होना। (२) अनिष्टसंयोगज आर्त्तध्यान-दुख-दाई अप्रिय स्त्री, पुत्र, भाई, पड़ोसी, पशु आदि तथा पापी-दुष्ट पुरुषों का संयोग होनेसे संक्लेशरूप परिणाम होना। (३) पीड़ा-चिंतवन आर्त्तध्यान-रोग के प्रकोप की पीड़ा से संक्लेशरूप परिणाम होना, वा रोग का अभाव चिंतवन करना। (४) निदानबंध आर्त्तध्यान-आगामी काल में विषय-भोगों की वांछारूप संक्लेश परिणाम होना ॥

ये आर्त्तध्यान संसार की परिपाटी से उत्पन्न और संसार के मूल कारण हैं. मुख्यतया तिर्यंचगति के लेजानेवाले हैं। पांचवें

गुणस्थान तक चारों और छट्टे में निदानबंध को छोड़ शेष तीन आर्त्तध्यान होते हैं। परन्तु सम्यक्त्व अवस्थामें मन्द होने से तिर्यंच गति के कारण नहीं होते ॥

रौद्रध्यान ॥

क्रूर (निर्दय) परिणामों का होना सो रौद्रध्यान है। यह चार प्रकार का है। यथाः-(१) हिंसानन्द-जीवों को अपने तथा पर के द्वारा वध-पीड़ित-ध्वंस-घात होते हुए हर्ष मानना वा पीड़ित करने-कराने का चिंतवन करना ॥ (२) मृषानंद आप असत्य झूठी कल्पनायें करके तथा दूसरों के द्वारा ऐसा होते हुए देख-जान कर आनन्द मानना वा असत्य भाषण करने- कराने का चिंतवन करना ॥ (३) चौर्यानन्द-चोरी करने-कराने का चिंतवन तथा दूसरों के द्वारा इन कार्यों के होते हुए आनन्द मानना ॥ (४) परिग्रहानन्द-क्रूर चित्त होकर बहुत आरंभ, बहुत परिग्रहरूप संकल्प वा चिंतवन करना वा अपने-पराये परिग्रह बढ़ने-बढ़ाने में आनंद मानना ॥

ये रौद्रध्यान नरक लेजानेवाले हैं। पंचम गुणस्थान तक होते हैं परंतु सम्यक्त्व अवस्था में मंद होनेसे नरक गति के कारण नहीं होते ॥

धर्मध्यान ॥

सातिशय पुण्यबंध का कारण, शुद्धोपयोग का उत्पादक शुभ परिणाम सो धर्मध्यान कहाता है। इसके मुख्य चार भेद हैं॥ यथाः-(१) आज्ञाविचय-इस धर्मध्यान में जैनसिद्धान्त में प्रसिद्ध वस्तु स्वरूप को, सर्वज्ञ भगवान् की आज्ञा की प्रधानता से यथासंभव परीक्षापूर्वक चिंतवन करना और सूक्ष्म-परमाणु

आदि, अंतरित-राम रावणादि, दूरवर्ती-मेरुपर्वतादि ऐसे छद्मस्थ के प्रत्यक्ष-अनुमानादि प्रमाणों के अगोचर पदार्थों को सर्वज्ञ वीतराग की आज्ञा प्रमाण ही सिद्ध मानकर तद्रूप चिंतवन करना (२) अपायविचय—कर्मों का नाश, मोक्ष की प्राप्ति किन उपायों से हो, इस प्रकार आस्रव-बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष आदि तत्त्वों का चिंतवन करना (३) विपाकविचय—द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के निमित्त से अष्ट कर्मों के विपाकद्वारा आत्मा की क्या २ सुखदुःखादिरूप अवस्था होती है उसका चिंतवन करना (४) संस्थानविचय—लोक तथा उसके ऊर्ध्व-मध्य-तिर्यक लोक सम्बन्धी विभागों तथा उसमें स्थित पदार्थों का, पंचपरमेष्ठी का, अपने आत्मा का चिंतवन करता हुआ, इन के स्वरूप में उपयोग थिर करना। इसके पिंडस्थ-पदस्थ-रूपस्थ-रूपातीत चार भेद हैं। जिनका विशेष वर्णन श्रीज्ञानार्णवजीसे जानना ॥

यद्यपि यह धर्मध्यान चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक अर्थात् अव्रती श्रावक से मुनियों तक होता है, तथापि श्रावक अवस्था में आर्त्त-रौद्र ध्यान के सद्भाव से धर्म-ध्यान पूर्ण विकाश को प्राप्त नहीं होता, इसलिये इसकी मुख्यता मुनियों के ही होती है, विशेषकर अप्रमत्त अवस्था में। इसका साक्षात् फल स्वर्ग और परंपराय शुद्धोपयोगपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति भी है ॥

शुक्लध्यान ॥

जो ध्यान, क्रियारहित, इन्द्रियों से अतीत, ध्यान की धारणा से रहित अर्थात् मैं ध्यान करूं या ध्यान कर रहाहूं, ऐसे विकल्परहित होता है। जिसमें चित्तवृत्ति अपने स्वरूप के सन्मुख होती है। इसके चार भेद हैं, तिनमें प्रथम पाया तीन शुभ संहननों में और शेष तीन पाये वज्र-ऋषभ-नाराच संहनन

में ही होते हैं आदि के दो भेद तो अंग-पूर्व के पाठी छद्मस्थों के तथा शेष दो केवलियों के होते हैं । ये चारों शुद्धोपयोग रूप हैं। (१) पृथक्त्व वितर्क वीचार-यह ध्यान श्रुत के आधार से (वितर्कसहित) होता है, मन-वचन-काय तीनों योगों में बदलता रहता है, अलग २ ध्येय भी श्रुतज्ञान के आश्रय बदलते रहते हैं, अर्थात् एक शब्द-गुण-पर्याय से दूसरे शब्द-गुण-पर्याय पर चला जाता है। इसके फल से मोहनीयकर्म शान्त होकर एकत्व-वितर्क अवीचार ध्यान की योग्यता होती है। यह आठवें गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है। (२) एकत्व वितर्क अवीचार-यह ध्यान भी श्रुत के आधार से होता है। तीनों योगों में से किसी एक योगद्वारा होता है। इसमें श्रुतज्ञान बदलता नहीं, अर्थात् एक द्रव्य, एक गुण या एक पर्याय का एक योगद्वारा चिंतवन होता है। इससे घाति-कर्मों का अभाव होकर अनन्त-ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य की प्राप्ति होती है, यह बारहवें गुणस्थान में होता है * । (३) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति-इसमें उपयोग की क्रिया नहीं है, क्योंकि क्षयोपशमज्ञान नहीं रहा। श्रुत के आश्रय की आवश्यकता नहीं रही, क्योंकि केवलज्ञान होगया। ध्यान का फल जो उपयोग की स्थिरता, सो भी होचुकी। यहां वचन-मनयोग और बादर-काययोग का निरोध होकर सूक्ष्म-काययोग का अवलम्बन होता, अन्तमें काययोग का भी अभाव हो जाता है॥ अतएव इस कार्य होने की अपेक्षा उपचाररूप से यहां सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति ध्यान कहा है; यह ध्यान तेरहवें गुणस्थान के अन्त में होता है। (४) व्युपरतक्रियानिवृत्ति-

---

* श्री क्षपणासारजीमें आठवेंसे बारहवें गुणस्थानके असंख्यात भागों तक प्रथम शुक्लध्यान और बारहवें के सिर्फ असंख्यातवें भाग में दूसरा शुक्लध्यान कहा है॥

इसमें श्वासोश्वास की भी क्रिया नहीं रहती, यह चौदहवें गुणस्थान में योगों के अभाव की अपेक्षा कहागया है॥

इस चतुर्थशुक्लध्यान के पूर्ण होतेही आत्मा चारों अघातिया कर्मों का अभाव करके ऊर्ध्वगमनस्वभाव के कारण एकही समयमें लोक के अग्रभाग अर्थात् अन्तमें जा सुस्थिर, सुप्रसिद्ध, सिद्ध, निकल-परमात्मा होजाता है। इस के एक २ गुणकी मुख्यता से परब्रह्म, परमेश्वर, मुक्तात्मा, स्वयंभू आदि अनन्त नाम हैं। यह मुक्तात्मा धर्मास्तिकाय के अभाव से लोकाकाश से आगे अलोकाकाश में नहीं जासक्ता। आकार इस शुद्धात्मा का चरम (अन्तिम) शरीर से किंचित् ऊन पुरुषाकार रहता है। इस निष्कर्म आत्मा के ज्ञानावरणी कर्म के अभाव से अनंतज्ञान और दर्शनावरणी के अभाव से अनंतदर्शन की प्राप्ति होती है, जिससे यह लोकालोक के चराचर पदार्थों को उनकी त्रिकालवर्ती अनन्त गुणपर्यायों सहित युगपत (एकही समय) जानता देखता है। अंतराय के अभाव से ऐसी अनंतवीर्य-शक्ति उत्पन्न होती है, जिस से निरखेदपने उन सर्व पदार्थों को देखता जानता है। मोहनीय कर्म के अभाव होने से क्षायिक-सम्यक्त्व होता, जिस से सर्वज्ञ होते हुए भी किसी में रागद्वेष उत्पन्न नहीं होता, जिस से समता (शांति) रूप अनंत सुख* की प्राप्ति होती है। आयुकर्म के अभाव से अवगाहन गुण उत्पन्न होता, जिस से इस मुक्तात्मा के अनंतकाल-स्थाईपने की शक्ति उत्पन्न होती है (नाटक समयसार-मोक्षाधिकार)। गोत्रकर्म के अभाव से अगुरु-लघुगुण उत्पन्न होता, जिससे सब शुद्धात्मा हलके-भारीपने रहित हो-

* श्रीक्षपणासारजी में मोहनीय कर्म के अभाव से क्षायिकसम्यक्त्व, वीर्यान्तराय के अभाव से अनंतवीर्य और शेषचारों अन्तराय और नव नोकषाय के अभाव से अनंत सुख होना कहा है।

जाते हैं। नामकर्म के अभाव से शरीर रहितपना अर्थात् सूक्ष्मत्व (अमूर्तित्व) गुणकी प्राप्ति होती, जिससे सिद्धात्मायें अपनी २ सत्ता कायम रखती हुई एक दूसरे में अवगाह पासक्ती हैं। वेदनीय कर्म के अभाव से अव्याबाध गुणकी प्राप्ति होती, जिससे इस कृतकृत्य आत्मा के किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं होती। इस प्रकार मुक्त जीव यद्यपि व्यवहारनय अपेक्षा अष्टकर्मों के अभाव से अष्टगुणमय कहाजाता है, तथापि निश्चयनय से एक शुद्ध-चैतन्यरस का पिंड है। यह संसारी, अशुद्ध आत्मा पुरुषार्थ करके इस प्रकार निष्कर्म, परमात्म, परमैश्वर्य अवस्था को प्राप्त हो, सदा स्वाभाविक-शान्तिरसपूर्ण, स्वाधीन-आनन्दमय रहता और सदा के लिये अजर-अमर होजाता है। फिर जन्म-मरण नहीं करता ॥

पुनः इसी को दूसरी तरह से ऐसा भी कहसक्ते हैं कि यह शुद्धात्मा सकल संयम (मुनिव्रत) के धारण करने के फलस्वरूप, निज-गुणों के अति विकाशरूप, पूर्ण-अहिंसकपने को प्राप्त हो जाता है। जिस अहिंसकपने का परिवार ८४ लाख उत्तरगुण हैं। इसी प्रकार पुद्गलसंयोग-जनित कुशीलभाव का अभाव होने से यह सिद्धात्मा निजस्वरूप-विहारी, महाशीलवान-ब्रह्मचारी होजाता है। जिस शीलगुण का परिवार १८ हजार उत्तरगुण हैं ॥

चौरासी लाख उत्तरगुणों के भंग ॥

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, तृष्णा ये पंच पाप। क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय। मन-वचन-कायकी दुष्टता तीन। मिथ्यादर्शन १। प्रमाद १। पैशून्य १। अज्ञान १। भय १। रति १। अरति १। जुगुप्सा १। इन्द्रियों का अनिग्रह १। इन

२१ दोषों का त्याग × अतीचार, अनाचार, अतिक्रम, व्यतिक्रम चार प्रकार से × पृथ्वी कायादि १० के परस्पर संयोगरूप १०० की हिंसा का त्याग × १० अब्रह्म के कारणों का त्याग × १० आलोचना के दोषों का त्याग × १० प्रायश्चित्त के भेदों करके । इसप्रकार २१×४×१००×१०×१०×१०=८४००००० उपर्युक्त प्रकार दोषों के अभाव से आत्मा में अहिंसा के चौरासी लाख उत्तरगुणों की प्राप्ति होती है ॥

अठारह हजार शील के भेद ॥

मन-वचन-काय ३ गुप्ति×कृत-कारित-अनुमोदना ३×आहार-भय-मैथुन-परिग्रह ४ संज्ञा विरति×पंचेन्द्रिय विरति ५× पृथ्वीकायादि १० प्राणसंयम ×उत्तम क्षमादि दश धर्मयुक्त । इसप्रकार ३×३×४×५×१०×१०=१८००० शील के भेद आत्मा में उत्पन्न होते हैं ॥

मुनिव्रत का सारांश (मोक्ष) ॥

मिथ्यादृष्टि जीवों के बहुधा अशुभ उपयोग रहता है, कदाचित् किसी के मन्द कषाय से शुभोपयोग भी हो तो सम्यक्त्व के विना, निरतिशय पुण्यबंध का कारण होता है, जो किंचित् सांसारिक(इन्द्रियजनित)सुख-सम्पदा का नाटक दिखाकर अन्त में फिर अधोगति का पात्र बनादेता है, ऐसा निरतिशय पुण्य मोक्षमार्ग के लिये सहकारी नहीं होता। हां! जिस जीवके काललब्धि की निकटता से तत्त्वविचार पूर्वक आत्मानुभव (सम्यक्त्व) होजाता है, उसी के सातिशय पुण्यबंध का कारण सच्चा शुभोपयोग होता है । इस सम्यक्त्वसहित शुभोपयोग के अभ्यन्तरही दही में मक्खन की नाँई शुद्धोपयोग की छटा झल-

कती है, ज्यों२ संयम बढ़ता जाता, त्यों२ उपयोग निर्मल होता जाता अर्थात् शुद्धोपयोग की मात्रा बढ़ती जाती है। यह शुद्धोपयोग का अंकुर चौथे गुणस्थान से शुभोपयोग की छाया में अव्यक्त बढ़ता हुआ, सातवें गुणस्थान में व्यक्त होजाता है। यहां पर अव्यक्त मन्द-कषायों के उदय से किंचित् मलिन होने पर भी यद्यपि इसे द्रव्यानुयोग की अपेक्षा शुद्धोपयोग कहा है, क्योंकि छद्मस्थ के अनुभवमें उस मलिनता का भान नहीं होता तथापि यथार्थ में दशवें गुणस्थान के अनंतर ही कषायों के उदय के सर्वथा अभाव होने से यथाख्यात चारित्ररूप सच्चा शुद्धोपयोग होता है ॥

यह स्पष्ट ही है कि अशुभोपयोग पापबंध का कारण, शुभोपयोग पुण्यबंध का कारण और शुद्धोपयोग बंधरहित (संवरपूर्वक) निर्जरा एवं मोक्ष का कारण है। इस शुद्धोपयोग की पूर्णता निर्ग्रंथ (साधु) पद धारण करने से ही होती है इसीलिये मुनिव्रत मोक्ष का असाधारण कारण है। जिसप्रकार श्रावक को १२ व्रत निर्दोष पालने से उस के पदस्थ के कर्तव्य की पूर्णता होती है। उसी प्रकार मुनि को पंच महाव्रत अथवा पंचाचार, पंच समिति, तीन गुप्ति रूप तेरह प्रकार चारित्र निर्दोष पालने से साधु पदस्थ के कर्तव्य की सिद्धि अर्थात् शुद्धोपयोग की उत्पत्ति होती है। इस तेरह प्रकार के चारित्र में से यथार्थ में ३ गुप्ति का पालन साधु का मुख्य कर्तव्य है, यह गुप्ति ही मोक्ष की दाता, मोक्षस्वरूप है। जबतक इसकी पूर्णता न हो, तबतक निष्कर्म अवस्था प्राप्त नहीं होती। इसप्रकार साधु का सकल संयम यथाख्यात चारित्र अर्थात् रत्नत्रय की पूर्णता को प्राप्त कराता है। यद्यपि अष्टकर्मों की नाशक रत्नत्रय की एकता, एकोदेश श्रावक के भी होती है। तथापि पूर्णता मुनि अवस्थामें ही होती है। यह रत्नत्रय की पूर्णता मोक्ष की कारण एवं मोक्षस्वरूप है, संसार

शरीरभ्रमण की नाशक है। जो जीव मोक्ष को प्राप्त हुए अथवा होवेंगे, वे सब इसी दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता से। यह ही आत्मा का स्वभाव है, यही तीन लोक पूज्य है, इसकी एकता विना कोटि यत्न करने पर भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। जितने कुछ क्रिया-आचरण हैं, वे सब इसी एक रत्नत्रय के सहकारी होने से धर्म कहलाते हैं। यह रत्नत्रय की एकताही अद्भुत रसायन है, जो जीव को अजर-अमर बना देती है। इस पूज्य रत्नत्रय की एकता को हमारा बार २ नमस्कार होहु और यह हमारे हृदय में सदा विकाशमान रहो॥

सदुपदेश॥

यह संसारी आत्मा अनादिकाल से अपने स्वरूप को भूल, पुद्गल को ही अपना स्वरूप मान बहिरात्मा होरहा है। जब काललब्धि तथा योग्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का संयोग पाकर इसे आपका तथा पर का भेद-विज्ञान होकर सम्यक्त्व (आत्मस्वभाव का दृढ़ विश्वास) की प्राप्ति होती है, तब वह अंतरात्मा होकर परपदार्थोंसे उपयोग हटाकर निजात्मस्वरूप में स्थित होने की उत्कट इच्छारूप स्वरूपाचरण-चारित्र का आरंभी तथा स्वात्मानुभवी होजाता है। पश्चात् बारह व्रतरूप देशचारित्र अंगीकार कर एकोदेश आरंभ-परिग्रह का त्यागी अणुव्रती होता है। जिस के फलसे इसका उपयोग अपने स्वरूप में किंचित् स्थिर होने लगता है। पुनः मुनिव्रत धार, अट्ठाईस मूलगुणरूप सकल-संयम पालनेसे सर्वथा आरंभ-परिग्रह का त्यागी होजाता है। जिससे आत्मा का उपयोग पूर्णरूप से निजस्वरूप ही में लीन होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतापूर्वक ध्यान-ध्याता-ध्येय, ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय के भेदरहित होजाता है।

यही स्वरूपाचरण चारित्र की पूर्णता है । आत्मा इसी अद्भुत रसायन के बल से निर्बंध अवस्था को प्राप्त होकर उस वचनातीत-आत्मिक-स्वाधीन सुख को प्राप्त करता है, जो इंद्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती को भी दुर्लभ है। क्योंकि इन इन्द्रादिकों का सुख लोक में सर्वोपरि प्रसिद्ध होतेहुए भी आकुलतामय, परमिति तथा पराधीन है और सिद्ध अवस्था का सुख निराकुलित, स्वाधीन तथा अनंतकाल स्थाई है । धन्य हैं वे महन्त पुरुष! जिन्होंने इस मनुष्य पर्याय को पाकर अनादि जन्म-मरण रोग का नाश कर सदा के लिये अजर-अमर-अनंत-अविनाशी आत्मीक लक्ष्मी को प्राप्त किया। ऐसे संपूर्ण जगत के शिरोमणि सिद्ध परमेष्ठी जयवंत होवो! भक्तजनों के हृदय-कमल में निवास कर उन्हें पवित्र करो! जगत के जीवों को कल्याण दाता होहु ॥

हे मोक्षसुख के इच्छक, संसारभ्रमण से भयभीत सज्जन भ्राताओ! इस सुअवसर को हाथ से न खोओ, सांसारिक राग-द्वेष रूप अग्नि से तप्तायमान इस आत्माको समता (शांति) रसरूपी अमृत से सिंचन कर अजर अमर बनाओ, यही सच्चा पुरुषार्थ, यही मुख्य प्रयोजन, यही सर्वोत्कृष्ट इष्ट (हित) है ॥

प्रशस्ति ॥

पावन भारतवर्ष के, मध्यप्रदेश मझार ॥
सागर-नागर-जन-बहुल, जिला लसत सुखकार ॥ १ ॥
ता महँ सरित सुनार के, तीर मनोहर ग्राम ॥
हृदयनगर * राजत जहां, जिनमन्दिर अभिराम ॥ २ ॥

*नदी के दाहिनेतट हृदयनगर और बांये तट गढ़ाकोटा है। आजकल इसका प्रसिद्ध नाम गढ़ाकोटा है ॥

विविध धर्म कुल जातिके, निवसत जनसमुदाय ॥
जैनीजन राजें अधिक, सब विधि साता पाय ॥ ३ ॥
वसैं तहां परवार-वर, सोधिया प्यारेलाल ॥
रक्रिया मूर प्रसिद्ध जिहि, बांझल गोत विशाल ॥ ४ ॥
तीन पुत्र तिनकें भये, पहिले नाथूराम ॥
दूजौ मैं दरयावसिंह, मूलचन्द लघुनाम ॥ ५ ॥
धर्म-कर्म संयोग से, कर कछु विद्याभ्यास ॥
अध्यापक की जीविका, पाई शान्ति निवास ॥ ६ ॥
ब्रटिश (अंग्रेजी) राज्य में इकादश, वर्ष कियौ यह काम ॥
किन्तु न पायौ धर्म कौ, मर्म शर्म सुखधाम ॥ ७ ॥
पूर्व पुण्य के उदय वश, आ पहुंचौ रतलाम ॥
राजकीय अध्यापकी, पाई उन्नति धाम ॥ ८ ॥
यहां मिली संगति सुखद, साधर्मिन की शुद्ध ॥
धर्म सम्पदा पायकर, नितप्रति भयौ प्रबुद्ध ॥ ९ ॥
पूरव भव के मित्रमम, हीराचन्द गँगवाल ॥
तिन के प्रेम प्रसाद से, पायौ धर्म रसाल ॥ १० ॥
पण्डित बापूलालजी, धर्म-तत्त्व मर्मज्ञ ॥
ज्ञान दान अनमोल तिन, दियौ कियौ वृष-विज्ञ ॥ ११ ॥
संस्कारवश पूर्व के, भयौ अटल विश्वास ॥
निज स्वरूप समुझन लगौ, कटी अविद्या फांस ॥ १२ ॥
एकाएकी देश में, प्रगटौ रोग महान ॥
उठौ उपद्रव प्लेग कौ, अतिशय प्रलय समान ॥ १३ ॥
इसी रोग में ग्रसित है, युगल तनय सुकुमार ॥
निज माता युत तजौ तन, नेक न लागी वार ॥ १४ ॥
नैनन देखौ जगत कौ, अतिशय अथिर स्वभाव ॥
मोह घटौ प्रगटौ विशद, निज सुधारकौ चाव ॥ १५ ॥

तबहि ज्येष्ठ सुत भ्रात कों, सौंप भयौ निरद्वंद ॥
तृष्णा तजि भगवत् भजन, करन लगौ सानन्द ॥ १६ ॥
गोत्र-काशलीवाल मणि, हुकमचन्दजी श्रेष्ठि ॥
इन्द्रपुरी (इन्दौर) नगरी बसैं, दानवीर धर्मिष्ठ ॥ १७ ॥
धर्म प्रेमवश तिन कही, रहौ हमारे पास ॥
नाश दासता फांस को, करौ स्वधर्म विकाश ॥ १८ ॥
महदाश्रय को पायकरि, भयौ अमित आनन्द ॥
धर्म कर्म साधन लगौ, सब प्रकार स्वच्छन्द ॥ १९ ॥
श्रावकधर्म स्वरूप के, समुझन हेतु अनेक ॥
आर्षग्रंथ देखन लगौ, निशदिन सहित विवेक ॥ २० ॥
जो कछु समुझ्यौ अरु गुन्यौ, सुन्यौ सुबुद्धिन पास ॥
ता कौ यह संग्रह भयौ ग्रंथ स्वरूप प्रकाश ॥ २१ ॥
श्रावक बुद्धूलालजी, कीन्ही बहुत सहाय ॥
बार २ लिख शोधियौ, दे सम्मति सुखदाय ॥ २२ ॥
भये सहायक मित्र मम, गोधा पन्नालाल ॥
खूबचन्दजी ठोलिया, अरु परसादीलाल ॥ २३ ॥
इन सब मित्रों ने कियौ संशोधन अविरुद्ध ॥
यथासाध्य दूषण रहित, कीन्हों याहि विशुद्ध ॥ २४ ॥
संवत्सर उन्नीस सौ, सत्तर अधिक प्रमाण ॥
ज्येष्ठ शुक्ल श्रुतपंचमी, भयौ ग्रंथ अवसान ॥ २५ ॥
शशि-रवि कौ जबलों रहै, जग में सुखद प्रकाश ॥
तब लौं यह रचना रहै, करै सुधर्म विकाश ॥ २६ ॥

इति शुभम्भूयात् ।